तिरुवल्लुवर एवं कबीर
का
तुलनात्मक अध्ययन

नेशनल पब्लिशिंग हाउस

दिल्ली विश्वविद्यालय की पी-एच० डी०
उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

तिरुवल्लुवर एवं कबीर का तुलनात्मक अध्ययन

डॉ॰ रवीन्द्रकुमार सेठ

O 31, 1 D 2 0 c O 152, 1 H 98
L 2

894 811

मूल्य — तीस रुपये
प्रथम संस्करण — १९७२
आवरण — नारायण
प्रकाशक — नेशनल पब्लिशिंग हाउस
२३, दरियागंज, दिल्ली-६
मुद्रक — राष्ट्रभाषा प्रिंटर्स, दिल्ली-६

TIRUVALLUVAR AVAM KABIR KA TULANATMAK ADHYAYAN (*Thesis*)
by DR RAVINDER KUMAR SETH — Rs 30·00

भारतीय संस्कृति की जीवन्त प्रतिमूर्त्ति

डॉ० गोपाल स्वरूप पाठक

(भारत के उपराष्ट्रपति, कुलाधिपति,
दिल्ली विश्वविद्यालय)

को सविनय, सादर.

अभिमत

श्री तिरुवल्लुवर और कबीर भारत की दो प्रमुख भाषाओं के विश्रुत कवि और मेधावी विचारक हैं। इन दोनो मनीषी कवियो के रचनाकाल मे लगभग पन्द्रह सौ वर्ष का अन्तर है किन्तु यह एक सुखद आश्चर्य है कि दोनो के जीवन-दर्शन और चिन्तन मे अत्यधिक समता है। दक्षिण और उत्तर के दो सुदूर सीमान्तो मे उत्पन्न ये दो महापुरुष समाज को दिशाबोध और व्यक्ति को अभ्युदय एव निश्रेयस का मार्ग बताने मे आजीवन सलग्न रहे।

तिरुवल्लुवर और कबीर के व्यक्तित्व एव कृतित्व मे विस्मयजनक समता होते हुए भी किसी विद्वान् का ध्यान इनके कृतित्व के तुलनात्मक अध्ययन की ओर नही गया। डा० रवीन्द्रकुमार सेठ ने तमिल भाषा का अध्ययन करने के उपरान्त इस दिशा मे प्रयत्न किया और दोनो कवियो के धर्म, दर्शन, काम, अर्थ, आदि विषयो पर गवेषणात्मक दृष्टि से उच्च स्तरीय ग्रथ का प्रणयन किया है। इस शोध-ग्रथ मे तिरुवल्लुवर और कबीर के विचार-दर्शन का केवल साम्य-वैषम्य ही उद्घाटित नही हुआ है वरन् दोनो के प्रदेय का भी आकलन किया गया है। मेरी जानकारी मे इन दोनो कवियो के कृतित्व पर हिन्दी मे अभी तक कोई ग्रथ नही था। डा० सेठ ने साहित्य के स्तर पर भावात्मक एकता की सुदीर्घ परम्परा का सधान किया है। निस्सन्देह यह स्वस्थ दृष्टि का प्रमाण है। मैं इस कार्य के लिए डा० सेठ को साधुवाद देता हू और आशा करता हू कि वे भविष्य मे तमिल-हिन्दी के उच्चकोटि के विचारको की कृतियो पर इसी प्रकार अनुसधानपरक दृष्टि से कार्य करते रहेगे।

विजयेन्द्र स्नातक

आचार्य एव अध्यक्ष हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

प्राक्कथन

'सुधा से भी सुमधुर' तमिल भाषा के कविवर तिरुवल्लुवर द्वारा लगभग दो सहस्र वर्ष पूर्व रचित 'तिरुक्कुरल' वस्तुत भारतीय साहित्य का भव्य भूषण है। इस ग्रथ मे धर्म, अर्थ एव काम की ऐसी सूक्ष्मातिसूक्ष्म समीक्षा की गई है जो स्थान एव समय की परिधि को पार करके सर्वकालीन एव सार्वलौकिक श्रेष्ठ आदर्श स्थापित करती है। इसमे उल्लिखित सदेश किसी भी धर्मावलम्बी के लिए मान्य है। कदाचित् विश्व-साहित्य के नीति-ग्रथो मे 'तिरुक्कुरल' का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। इसकी प्रशसा प्राच्य एव पाश्चात्य विद्वानो ने मुक्त-कठ से की है। अभी तक विभिन्न भाषाओ मे इसके पचास से भी अधिक अनुवाद हो चुके है जिनमे सस्कृत, हिन्दी, बगाली, बघेली, मराठी, उर्दू, तेलुगु, कन्नड, मलयालम आदि भारतीय भाषाओ के अतिरिक्त लैटिन, जर्मन, फ्रेंच, सिंहली, पोलिश, बर्मी आदि विदेशी भाषाए प्रमुख है। अग्रेजी मे तो इसके २० से भी अधिक अनुवाद प्राप्य हैं।

हिन्दी साहित्य के विशाल इतिहास की ओर दृष्टि डाले तो तिरुवल्लुवर के व्यक्तित्व एव कृतित्व के साथ मेल खानेवाले एक मात्र कविवर पन्द्रहवी शताब्दी के कबीरदास ही प्रतीत होते हैं—इसलिए नही कि दोनो जुलाहे थे, परन्तु इसलिए कि दोनो का जीवन-दर्शन सनातन सामान्य मानव-मात्र के परिप्रेक्ष्य मे निबद्ध था। राम-रहीम को एक मानने वाले कबीर विशुद्ध ज्ञान के रूप मे ही 'आदि-भगवन' को परखनेवाले तिरुवल्लुवर के समान ही समन्वयवादी थे। यदि तिरुवल्लुवर शैव, वैष्णव, जैन, बौद्ध धर्मों मे समान रूप से उपस्थित 'विजयिनी मानवता' की व्याख्या करने मे सफल हुए तो कबीर हिन्दू मुस्लिम एकता को प्रतिपादित करने मे। यदि यह पूछा जाए कि तमिल और हिन्दी के ऐसे कौन कवि-द्वै भारत के विकास के लिए आज के युग मे समान रूप से उपयोगी सिद्ध होगे तो अविलम्ब एव निस्सकोच कहा जा सकता है कि वे तमिल के सत् कवि तिरुवल्लुवर और हिन्दी के सत कवि कबीरदास ही हैं।

यद्यपि तमिल और हिन्दी दो बिलकुल भिन्न भाषा-कुलो, अर्थात् क्रमश द्राविडी एव भारतीय-आर्य कुल, की भाषाए है, तथापि तिरुवल्लुवर एव कबीर के साहित्य एव उनमे निहित विचारो के आधार पर स्पष्टत कहा जा सकता है कि दोनो के माध्यम भिन्न होने पर भी मानस एक जैसे ही हैं। तिरुवल्लुवर एव कबीर भारतीय भावात्मक एकता को प्रतिपादित करते है। इस एकता को जब हम उनके द्वारा कथित

धर्म, अर्थ एवं काम की प्राप्ति मे देखते हैं तो मोक्ष के संबध मे पृथक् रूप से अभिव्यक्ति करने की कोई आवश्यकता ही नही रह जाती, क्योंकि यदि प्रथम तीन पुरुषार्थों का पालन उनके कहे अनुसार कोई युक्तियुक्त रीति से करे तो चतुर्थ की प्राप्ति उसे स्वत सिद्ध होगी ही, जो निर्विवाद है।

यह बडे हर्ष का विषय है कि प्रस्तुत ग्रथ मे तिरुवल्लुवर एव कबीरदास के व्यक्तित्व एव कृतित्व का तुलनात्मक अध्ययन दोनो कवियों मे समान रूप से रुचि रखने वाले सहृदय विद्वान् डा० रवीन्द्रकुमार सेठ के हाथो अनुप्राणित हुआ है जिन्होने उत्तर और दक्षिण मे दीर्घकाल तक रह कर दोनो कवियो का निकट से अध्ययन किया है। उनसे मैंने सुना है कि हिन्दी भू-भाग ने जितना उनको मोहित किया है उतना ही तमिल भू-भाग ने भी। मद्रास विश्वविद्यालय के भूतपूर्व उपकुलपति श्रद्धेय डा० सर ए० लक्ष्मणस्वामी मुदलियार ने मेरे तिरुक्कुरल के हिन्दी अनुवाद का प्राक्कथन प्रदान करते हुए कहा है—

It is unfortunate that, while the treasures of the ancient Tamil classics are better known and better appreciated by scholars in western lands, very little attention has been paid to such works by scholars in other parts of India

अर्थात् 'यह दुर्भाग्य की बात है कि जब पाश्चात्य देशो के महान् विद्वानो को प्राचीन तमिल साहित्य भडार के अमूल्य काव्य-ग्रन्थो का अधिक परिचय प्राप्त है और वे इनका सम्मान करते हैं, भारत के अन्य भागो के मान्य विद्वानो का ध्यान ऐसे ग्रन्थो की ओर बहुत कम गया है।'

डा० रवीन्द्रकुमार सेठ द्वारा प्रस्तुत यह शोध-प्रबन्ध जो उनकी पी-एच० डी० उपाधि की थीसिस है, सफलता के साथ यह सिद्ध कर रहा है कि भाग्य के सूर्य का उदय हो गया है और हिन्दी के मान्य विद्वानो का ध्यान तिरुक्कुरल जैसे ग्रन्थ की ओर आकृष्ट होने लगा है। डा० रवीन्द्रकुमार ने मद्रास मे ही नही मदुरै, तजावूर, अन्नामलयनगर, कांचीपुरम् आदि अनेक तमिल नगरो मे जाकर तिरुक्कुरल का अनुवादो के आधार पर गम्भीर अध्ययन एव विद्वानो व ग्रन्थो की सहायता से तिरुवल्लुवर एव कबीर पर अनुसधान किया है। प्रस्तुत शोध-ग्रथ मे दोनो साधु-कवियो की जीवनी, दोनो द्वारा प्रतिपादित धर्म, अर्थ एव काम तथा दोनो के सामाजिक सिद्धान्तो का पुखानुपुख रूप से तुलनात्मक विवेचन हुआ है।

तिरुवल्लुवर और कबीर को निकट लाकर डा० रवीन्द्रकुमार सेठ ने वस्तुत दक्षिणोत्तर समन्वय की स्थापना की है जिसके लिए वे तथा उनके मार्ग दर्शक डा० ओम्प्रकाश (रीडर, हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय) तथा डा० आरुमुहम (रीडर, तमिल विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय) भी धन्यवाद एव बधाई के पात्र हैं।

मैं इस ग्रथ-रत्न का स्वागत करता हूँ और शोधार्थी डा० रवीन्द्रसेठ को साधुवाद समर्पित करता हूँ। मुझे आशा एव विश्वास है कि यह ग्रथ हिन्दी के सभी मान्य एव सहृदय विद्वानो द्वारा सम्मानित होगा और अनेक अनुसधित्सु इससे प्रेरणा प्राप्त करेंगे।

मेरा डा० रवीन्द्रकुमार सेठ से सस्नेह अनुरोध है कि इस प्रकार के और भी दो-चार ग्रंथ वे प्रस्तुत करे जिससे दक्षिणोत्तर समन्वय और सुदृढ हो तथा हिन्दी भाषा-

भाषी तमिल के गौरव को ठीक प्रकार से पहचान सकें। 'आदि-भगवन ज्ञानेश्वर' से प्रार्थना है कि डा० रवीन्द्र दीर्घायु हों और उनका भविष्य स्वस्थ एवं सानन्द व्यतीत हो। उनको मेरी हार्दिक शुभकामनाएं।

शंकर राजू

आचार्य एव अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग,
मद्रास विश्वविद्यालय
मद्रास-५
एव भूतपूर्व सभापति, तमिल-लेखक संघ, मद्रास

उपक्रम

भारतीय विचारधारा मूलत एक सूत्र मे आबद्ध है। सम्पूर्ण देश इस परम्परा से अनुप्राणित हुआ है। इस देश के धर्म, दर्शन, विचार, आचार, व्यवहार सभी ने इस परम्परा से विकास प्राप्त किया है। अक्षुण्ण रूप से निरन्तर विकासमान इस परम्परा की अन्तर्निहित शक्ति के प्रभावस्वरूप परस्पर विरोधी भावधाराए इसमे समाहित हुईं परन्तु इसका अपना रूप आच्छादित नही हुआ, अपितु इसमे निरन्तर निखार ही आया है। इस महान परम्परा के अन्तर्गत तमिल साहित्य के कवि तिरुवल्लुवर का विशिष्ट स्थान है। उनके ग्रथ 'तिरुक्कुरल' को तमिल साहित्य मे वही स्थान प्राप्त है जो सस्कृत-साहित्य मे वैदिक वाङ्मय अथवा भगवद्गीता को प्राप्त है। अपने मूल रूप मे उपलब्ध यह ग्रथ सम्पूर्ण तमिल प्रदेश में युगो से समादृत है।

हिन्दी निर्गुण-भक्त-कवि कबीर और तिरुवल्लुवर के व्यक्तित्व एव कृतित्व मे अद्भुत भाव साम्य दृष्टिगत होता है। भिन्नत्व मे निहित यह अभिन्नत्व ही इनके तुलनात्मक अध्ययन की प्रेरणा का आधार बना। 'तिरुक्कुरल' के तीन खण्ड है—(क) अरम् (धर्म), (ख) पोरुल् (अर्थ), (ग) इनबम् (काम)। सस्कृत, हिन्दी, मराठी, गुजराती, बगला, मलयालम, उर्दू, अग्रेजी, बर्मी, मलय, फ्रेंच, जर्मन इत्यादि अनेक भाषाओ मे इस ग्रन्थ का अनुवाद हो चुका है। हिन्दी मे इसके चार अनुवाद हुए है, फिर भी तुलनात्मक अध्ययन के अभाव मे न तो हिन्दी के विद्वान् तिरुवल्लुवर और उनकी रचना से परिचित हो सके और न सत कबीर की पुरानी परम्परा का भारत की सबसे प्राचीन आधुनिक भाषा तमिल मे अनुसधान हो सका। इस दृष्टि से मद्रास और दिल्ली विश्वविद्यालयो ने कुछ सराहनीय प्रयास किए हैं, प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध उसी परम्परा का एक परिणाम है। भाषा, काल एव भौगोलिक वैविध्य के रहते हुए भी इन दोनो कवियो की रचनाओ के मूल मे भावनात्मक-एकता को उद्घाटित कर सास्कृतिक आत्मा की एकता का प्रतिपादन इस अध्ययन का प्रमुख लक्ष्य है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध मे तिरुवल्लुवर और कबीर के काव्य का भारतीय परम्परा के परिप्रेक्ष्य मे तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। कवियो की जाति, उनकी रचनाए, काव्य-सौन्दर्य इत्यादि के विषय मे अध्ययन प्रमुख लक्ष्य नही रहा, अपितु भाव-साम्य, काव्य मे निहित सदेश एव सामाजिक अभिव्यक्ति की दृष्टि ही प्रमुख रही है। 'तिरुक्कुरल' मे पाठ-भेद की समस्या प्राय नही है, अत डा० सु० शकरराजू नायुडू द्वारा अनूदित 'तिरुक्कुरल' मे दिया गया तमिल अश मूलपाठ के रूप मे ग्रहण किया गया है। कबीर-काव्य के अध्ययन के लिए सामान्यत डा० श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित कबीर-ग्रथावली (आठवा सस्करण, सवत् २०१८) को ग्रहण किया गया है। स्थान-स्थान पर डा० पारसनाथ तिवारी द्वारा सम्पादित 'कबीर-ग्रथावली' का भी उपयोग किया गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध छह अध्यायो मे विभक्त है। विषय की सीमा मे रहते हुए प्रबन्ध की व्यवस्था एव प्रस्तुतीकरण इस प्रकार किया गया है—

प्रथम अध्याय मे तिरुवल्लुवर एव कबीर के व्यक्तित्व एव कृतित्व का सक्षिप्त परिचय है। हिन्दी मे कबीर की जीवनी एव तिथियो के विषय मे पर्याप्त कार्य हुआ है पर तिरुवल्लुवर

का समय अभी भी अनिर्णीत एव विवादास्पद है। विभिन्न साक्ष्यों का संक्षिप्त विवेचन कर काल-निर्धारण करने का सम्यक् प्रयास किया गया है। तिरुवल्लुवर के रचनाकाल, तमिल-साहित्य के विकास में स्थान-निर्धारण एव 'तिरुक्कुरल' पर हुए अनुवाद-कार्यों का उल्लेख कर ग्रथ के वर्ण्य-विषय अरम् (धर्म), अर्थ (पोरुल्) एव काम (इनबम्) का परिचय है। इसके पश्चात कबीर के जीवनवृत्त एव व्यक्तित्व का उपलब्ध सामग्री के आधार पर विवेचन है।

द्वितीय अध्याय मे दो खण्ड हैं—'क' खण्ड मे तिरुवल्लुवर एव कबीर की धर्म (अरम्) विषयक मान्यताओ का अध्ययन है। इस खण्ड के दो उपविभाग हैं—प्रथम उपविभाग मे धर्म की व्युत्पत्ति, धर्म के आधार, धर्म-विषयक मान्यताओ का विकास एव धर्म का स्वरूप-विवेचन है। इसके अन्तर्गत धर्म का नीति से सम्बन्ध अध्ययन का विषय बना है। तदनन्तर वेद, उपनिषद्, धर्मसूत्र, स्मृतिग्रन्थ, वाल्मीकि रामायण, महाभारत, पुराण इत्यादि में धर्म विषयक मान्यताओ का अनुशीलन किया गया है। द्वितीय उपविभाग मे तिरुवल्लुवर और कबीर के अनुसार धर्म का महत्त्व, धर्म और प्रवृत्ति मार्ग, धर्म और निवृत्ति मार्ग तथा धर्म और प्रेम-भाव का अध्ययन हुआ है। धर्म के व्यक्तिपरक रूप के अन्तर्गत मन (आत्म-सयम, इन्द्रिय निग्रह, तृष्णा त्याग), वचन (सत्यभाषण, मधुर भाषण, मितभाषण) और कर्म (अहिंसा, सदाचार, मासाहार-निषेध) का दोनो कवियो के आधार पर अध्ययन करने के पश्चात धर्म के समाजगत रूप (लोकाचार) का भी अपरिग्रह, पर-निंदा-त्याग, अक्रोध, परस्त्री-वर्जन, बाह्याडम्बर-विरोध इत्यादि शीर्षकों के अन्तर्गत विवेचन किया गया है। अध्याय के अन्त मे तुलनात्मक अध्ययन के निष्कर्ष प्रस्तुत किए गए हैं।

'ख' खण्ड में दोनो कवियो के दर्शन-सम्बन्धी विचारो का अध्ययन, तत्त्वज्ञान, ईश्वर, जगत् एव उसकी नश्वरता, कर्म सिद्धान्त आदि शीर्षको के अन्तर्गत किया गया है।

तृतीय अध्याय मे अर्थ (पोरुल्) का अध्ययन है। इसके दो उपविभाग है। प्रथम उपविभाग मे 'अर्थ' शब्द और उसकी व्याप्ति का विवेचन है और धर्म से उसके सम्बन्ध का अध्ययन है। इस सम्बन्ध मे अर्थ-विषयक मान्यताओ का विकास स्पष्ट किया गया है। द्वितीय उपविभाग अध्ययन की सुविधा के लिए निम्नलिखित रूप मे विभक्त किया गया है—

(क) प्रशासन अथवा अधिकारी-वर्ग—राजा, सामन्त, दुर्ग, सैन्य, खाद्य, राजदूत, गुप्तचर, मित्र एव इनसे सम्बद्ध विषय।

(ख) प्रजा अथवा सामान्य समाज सम्बन्धी विवेचन के अन्तर्गत सम्मान, महानता, शिष्टाचार इत्यादि गुणो के अतिरिक्त सामान्य व्यक्ति के लिए विधि-निषेध का मार्ग स्पष्ट करने के लिए विभिन्न विषयो का विवेचन किया गया है। 'अर्थ' सम्बन्धी सामग्री कबीर के साहित्य मे प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनो ही रूपो मे जितनी उपलब्ध है उस समस्त के आधार पर दोनो कवियो की मान्यताओ की तुलना की गई है।

चतुर्थ अध्याय मे तिरुवल्लुवर एव कबीर के काम (इनबम्) विषयक विचारो का तुलनात्मक अध्ययन है। भारतीय परम्परा मे 'काम' का विकास, धर्म-आधृत काम की स्वीकृति, काम एव मनोविज्ञान, वेद, उपनिषद्, महाभारत एव पुराणो मे काम, कामसूत्र मे काम इत्यादि का उल्लेख कर 'काम' के व्यापक धरातल का स्पष्टीकरण हुआ है। 'काम' के लौकिक एवं आध्यात्मिक पक्ष को स्पष्ट कर सस्कृत-हिन्दी और तमिल साहित्य की शृगार-वर्णन पद्धति मे अन्तर का उल्लेख है। इसके उपरान्त तोलकाप्पियम् मे वर्णित 'अहम्' और 'पुरम्' का विवेचन हुआ है। इस सदर्भ मे 'अहम्' के अन्तर्गत प्रेम के रूप (तिनै) तथा तमिल साहित्य का तद्विष-

यक परम्परागत-विभाजन वर्णन का विषय बना है। प्रेम-सम्बन्धों का विभाजन, विवाहपूर्व प्रेम (कलवु, पूर्वराग) विवाह-सम्बन्ध स्थापित होने के उपरान्त का प्रेम (करपु, दाम्पत्य प्रेम) का वर्णन हुआ है। तिरुवल्लुवर-काव्य में सयोग शृंगार, नायक-नायिका का लौकिक-प्रेम, प्राचीन काल मे तमिल प्रदेश मे प्रेम-पद्धति का रूप, प्रथम दर्शन, पूर्वराग, सयोग, मान, प्रणय-मान, ईर्ष्यामान एव सौन्दर्य चेतना आदि शीर्षको से तिरुवल्लुवर के सयोग-शृगार चित्रो का विवेचन है। कबीर काव्य मे अलौकिक प्रतिपाद्य के लिए अप्रस्तुत रूप एव शृंगार का आध्यात्मिक धरातल स्पष्ट कर सयोग शृगार का वर्णन है। तिरुवल्लुवर के वियोग शृगार मे ऐन्द्रियता के स्थान पर सूक्ष्म मानसिक भाव का उल्लेख कर वियोग शृगार का विवरण है। इसी पद्धति से कबीर-काव्य के विरह-वर्णन का विश्लेषण हुआ है। अध्याय के अन्त मे तुलनात्मक अध्ययन के निष्कर्ष दिए गए हैं।

पचम अध्याय मे तिरुवल्लुवर एवं कबीर-काव्य में सामाजिक अभिव्यक्ति का अध्ययन है। काव्य मे समाज-चित्रण का विश्लेषण कर समाज का विभाजन किया गया है। परिवार (पति, पत्नी और सतति) तथा राज्य (प्रजा एव अधिकारीवर्ग) का उल्लेख कर तिरुवल्लुवर-काव्य मे सामाजिक अभिव्यक्ति का अध्ययन हुआ है। इसमे पूर्वराग, दाम्पत्य-प्रेम, निषिद्ध-प्रेम, वेशभूषा, आभूषण, शृगार-प्रसाधन, सामाजिक-विभाजन (गृहस्थ, सन्यासी, ढोगी-तपस्वी), भोजन-पान, मासाहार-निषेध एव मद्य-निषेध इत्यादि का विवेचन किया गया है। कृषि-प्रधान समाज का कृषि के प्रति आदर-भाव तथा औषधि-ज्ञान का भी सक्षिप्त उल्लेख हुआ है। कबीर-काव्य मे गृहस्थ एव वैरागी, दाम्पत्य-जीवन मे पत्नी, सतति, निषिद्ध-प्रेम, शृगार-प्रसाधन एव आभूषण, भोजन-पान, मासाहार-निषेध एव मद्य-निषेध, वेश्यावृत्ति, तथा कृषि-विषयक अभिव्यक्ति का उल्लेख कर निष्कर्ष प्रस्तुत किए गए हैं। तिरुवल्लुवर-काव्य मे सामाजिक अभिव्यक्ति का यह अध्ययन मेरा विनीत प्रयास है, आशा है इससे सामाजिक-इतिहास के लिए महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध हो सकेगी।

अनेक विद्वानो ने तिरुक्कुरल एव अन्य प्राचीन ग्रन्थो मे साम्य के सकेत दिए हैं। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के षष्ठ अध्याय मे उन सकेतो से लाभ उठाकर भारतीय-सस्कृति के कतिपय आधार भूत ग्रन्थो के विचार एव तिरुक्कुरल के विचारो का भाव-साम्य अध्ययन का विषय बना है। यह पद्धति सास्कृतिक-एकता का ठोस प्रमाण एव सम्बल बन सकती है।

तिरुवल्लुवर और कबीर मे तिरुवल्लुवर निश्चय ही अधिक प्राचीन एव अधिक मान्य हैं। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के शीर्षक मे तिरुवल्लुवर का नाम प्रथम और कबीर का द्वितीय है। तुलनात्मक अशों के प्रसग मे अध्ययन का मुख्य केन्द्र तिरुवल्लुवर और उनकी कृति तिरुक्कुरल—उसमे वर्ण्य-विषय—ही रहे हैं। कबीर की तुलना की अपेक्षा से जितना आवश्यक था और जिस रूप मे आवश्यक था, उतना और उसी रूप मे लिया गया है। काव्य-शास्त्रीय शब्दावली मे तिरुवल्लुवर वर्ण्य अथवा प्रस्तुत हैं और कबीर अवर्ण्य अथवा अप्रस्तुत हैं, फिर भी कबीर का महत्व या उनकी अपेक्षा किसी भी प्रकार से कम नही है और न उसको कम मान कर यह तुलना की गई है। यह अध्ययन उत्तर एव दक्षिण की सास्कृतिक-एकता को और भी स्पष्ट करेगा एव इससे उत्पन्न भावात्मक-एकता से श्रेष्ठ-समाज एव दृढ़ राष्ट्रीय चेतना जाग्रत करने मे यत्किंचित योगदान होगा, ऐसा विश्वास है।

उपसहार भाग मे अध्ययन के निष्कर्ष अध्यायक्रम से सचित कर दिए गए हैं। जिस सूत्र को ग्रहण करके प्रस्तुत शोधकार्य प्रारम्भ किया गया था उनका क्रमिक विस्तार करते हुए समा-

द्वार रूप मे यह निष्कर्ष निकलता है कि भौगोलिक, ऐतिहासिक वैविध्य एवं बाह्य वैचित्र्य (वेश-भूषा, खानपान आदि) के रहते हुए भी जीवन का सूत्र जहा से प्रारम्भ होता है वह विचार बिन्दु हमारे देश की अखण्ड सस्कृति में सर्वत्र दृष्टिगत होता है। मनीषियो के विचार साहित्य एव परम्परा के द्वारा जन-जन के मानस मे व्याप्त हो जाते हैं और साधक-साहित्यकार उन विचारों का अभिव्यक्ति-पुज बनकर स्थान-स्थान पर एव समय-समय पर प्रकट होते रहते हैं। गगा एव कावेरी का निर्मल जल अनादि काल से बहता हुआ देश के अनेक भागो को सिंचित करता रहा है, उसी प्रकार सस्कृति के स्रोत राष्ट्रीय-जीवन को उल्लसित एव उच्छ्वसित करते रहते हैं। समय बदलता है, स्थान बदलने है, वेश-भूषा और खान पान बदलते हैं, यहा तक कि विचार और भाव के उपयोग बदलते हैं, परन्तु विचारो के स्रोत, चिन्तन के केन्द्र, अपनी निरन्तरता में ही हमको आकृष्ट करते हैं। जो दूर दिखाई पडता है, वह पास जाने पर दूर नही रहता। यह अपनापन हमारी प्राचीन एव नवीन भारतीय भाषाओ मे भली-भाति देखा जा सकता है। तिरुवल्लुवर एव कबीर इसके प्रमाण हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध इसी निष्कर्ष का एक लघु प्रयास है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध मे सम्बद्ध सामग्री-सकलन के लिए विभिन्न विश्वविद्यालयो के पुस्तकालयो एव अन्य सस्थाओ मे जाकर कार्य करने के लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा दी गई आर्थिक सहायता के लिए मैं आयोग का कृतज्ञ हू। इसी सहायता के फलस्वरूप मैं निम्नलिखित सस्थाओ मे जाकर लाभान्वित हो सका —

मद्रास विश्वविद्यालय पुस्तकालय (मद्रास)
आडयार थियोसौफिकल सोसायटी पुस्तकालय (मद्रास)
कन्निमारा राष्ट्रीय पुस्तकालय (मद्रास)
अन्नामलै विश्वविद्यालय पुस्तकालय (अन्नामलैनगर)
मदुरै विश्वविद्यालय पुस्तकालय (मदुरै)
महाराज सरफरोजी सरस्वती महल पुस्तकालय (तजौर)

इसके अतिरिक्त सामग्री-सकलन दिल्ली-विश्वविद्यालय पुस्तकालय, हरदयाल (हार्डिग) सार्वजनिक पुस्तकालय तथा अन्य स्थानीय पुस्तकालयो से किया गया। इन सभी सस्थाओ एव उनके संचालको का मैं हृदय से आभारी हू।

एम० ए० कक्षा मे प्रवेश लेते समय मैंने डा० ओमप्रकाश के परामर्श से सयुक्त पाठ्यक्रम के लिए तमिल-भाषा एव साहित्य का व्यवस्थित अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। तब से हिन्दी और तमिल मेरे लिए सस्कृत, अग्रेजी और पजाबी की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण बन गई। इन दोनो साहित्यो के अध्यापको की प्रेरणा से और उनके आशीर्वाद से मैं विश्वविद्यालय मे प्रथम श्रेणी एव प्रथम स्थान प्राप्त कर सका। शोधकार्य प्रारम्भ करते हुए मेरे सम्मुख डा० ओम्प्रकाश का वल्लुवर विषयक लेख (जो हसराज कॉलेज पत्रिका मे सन् १९५१ मे प्रकाशित हुआ था और तदनन्तर उनके निबन्ध सग्रहो मे समाविष्ट हो गया है) मेरे शोध का आधार बना जिसमे उन्होने वल्लुवर की तुलना भर्तृहरि और कबीर से की थी। डॉ० के० अरुमुहम् (रीडर, तमिल विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय) ने मेरे तुलनात्मक शोध के विचार को पसन्द किया और मुझको हर प्रकार की सहायता भी देते रहे। इन दोनो निर्देशकों के स्नेह एव आत्मीयता के कारण मेरा शोधकार्य सुगम एव सहज बन गया और मैं कुछ वर्षों मे ही पजाबी भाषी से तमिल भाषी बन गया। इन परिस्थितियो को मैं अपना सौभाग्य मानता हू। दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष, प्रोफेसर डॉ० विजयेन्द्र स्नातक के प्रति आभार

प्रकट करना मेरा कर्त्तव्य है । मेरे तुलनात्मक दृष्टिकोण को उन्होंने निरतर प्रोत्साहन दिया है ।

मद्रास विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के प्रोफेसर एव अध्यक्ष डा० सु० शकर राजू नायुडू पिछले दो दशको से तमिल एवं हिन्दी साहित्यो को एक-दूसरे के निकट लाने का प्रयास कर रहे हैं । मद्रास मे रहकर उनसे मुझे अनेक प्रकार की सहायता एवं अनेक विषयों पर स्पष्टीकरण प्राप्त करने का सौभाग्य मिला है । प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को आद्यन्त पढ़कर उन्होंने इसके लिए एक महत्त्वपूर्ण प्राक्कथन लिखने की भी कृपा की है । इस बहुमुखी अनुग्रह के लिए मैं डा० नायुडू के प्रति हृदय से कृतज्ञ हू और मुझे विश्वास है कि इस पुस्तक के प्रकाशन से वह भी उतने ही उल्लसित हुए है जितना कि मैं और मेरे दोनो निर्देशक । पिछले ११ वर्षों से मेरे मार्गदर्शक शिक्षाविद् डा०गोवर्धनलाल दत्त, भूतपूर्व उपकुलपति, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन एव प्राचार्य राजेन्द्रनाथ चोपडा (प्रिंसिपल, डी० ए० वी० कॉलेज) का मैं विशेष आभार मानता हू । मेरी प्रत्येक कठिनाई इनके स्पष्ट चिंतन का स्पर्श करते ही अत्यन्त सरल होती रही है । मेरी सहधर्मिणी सौ० 'रमेश' जीवन के सुख-दु ख की सहचरी है, शोध के सम्पूर्ण कार्यकाल मे उन्हे और चि० 'स्मिता' को तथा परिवार के सभी सदस्यो को सम्बल मान कर आगे बढ़ता रहा हू ।

इस शोध-ग्रथ मे हिन्दी, तमिल, सस्कृत एव अग्रेजी के जिन विद्वानो के ग्रथो का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष उपयोग किया गया है, उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना मेरा पुनीत कर्त्तव्य है । नेशनल पब्लिशिंग हाउस के सचालक श्री कन्हैयालाल मलिक ने जिस कुशलता से प्रकाशन-कार्य मे योगदान दिया है उसके लिए मैं उनका हार्दिक आभार मानता हू ।

प्राध्यापक, हिन्दी विभाग,
पी० जी० डी० ए० वी० (साध्य) कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

अनुक्रम

संकेत-सूची

अथर्व०	अथर्ववेद संहिता
अनु०	अनुवाद, अनुवादक
अनु०	महाभारत, अनुशासन पर्व
अरण्य०	महाभारत, अरण्यपर्व
आ० ध० सू०	आपस्तम्ब धर्मसूत्र
आ०	आचार्य
ई० पू०	ईस्वी (सन्) पूर्व
ई० प०	ईस्वी (सन्) पश्चात्
उद्योग०	महाभारत, उद्योग पर्व
उप०	उपनिषद्
कठ०	कठोपनिषद्
कर्ण०	महाभारत, कर्णपर्व
क० ग्र०	कबीर ग्रन्थावली स० डा० श्यामसुन्ददास, आठवा सस्करण, (सवत् २०१८)
क० ग्र० (पा० ना० ति०)	कबीर ग्रन्थावली स० डा० पारसनाथ तिवारी
क्र० स०	क्रम-सख्या
कामन्दक०	कामन्दकीय नीतिसार
कौ० अर्थ०	कौटिलीय अर्थशास्त्रम् (स० वाचस्पति गैरोला)
छा०	छान्दोग्योपनिषद्
डा०	डॉक्टर
तुल०	तुलनीय
तै० स०	तैत्तिरीय संहिता
पृ०	पृष्ठ (सख्या)
प्रो०	प्रोफेसर
ब्रा०	ब्राह्मण
भाष्य०	भाष्यकार
मनु०	मनुस्मृति
महा०	महाभारत, गीता प्रेस
महा० (भण्डारकर)	महाभारत (भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इस्टीच्यूट द्वारा प्रकाशित)

मौसल०	मौसलपर्व
ध० सू०	धर्मसूत्र
याज्ञ०, याज्ञवल्क्य०	याज्ञवल्क्य स्मृति
वन०	वनपर्व
वा० रा०	वाल्मीकि रामायण
वसिष्ठ०	वसिष्ठ स्मृति
बृहद०	बृहदारण्यकोपनिषद्
शांति०	महाभारत, शान्ति पर्व
सं० वा० स०	संतवाणी संग्रह
स०	सम्पादक
सं० महा०	संक्षित महाभारत

१

तिरुवल्लुवर एवं कबीर व्यक्तित्व एवं कृतित्व

तिरुवल्लुवर का महत्त्व, जीवन-परिचय, रचना-काल, तमिल साहित्य के विकास मे तिरुवल्लुवर का स्थान, तिरुक्कुरल पर हुआ अनुवाद-कार्य, वर्ण्य विषय, कबीर-जीवन-वृत्त, कबीर की जाति, कबीर के गुरु, कबीर का पर्यटन, गृहस्थ जीवन, कबीर का व्यवसाय, कबीर का व्यक्तित्व।

तिरुवल्लुवर का महत्त्व

तमिल साहित्य एव सस्कृति की विशाल परम्परा में तिरुवल्लुवर का स्थान अद्वितीय है। उनके काव्य एव उसमे निहित सदेश ने अनेक भारतीय एव पाश्चात्य विद्वानों को अभिभूत किया है। देश-काल की प्रबल सीमाओं से अनाबद्ध, मानव मात्र के लिए आदर्श मार्ग का निर्देश करने वाले, प्रबल विचारक एव श्रेष्ठ कवि के रूप मे तिरुवल्लुवर की महत्ता भारतीय एव विदेशी विद्वानो ने मुक्त कठ से स्वीकार की है। "तिरुक्कुरल तमिल साहित्य का गौरव है और भारतीय साहित्य का भव्य भूषण है"—सु० शकर राजु नायुडू का यह कथन सत्य पर आधृत है।[१] तमिल प्रदेश मे इससे पूर्व अथवा उपरान्त इतने विद्वत्तापूर्ण कथन अन्य किसीने प्रस्तुत नही किये, ऐसा विचार प्रो० एस० वैयापुरी पिल्लै ने अभिव्यक्त किया है।[२] श्री चार्ल्स इ० गोवर के मतानुसार तमिल साहित्य एव जीवन मे इस ग्रन्थ का लगभग वही प्रभाव है जो इटली मे दान्ते के महान् विचारो का है।[३] एम० एरियल ने तिरुक्कुरल को तमिल साहित्य का विशिष्ट ग्रन्थ मानते हुए इसे मानव-विचारो की उच्चतम और पवित्रतम अभिव्यक्ति माना है।[४]

तिरुक्कुरल के प्रसिद्ध अनुवादक एव तमिल-विद्वान् डा० जी० यू० पोप वल्लुवर को विश्व की महान् प्रतिभाओ मे से एक मानते है।[५] फ्रेडरिक पिनकॉट ने माना है कि भारत में दो ग्रन्थो ने जनता के हृदय और मस्तिष्क पर पूर्ण नियत्रण किया है। ये दो ग्रथ तुलसीकृत

---

१ तिरुक्कुरल, पृ० ३।

२ "Never before, nor since, did words of such profound wisdom issue forth from any sage in the Tamil land."

—*History of Tamil Language and Literature*, p 86.

३ "It is no exaggeration to say that it is as important in Tamil literature, as influential on the Tamil mind, as Dante's great work on language and thought of Italy"

—*Tirukkural* K M. Balasubramaniam, p. 512

४ "The Kural is the masterpiece of Tamil literature—one of the highest and purest expression of human thought."

—*Journal Asiatique*, Nov-Dec. 1848.

५ "The weaver of Mayilapur, known now only as Tiruvalluvar was undoubtedly one of the great geniuses of the world"

—*Tirukkural* Dr. G U. Pope, p XVII

'रामायण' और तिरुवल्लुवर का 'कुरल' हैं . इन दो में कुरल अधिक प्राचीन है।[1] प्रो० एम० विन्टरनित्स ने कुरल को विश्व साहित्य का अनुपम रत्न माना है।[2]

इस प्रकार के महान् कवि जाति, समाज और राष्ट्र की सीमाओं को लाघ कर मानव मात्र के हो जाते हैं। युग-परिवर्तन उनके कथनो को प्रभावित कर पाने में असमर्थ होता है, प्रबल काल यहा अभिभूत होकर नतमस्तक हो जाता है। तिरुवल्लुवर के महान् ग्रन्थ 'तिरुक्कुरल' से तमिल प्रदेश ही नही मानव-मात्र का कल्याण सम्भव है, अत इस प्रकार के ग्रन्थ का अध्ययन साहित्य-शोध का विषय बनना स्वाभाविक ही है।

तिरुवल्लुवर में 'तिरु' आदरसूचक उपसर्ग है, मूल नाम 'वल्लुवर' ही है। इनका वास्तविक नाम अज्ञात है, हां 'वल्लुवन' एक सामान्य स्तर की जाति के नाम के रूप में प्रचलित शब्द है। डा० सु० शंकर राजू नायुडू ने कवि एव उसके द्वारा रचित ग्रन्थ के प्रसिद्ध ६ नामो का उल्लेख किया है—

ग्रन्थ के नाम	लेखक के नाम
तिरुक्कुरल	तिरुवल्लुवर
मुप्पानूल्	नायनार
उत्तर-वेदम्	देवर
देय्वनूल्	मुदर्पावलर
तिरुवल्लुवर	देय्वप्पुलवर
पोय्यामोळि	नान्मुहनार
वायुरै वाळत्तु	मातानुबगी
तमिळ् मरै	चेन्नाप्पोदार
पोदु मरै	पेरुनावलर।[3]

जीवन-परिचय

तिरुवल्लुवर के विषय मे अनेक जन-श्रुतिया तमिल-प्रदेश मे प्रचलित है। श्री पोपले ने कुछ दन्त-कथाओ का उल्लेख किया है, जिनके अनुसार वल्लुवर मयिलापुर गाव के एक जुलाहे थे। इस कथन मे सम्भव तथ्य इतना ही है कि कवि को प्राय मयिलापुर के जुलाहे के नाम से स्मरण किया जाता है। लगभग सभी लेखको ने इस बात की ओर सकेत किया है कि तिरुवल्लुवर समाज मे निम्न कही जाने वाली जाति के व्यक्ति थे। 'वल्लुवन' नाम की जाति के अवशेष चिह्न अभी भी विद्यमान हैं। यह सम्भव है कि वह 'वल्लुवाकुडी' नामक इस जाति के सदस्य रहे हो। इस जाति का कार्य राजाज्ञा की ढोल इत्यादि द्वारा घोषणा करना था।

---

१. "There are two books in India which have taken entire possession of the hearts and minds of the people, the first of these is the Ramayana of Tulsidas . and the other is the Kural of Tiruvalluvar of the two, the Kural is much the older".

—*Tirukkural* K M Balasubramaniam, p 514

२. "Tiruvalluvar's Kural...is one of the gems of world literature."

—*Ibid*, p 515

३. तिरुक्कुरल, पृ० १८-१९

परम्परा से यह भी विश्वास किया जाता रहा है कि तिरुवल्लुवर एक ब्राह्मण पुरुष (भगवन्) एवं एक निम्न जाति की स्त्री (आदि) की सन्तान थे। इस सम्बन्ध में सात सन्तानों का उल्लेख है जिनमें कपिलर और अव्वैयार उल्लेख्य हैं। इस कथन में सत्य का अंशमात्र भी उपलब्ध नहीं और न ही इसे स्वीकार करने का कोई आधार ही उपलब्ध है। सम्भवत कवि की प्रसिद्धि हो जाने के उपरान्त उसे उच्चकुल से सम्बद्ध करने के लिए इस प्रकार की कथा का निर्माण कर लिया गया। प्रो० रगाचार्य ने यह मत प्रस्तुत किया है कि तमिल 'वल्लुवर' सस्कृत साहित्य में 'राजनय' के समान है, एव अपने ग्रन्थ मे जिस व्यावहारिक एव राजनीति के ज्ञान का परिचय कवि ने दिया है उससे इसकी पुष्टि होती है कि वल्लुवर 'राज्य' का बड़ा अधिकारी रहा हो। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र की रचना 'नरेन्द्र' अथवा चन्द्रगुप्त के लिए की थी। इसी प्रकार सम्भवत वल्लुवर ने यह रचना अपने मित्र 'एल्लाल' अथवा उसके पुत्र के लिए की हो।[1] इसी तर्क का विकास कर यह भी कहा गया है कि जिस प्रकार कौटिल्य को राज्य का सरक्षक नियुक्त किया गया, उसी प्रकार का दायित्व वल्लुवर को भी राज्य का उच्च पदाधिकारी बना कर प्रदान किया गया। इसमें प्रश्न सम्भावनाओ का नही, प्रमाणो के अभाव का है। समग्रत विश्लेषण करने पर इस प्रकार की धारणाओ का कोई आधार उपलब्ध नही है। इसी आधार पर एस० सोमसुन्दर भारती के एक लेख मे इसी प्रकार की धारणा को मात्र अनुमान मानना होगा। जनश्रुतियो का आधार चाहे ऐतिहासिक न हो, तो भी उनका विकास एक विशेष अर्थ-युक्त होता है। चारो ओर से असत्य मे लिपटी जनश्रुति मे भी कही सत्य का कुछ अश हो सकता है, चाहे वह कितना ही न्यून अथवा सूक्ष्म क्यो न हो। इसलिए वल्लुवर से सम्बद्ध जन श्रुतियो मे सम्भवत कुछ सार हो।

डा० ओम्प्रकाश ने भी तिरुवल्लुवर को वल्लुवा जाति मे उत्पन्न माना है। उनका तर्क यह है कि सम्भवत प्रारम्भ मे इनके समकालीन लोग इनको जाति-नाम से पुकारते रहे होगे, समय बीतने पर उसी नाम का आदर हुआ और उसके साथ आदरसूचक 'तिरु' उपसर्ग जोड़ दिया गया।[2]

श्री रौबिन्सन ने एक जनश्रुति का उल्लेख किया है जिसके अनुसार एक नवजात शिशु मयिलापुर मे शिव मदिर के निकट पडा था। वैल्लाल वश की एक स्त्री पुत्र-प्राप्ति की कामना लेकर मदिर में आई, पार्वती की आज्ञा पाकर वह स्त्री बालक को घर ले आई। गाव के लोगो द्वारा बालक के जन्म, वश इत्यादि के विषय मे की गई आलोचना से तग आकर दम्पति ने बालक को एक 'परिया' परिवार को सौंप दिया। पाच वर्ष की आयु होने पर बालक ने यह जानकर कि वह माता-पिता की आलोचना का कारण है, घर से निकल कर गाव के बाहर ताड-वृक्ष के नीचे आसन जमाया। गाव के लोग यह देख आश्चर्य-चकित हुए कि वृक्ष की छाया निरन्तर उसके चरणो पर बनी रहती है। इस चमत्कार को देख लोगो को ज्ञान हुआ कि यह बालक या तो कोई महान् ऋषि है अथवा कोई देवता। तदुपरान्त बालक उस स्थान को छोड कर उस पर्वत की दिशा मे चला गया जहां तिरुमूलर, पुशार तथा अन्य ज्ञानी निवास करते थे।

तिरुवल्लुवर के गृहस्थ-जीवन विषयक दन्त-कथाओं के अनुसार इनकी पत्नी का नाम वासुकी था। वासुकी की मृत्यु पति के जीवन-काल मे ही हो गई थी। तमिल-प्रदेश में वह

---

१. *Studies in Sangam History* (Editorial).

२. आलोचना की ओर, पृ० १३४।

अपने पतिव्रत-धर्म और कर्तव्य-निष्ठा के लिए विख्यात है। अपने काव्य में वर्णित गृहस्थ जीवन के आदर्श को कवि ने अपने जीवन मे साकार कर दिया था। 'ईश न नित उठ पूजे पति को, बरसो कहु दे तो बरसे' का आदर्श वासुकी थी।[१]

रचना-काल

तिरुवल्लुवर के रचना-काल के विषय मे कोई निर्णय कर पाना अत्यन्त दुष्कर है। ऐतिहासिक प्रमाणो का अभाव तो है ही, अत साक्ष्य भी इस दिशा मे विशेष सहायक नही है। इस विषय में निम्नलिखित मत उपलब्ध हैं—

तिरुवल्लुवर का जन्म एव रचना-काल ८वी से १०वी शताब्दी मानने वालो मे डा० जी० यू० पोप का नाम उल्लेखनीय है। इसका आधार तिरुवल्लुवर पर ईसाई-धर्म का प्रभाव मानने का पूर्वाग्रह है।[२] इस मत को विद्वानो ने स्वीकार नही किया और इसका प्रबल खण्डन भी हुआ है।

ग्रंथ का रचना-काल पाचवी और छठी शताब्दी मानने वाले विद्वानो मे श्री नीलकण्ठ शास्त्री,[३] श्री वैयापुरी पिल्लै[४] तथा श्री जैसुदासन[५] उल्लेख्य हैं। तिरुक्कुरल पर सस्कृत ग्रन्थो का प्रभाव मान कर उनके रचनाकाल के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है। इसके अतिरिक्त संस्कृत शब्दो का अपेक्षाकृत अधिक प्रतिशत एव भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन से ये विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। परन्तु सस्कृत आर्ष-ग्रन्थो का रचना-काल भी अन्तिम रूप से निर्णीत नहीं है। अत मतभेद का अवसर शेष रह जाता है।

तिरुवल्लुवर का रचना-काल ईसा की प्रथम और द्वितीय शताब्दी अथवा इससे पूर्व मानने वालो मे श्री के० एन० शिवराज पिल्लै, श्री टी० एस० कन्दसामी मुदलियार, श्री वी० आर० रामचन्द्र दीक्षितार, श्री पूर्ण सोमासुन्दरम्, मु० गो० वेन्कट कृष्णन, डा० ओम्प्रकाश, श्री टी० पी० मीनक्षीसुन्दरम्, श्री अवधनदन, जी० एस० दुरैस्वामी[६] इत्यादि अनेक विद्वान् हैं।

श्री रामचन्द्र दीक्षितार ने तिरुवल्लुवर को ईसा पूर्व एक या दो शताब्दी का मानने के

---

१ तिरुक्कुरल—डा० सु० शकरराजू नायुडू, पृ० ७।

२ "I think between A D 800 and 1000 is its probable date . . . I canot feel any hesitation in saying that Christian Scriptures were among the sources from which the poet derived his inspiration",
Tirukkural, p XXIII

३ ". . . 450-500 may be suggested as the best date for Kural"
A History of South India, p 356

४. "So we shall be fairly justified in concluding that Valluvar lived about the time of Appar, that is about A D 600"
A History of Tamil Language and Literature, p. 85

५. "Hence the latest limit of Kurral may be fixed as the fifth century A D."
A History of Tamil Literature, p. 40

६. *Tamil Literature*

लिए लगभग वही तर्क दिये हैं जो श्री वैयापुरी पिल्लै ने उन्हें पांचवीं या छठी शताब्दी का मानने के लिए दिये हैं। तिरुक्कुरल में वर्णित विषयों पर संस्कृत धर्मशास्त्रों और कौटिलीय-अर्थशास्त्र का प्रभाव मानकर, और इन ग्रन्थों को ईसा पूर्व की कृतियां मानकर उन्होंने तिरुक्कुरल का रचनाकाल लगभग ईसा पूर्व एक शती माना है। उनके मतानुसार पंचतंत्र, हितोपदेश, कामन्दकीय नीतिसार, भर्तृहरि इत्यादि से साम्य का कारण यह है कि इन ग्रन्थों में प्रचलित नीति को समाविष्ट कर लिया गया था, अत यह वल्लुवर के स्रोत ग्रन्थ नहीं थे अपितु कोई समान ग्रन्थ इन सबका स्रोत ग्रन्थ रहा होगा।

इस विषय में कुछ अन्य साक्ष्यों पर विचार करना उपयुक्त होगा। मणिमेखला नामक तमिल काव्य मे तिरुवल्लुवर को उद्धृत कर उसे सच्चा कवि (पोयिलपुलवन्) कहा गया है।[1] इसी प्रकार शिलप्पदिकारम् महाकाव्य मे भी 'कुरल' धर्म के प्रमाण रूप में उद्धृत किया गया है।[2] इन ग्रन्थो मे कुरल का उद्धृत किया जाना इस बात का प्रमाण है कि कुरल की रचना इनसे एक अथवा दो शती पूर्व हो चुकी थी और एक महान् धर्म-ग्रन्थ के रूप में उसे मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। यदि मणिमेखला और शिलप्पदिकारम् का रचना-काल अन्तिम रूप से निर्णीत हो जाये तो 'कुरल' का रचनाकाल लगभग स्पष्ट हो जाये, पर इस विषय पर भी अनेक मत अभिव्यक्त किये गये हैं और इनका रचना काल चौथी से आठवीं शताब्दी तक माना गया है।

कुरल के सम्बन्ध में विभिन्न स्रोतो से प्राप्त सामग्री का अध्ययन इस बात की ओर निश्चित सकेत करता है कि प्राचीन सस्कृत ग्रन्थो यथा मनुस्मृति, कौटिलीय अर्थशास्त्र, कामन्दकीय नीतिसार, कामसूत्र इत्यादि की परम्परा से वल्लुवर परिचित थे। इसके आधार पर यदि निष्कर्ष निकालें तो वल्लुवर का रचनाकाल दूसरी शताब्दी के लगभग अवश्य ही होना चाहिए क्योंकि मनुस्मृति २०० ई० पू० और १०० ई० पू० के बीच की रचना, और कौटिलीय अर्थशास्त्र ३०० ई० पू० और २०० ई० उ० की रचना (अपेक्षाकृत पहली सीमा के पास) मानी गई है।[3] इसके अतिरिक्त सस्कृत के सदृश सूत्र शैली, वेण्बा छद का प्रयोग, एव साहित्यिक सामग्री इस ग्रन्थ की प्राचीनता की ओर इगित करते हैं।

इस स्थल पर तिरुक्कुरल ग्रन्थ की प्रशस्ति रूप मे उपलब्ध एक कृति 'तिरुवल्लुवमालै' का उल्लेख प्रासगिक है। इस कृति मे कपिलर, नक्कीरर, अव्वै, कूल वानिकन चात्तनार, परणर, पेरुन्देवनार इत्यादि अनेक महान् कवियो के द्वारा तिरुक्कुरल की प्रशस्ति मे कहे गये तथाकथित छन्द सकलित हैं। इस कृति को अधिकाश विद्वानो ने अप्रामाणिक और बाद की रचना माना है। इसमे सकलित ४९ कवियो का एक ही समय मे उपस्थित होना ऐतिहासिक दृष्टि से असम्भव है। इसके अतिरिक्त एक सुनियोजित, क्रमबद्ध, तर्कपूर्ण ढग से व्यवस्थित होने के कारण इस कृति की अप्रामाणिकता और भी निश्चित हो जाती है। श्री एस० एस० भारती का कथन है कि कुरल की महत्त्ववृद्धि का लक्ष्य समक्ष रख कर रची गई यह बाद की जाली रचना है।[4] श्री के० एन० शिवराज पिल्लै का विचार है कि सम्भवत वल्लुवर की असीम

---

१ मणिमेखला २२।११।६०-६१।

२. शिलप्पदिकारम् १६ १५, १६ एव कुरल ५५५।

३ धर्मशास्त्र का इतिहास—डा० काणे, पृ० १२।

४ *Journal of Annamalai University* Aug'35, Vol. IV, No. 2

प्रशंसा भावना से प्रेरित होकर किसी ने सम्पूर्ण सघम-साहित्य के सभी महान् कवियों के मुख से इन छन्दों को कहलवा कर कुरल को प्रमाण-पत्र प्रदान करने का प्रयास किया है।[१] काल-क्रम की दृष्टि से विवेचन, सकलित कवियों के रचनाकाल का अध्ययन, संकलित सामग्री—सभी से इसकी अप्रामाणिकता की पुष्टि होती है। परन्तु वल्लुवर की असीम प्रशसा से युक्त होने के कारण इसका उल्लेख वल्लुवर सम्बन्धी अध्ययन में आना स्वाभाविक ही है।

तमिल साहित्य के विकास मे तिरुवल्लुवर का स्थान

तमिल साहित्य मे सघम-साहित्य का अपना निश्चित महत्त्व है। इस विषय मे प्रायः परम्परागत विश्वास है कि तमिल प्रदेश मे तीन सघ रहे। यह सघ श्रेष्ठ-कृतियो के मूल्याकन का कार्य करते थे। इस विषय में जो वर्णन उपलब्ध हैं, वे अतिशयोक्तिपूर्ण हैं एव तथ्यो पर आधृत प्रतीत नहीं होते। 'इरैयनार अहपोरुल्' (७५० ई०) की टीका की भूमिका मे तीन संघों का वर्णन मिलता है। इनका रचनाकाल ९९९० वर्ष है और इनके अन्तर्गत ८५९८ कवियों का उल्लेख है। इन कवियो मे कुछ देवताओ के नाम भी आये हैं। तीनो सघ मिलाकर १९७ पाण्ड्य नरेशो के आश्रय मे कार्य करते रहे। इनमें से कुछ नरेशो के नाम यथा—कन्दुगोण एवं उग्रपेरुवालुदि के विषय मे अभिलेखीय साक्ष्य भी उपलब्ध है। विद्वानो का मत है कि इस विषय में तथ्य और कल्पना का अद्भुत सम्मिश्रण हो जाने के कारण किसी स्पष्ट निष्कर्ष पर पहुँच पाना सम्भव नहीं है।[२]

प्रथम सघ का कार्यक्षेत्र प्राचीन मदुरा नगरी था। यह नगरी अब सागर में विलीन हो चुकी है। इस सघ मे अगस्त्य, तिरिपुरामेरित्त, विरिसाडँकडवुल (शिव), कुन्रमेरिन्त कुमरवेल (सुब्रह्मण्य) एव मुरन्जियूर मुडिनाहरायर (आदिशेष) का उल्लेख मिलता है। इस सघ के कुल ५४९ सदस्य थे। ४४४९ कवियो ने सघ मे अपनी कृतिया अनुमोदन के लिए प्रस्तुत कर स्वीकृति प्राप्त की। इस सघ की सरक्षकता ८९ पाण्डय नरेशो ने की, तथा इसका कार्य-काल ४४०० वर्ष का रहा। इस संघ के ग्रथो मे अगस्तियम्, परिपाडल, मुदुनारै, मुदुकुरुहु एव कलरियाविरै उल्लेखनीय हैं।[३]

द्वितीय सघ का आयोजन कपाडपुरम् मे हुआ। इसमे अगस्त्य, इरुन्दैयूर कुरुगोकिमोसि वेल्लूरकाप्पियन् इत्यादि ४९ सदस्य थे। इस सघ ने ३७०० कवियो की रचनाओ को स्वीकृति प्रदान की। ३७०० वर्षों तक कार्य करते हुए इस सघ को ५९ पाण्डय नरेशो की सरक्षकता प्राप्त हुई। इस काल मे अगस्तियम्, तोलकाप्पियम्, मॉपुराणम्, इसै नुनुक्कम्, भूतपुराणम्,

---

१ (a) "Probably fired with an unbound admiration for Kural the writer may have thought that without this bunch of certificates from the whole Sangam conclave the excellencies of the great work could not be well and truely appreciated . ."

(b) ". .and the author of Valluvamalai, whoever he were, chose not only to be incognito but also to father his poems on to some imaginary Sangam bards with a view to enhance the value of his eulogies to Valluvaris deathless didactic distiches ."

२. *History and Culture of Indian People* Ed. R C Majumdar, p 292

३ *Ibid*, p. 222

कली, कुरुहु, वेण्डाली, व्याळमलै इत्यादि प्रमुख ग्रन्थों की रचना हुई। इस संघ में ८१४९ ग्रन्थ थे परन्तु समुद्र के विस्तार के कारण ये समस्त सागर में विलीन हो गये। प्रथम और द्वितीय सघ दोनों में अगस्त्य का उल्लेख है। अतः सम्भव है कि यह सघ पहले संघ का विस्तार मात्र ही रहा हो। 'तौलकाप्पियम्' के अतिरिक्त शेष समस्त ग्रन्थ अब अनुपलब्ध हैं।

तृतीय सघ का कार्य-स्थल वर्तमान 'मदुरै' नगर था। इसके ४९ सदस्य थे। ४४९ कवियो ने अपनी कृतियां स्वीकृति के लिए इस सघ के समक्ष प्रस्तुत कीं। १८५० वर्ष में ४९ पाण्डय नरेशों की सरक्षकता में यह सघ कार्य करता रहा। इसके अध्यक्ष 'नक्कीरर' थे, एव कपिलर, परणर, सीत्तलैचात्तनार और पाण्डय नरेश 'उग्र' का कार्य उल्लेखनीय है। इस सघ के नेडुन्तोहै, कुरुन्दोहै, नट्रिनै, ऐन्गुरुनूरु, पदिट्रुपत्तु, नूट्रैम्बदु, परिपाडल, कूत्तु, वरी, पेरिसै, चिटरिसै इत्यादि ग्रन्थ अत्यन्त समादृत हुए। इनमे से भी अनेक ग्रन्थ लुप्त हो चुके हैं, केवल नाम शेष हैं। परन्तु जो कुछ ग्रन्थ शेष हैं, उनमें हमे सघ साहित्य की समृद्धि एव विषय का कुछ परिचय उपलब्ध हो सकता है।

विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रथम दो सघों का रूप न तो ऐतिहासिक है और न ही प्रामाणिक। देवताओ और मनुष्यो का सदस्यो के रूप मे साथ-साथ उल्लेख, दोनो सघो के अध्यक्ष के रूप मे अगस्त्य का उल्लेख, काल का अनावश्यक विस्तार, प्रत्येक रचित ग्रन्थ का पूर्णरूपेण नष्ट हो जाना, यह सकेत करते हैं कि प्रथम दो सघो से सम्बन्धित कथा केवल कपोल-कल्पित है। अत हमे तृतीय सघ की उपलब्ध सामग्री को ही अध्ययन का आधार बनाकर उसी की पृष्ठभूमि मे तिरुवल्लुवर के ग्रन्थ 'तिरुक्कुरल' का स्थान निर्धारित करने का प्रयास करना होगा। तिरुवल्लुवर तृतीय सघ के कवि थे यह प्राय मान्य धारणा है।

तमिल का सघ-साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। इसका वर्गीकरण विद्वानो ने निम्न प्रकार से किया है—

सघ-साहित्य

पत्तुप्पाट्टु	एट्टुतोहै	पदिनेण्कीळकणक्कु
(१० ग्रन्थ)	(८ ग्रन्थ)	(१८ उपदेशात्मक (नीति)काव्य)

पत्तुप्पाट्टु के अन्तर्गत दस ग्रन्थो के नाम इस प्रकार हैं—

मुरुहाट्रुप्पडै, पोरुनाराट्रुप्पडै, सिरुपाणाट्रुप्पडै, पेरुम्बानाट्रुप्पडै, मुल्लैप्पाट्टु, मदुरैक्काजि, नेडुनलवाडै, कुरिंजिप्पाट्टु, पट्टिनप्पालै, मलैपडुकडाम्।

एट्टुत्तोहै मे नट्रिनै, कुरुन्दोहै, ऐंगुरुनूरु, पदिट्रुप्पत्तु, परिपाडल, कलितोहै, अहनानूरु, पुरनानूरु नामक ग्रथ समाविष्ट हैं।

पदिनेण्कीळक्कणक्कु के अन्तर्गत १८ नीति-काव्य समाविष्ट हैं। कुछ विद्वान् इन्हे सघ-साहित्य के बाद की रचनाएँ मानते हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—

नालडियार, नान्मणिकडिहै, इनियदुनार्पदु, इन्नानार्पदु, कार्नारपदु, कलवळिनार्पदु, ऐम्बदु, तिणैमोळिऐम्बदु, ऐंदिणैएळुपदु, तिणैमोलै नूट्रैम्बदु, तिरुक्कुरल, तिरिकडुहम्, आचार-कोवै, पळमोळि, सिरुपचमूलम्, मुदुमोळिक्काजि, एलादि।

प्रथम दृष्टि से यह विचार उठना अत्यन्त स्वाभाविक है कि सघ साहित्य के इस

विशाल भंडार में से 'तिरुक्कुरल' को ही अध्ययन का विषय क्यों बनाया गया ? साहित्य एवं कलाकृतियों के मूल्यांकन मे काल का विशिष्ट प्रभाव है। जो कृति युगो के उपरान्त भी नवीन प्रतीत होती हो, जीवन को प्रभावित करने की क्षमता से सम्पन्न हो, जिस कृति से विश्व का प्रत्येक प्राणी अपने लिए सामग्री प्राप्त कर सकता हो, ऐसी कृतिया बहुत अल्प होती हैं। तिरुक्कुरल इसी कोटि की कृति है। भारतीय एव विदेशी भाषाओ मे इस ग्रन्थ के अनेकानेक अनुवाद इस बात की पुष्टि करते हैं। युरोप मे फादर बेस्की ने सर्वप्रथम १७३० ई० मे इस ग्रन्थ का परिचय 'शेन तमिल ग्रामर' नामक पुस्तक द्वारा दिया जिससे प्रेरणा प्राप्त कर अनेक विद्वान् इसके अनुवाद कार्य मे सलग्न हुए।[1]

तिरुक्कुरल पर हुआ अनुवाद कार्य

हिन्दी अनुवाद

तिरुवल्लुवर के ग्रन्थ 'तिरुक्कुरल' का एक हिन्दी अनुवाद १९२४ ई० मे श्री क्षेमानन्द राहत ने किया। १९५८ ई० मे डा० मु० शकरराजू नायुडू द्वारा किया गया अनुवाद मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त श्री बी० डी० जैन, एव श्री एम० वैण्कटकृष्णा के अनुवाद भी प्रकाशित हुए है। ये अनुवाद तिरुक्कुरल के एक भाग 'अरत्तुपाल' के हैं। श्री क्षेमानन्द राहत का अनुवाद इस दिशा मे प्रथम प्रयास था। डा० नायुडू का अनुवाद निश्चय ही तिरुवल्लुवर के अध्ययन के लिए एक महत्त्वपूर्ण योगदान है।

सस्कृत अनुवाद

श्री अप्पा दीक्षितार द्वारा एक सस्कृत अनुवाद 'नीतिकुसुममाला' १९२२ ई० मे प्रकाशित हुआ। एक अत्यन्त सफल सस्कृत अनुवाद श्री एस० एस० श्रीरामदेसिकन् ने १९४२ ई० मे किया।

अन्य भारतीय भाषाओ मे अनुवाद

तिरुक्कुरल के अन्य भारतीय भाषाओ मे जो अनुवाद हुए हैं, उनकी सूची इस प्रकार है—

तेलुगु

अनुवादक	प्रकाशन
श्री वेण्कटाराम विद्यानाथ	१८८० ई०
श्री कनुपार्थी वेण्कटरमन	१८८७ ई०
श्री नरसिंहलु नायडू	१८९२ ई०
श्री श्रीरामूलू रेड्डी	१९४८ ई०
श्री राधाकृष्ण शर्मा	१९५४ ई०

मलयालम

श्री गोविन्द पिल्लै	१९१५ ई०
श्री गोपाल कुरुप	१९५७ ई०
श्री रामकृष्ण पिल्लै	१९५७ ई०

---

१ *Tamil Plutarch* · Simon Casie Chitty, p 116

बंगला		
	श्री नलिनी मोहन सान्याल	१९३९ ई०
मराठी		
	श्री साने गुरुजी	१९४८ ई०
उर्दू		
	श्री हज़रत सुहरावर्दी	१९६३ ई०

अंग्रेजी अनुवाद

पुस्तक का नाम	अनुवादक	प्रकाशन
Extracts from Teeroovaulavar Kuddal or Ocean of Wisdom	Kindersley	1794
On Virtue (Kural) 13 Chapters	Ellis F W	1812
Cural of Tiruvalluvar 63 Chapters	Drew W H	1840
Odes from the Cural in English Verse	Gover C E	1872
Cural–A Meterical translation of the first 240 Couplets	Robinson E J	1873
The Divine Pariah (Parts I & II)	,,	1885
English Translation of the Text (Appended to the Tamil Edition by Murngesa Mudaliar)	Lazarus J	1885
Sacred Kural of Tiruvalluva Nayanar	Pope G H	1886
Kural or the Maxims of Tiruvalluvar	Iyer V V S.	1915
Kural A Selection of 366 Verses	Tirunavukkarasu Mrs.	1915
Kural with Parimel Azhagar's Commentary and English Translation	K Vadivelu Chettiar	1919
English Translation of Kural	Sabharatna Mudaliyar	1920
English Translation of Kural	Poornalingam Pillai M S.	1929
The Sacred Kural	Popley H A.	1931
English Translation of Kural	Aranganatha Mudaliyar A	1933
English Translation of Kural A Few Verses from Part I	Rajagopalachari C.	1935
English Translation of Kural A Few Verses from Part I & II	,,	1935
The Sacred Aphorisms of Tiruvalluvar	Michael S M.	1945
Tirukkural of Tiruvalluvar	Ramachandra Dikshitar V.R	1949
Translation of Kural	Chakravarthy Nayanar A C.	1953

Tirukkural of Tiruvalluvar	Balasubamaniam K.M.	1962

अंग्रेजी से इतर विदेशी भाषाओ के अनुवाद

जर्मन

	अनुवादक	प्रकाशन
	कैमर्स ए० एफ०	१८०८
	फ्रेडरिक रुकर्ट	१८४७
	कार्ल ग्राल	१८५४
फ्रेंच		
	एरिअल (एशियाटिक जरनल में)	१८४८-५२
	सेंट दुमा पी० जी० डे०	१८५७
	लेमाराजे एम०	१८६७
	जैकोलियट	१८७६
	फाँतेन	१८८६
लैटिन		
	सी० जे० बेस्की	१७३०
	ग्रॉल	१८५६
सिंहल भाषा		
	मिसिगामी	१९६१

इसके अतिरिक्त पोलैण्ड, बर्मा तथा कुछ अन्य देशो की भाषाओ मे भी इस ग्रन्थ का अनुवाद हो चुका है।

वर्ण्य विषय

तिरुक्कुरल मुक्तक काव्य है, इसका प्रत्येक पद स्वतन्त्र रूप से पूर्ण अर्थ का द्योतक है पर विषय की दृष्टि से ग्रन्थ मे निरन्तर एक क्रमबद्धता एव धारावाहिकता है। प्रत्येक पद पूर्व-पद से और प्रत्येक अध्याय पूर्व—अध्याय से अत्यन्त सूक्ष्म रूप मे सम्पृक्त है। ग्रन्थ तीन भागो मे विभक्त है—धर्म (अरम्), अर्थ (पोरुल्), काम (इनबम्)।

धर्म खण्ड मे प्रस्तावना के अन्तर्गत सर्वेश वन्दना, वर्षा-वैशिष्ट्य, सन्यासी का महत्त्व एव धर्म की शक्ति का वर्णन करने के उपरान्त बीस अध्यायो मे गृहस्थ के धर्म (इल्लड वियल्) का प्रतिपादन है। इसके अन्तर्गत गृहस्थ, पत्नी के गुण, सतति, स्नेह, सम्पन्नता, आतिथ्य, मधुर भाषण, कृतज्ञता, सयम, सदाचार, परस्त्री-वर्जन, सहनशीलता, ईर्ष्या न करना, लोभ न करना, चुगली न करना, व्यर्थ प्रलाप न करना, शिष्टाचार, दान, यश, इत्यादि विषयो का विवेचन किया गया है। धर्म खण्ड के दूसरे अश मे सन्यास-धर्म (तुडवडवियल) के अन्तर्गत दयालुता, मासाहार-निषेध, तपस्या, दुराचरण, चोरी न करना, सत्यभाषण, अक्रोध, अहित न करना, अहिंसा, स्थिरता, तत्त्वज्ञान, तृष्णादमन इत्यादि विषयो का विस्तृत विवेचन है। ये सभी कथन यद्यपि सन्यास-धर्म के अन्तर्गत आये हैं पर मानव-मात्र के लिए उपयोगी होने

के कारण इन्हें धर्म का अंग माना गया है। गृहस्थ और संन्यास का वर्गीकरण किसी सूक्ष्म सिद्धान्त पर आश्रित न होकर सतही है। इसी खण्ड में एक अध्याय भाग्य (उळियल) पर है जिसमें कर्म-फल एवं भाग्य का उल्लेख है।

पुस्तक के द्वितीय-भाग अर्थ (पोरुल्) के अन्तर्गत शासन-विधान, नरेश के गुण-कर्म, शिक्षा, अशिक्षा, श्रवण, बुद्धिमत्ता, शक्ति, समय, स्थल का बोध, विचारपूर्ण चुनाव, सुशासन, गुप्तचर, सामन्त, दुर्ग, खाद्य, सैन्य, मैत्री, वश इत्यादि से सम्बद्ध अनेकानेक कर्त्तव्यों एवम् सिद्धान्तों का विवेचन हुआ है। सामाजिक कुरीतिया यथा वेश्या, मद्य, जुआ का उल्लेख भी इसी भाग में हुआ है। इसमे शासन-विधान (अरचियल्), सामन्त (अमैच्चियल्), दुर्ग (अरणियल्), खाद्य (कूळियल), सैन्य (पटैयियल्), मैत्री (नडपियल्), वश (कुटियियल) इत्यादि सात खण्ड किये गये हैं परन्तु यहा भी यह वर्गीकरण ऊपरी ही है। उदाहरण के लिए मैत्री के अन्तर्गत स्त्री का अनुसरण न करना, वेश्या, औषधि इत्यादि का समावेश हो जाता है। वश के अन्तर्गत दरिद्रता, याचना, नीचता इत्यादि का समाविष्ट हो जाना इस बात का सकेत है कि यह उपविभाजन सम्भवत बाद मे किया गया।

ग्रन्थ के तृतीय भाग काम (इनबम्) को गुप्त-प्रेम (कलवु) और पति-प्रेम (करपु) दो भागो मे विभक्त किया गया है। सकेत-परिचय, मिलन सुख, प्रेम की महिमा, लज्जा का त्याग, प्रवाद का परिज्ञान इत्यादि गुप्त-प्रेम अथवा पूर्वराग के विषय बने हैं। पति-वियोग से प्रारम्भ होकर विरह के कारण वेदनापूर्ण नेत्र, स्वप्नावस्था, अग-सौन्दर्य की क्षति, स्वगत सलाप, मान-भग, सयोग की प्रबल अभिलाषा पति-प्रेम के अन्तर्गत आये हैं। प्रिय-मिलन के पश्चात् हृदय पर वश न रहना, प्रणय कलह, प्रणय-कलह की सूक्ष्मता और उसका आनन्द इस भाग के विषय हैं। क्रमिक विकास की दृष्टि से यह विभाजन अत्यन्त सूक्ष्म है एव मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त सफल है। तिरुवल्लुवर ने धर्म, अर्थ और काम का वर्णन किया है, मोक्ष का वर्णन उन्होने नही किया, कारण स्पष्ट है—धर्म-युक्त जीवन व्यतीत करने के उपरान्त, मोक्ष स्वाभाविक परिणाम है। यहा जीवन के रागात्मक सम्बन्ध, गृहस्थ की परिसीमा मे आबद्ध होकर आये हैं, गृहस्थ के धर्म का विवेचन विस्तार से किया गया है। अर्थ के अन्तर्गत राज्य सगठन का विस्तृत विश्लेषण कर मानव-मात्र के कल्याण की भावना से 'राज्य' को प्रेरित किया गया है। इस प्रकार जीवन के सम्पूर्ण विवेचन के उपरान्त मोक्ष (वीडु) का वर्णन न होने का कारण सम्भवत यह है कि धर्म-आधृत अर्थ और काम के आदर्श से युक्त जीवन की परिणति 'मोक्ष' है।

कबीर-जीवनवृत्त

कबीर के जीवनवृत्त पर अनेक विद्वानो ने कार्य किया है। इनमे डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी,[१] डा० रामकुमार वर्मा,[२] डा० पीताम्बरदत्त बड्थवाल,[३] डा० श्यामसुन्दरदास,[४] डा०

---

१ कबीर।

२. संत-कबीर—प्रस्ताव भाग, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास।

३ हिन्दी काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय।

४. कबीर-ग्रन्थावली—भूमिका।

चन्द्रबली पाण्डेय,[1] डा० मोहनसिंह,[2] डा० गोविन्द त्रिगुणायत,[3] डा० परशुराम चतुर्वेदी,[4] डा० रामजीलाल 'सहायक',[5] डा० सरनामसिंह शर्मा,[6] इत्यादि अनेक विद्वानों का कार्य महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त डा० भण्डारकर,[7] श्री क्षितिमोहन सेन,[8] श्री जे० एन० फर्कुहर,[9] रेवरेण्ड एफ० ई० के,[10] रेवरेण्ड एच० जी० वेस्काट[11] इत्यादि विद्वानों ने भी अपनी कृतियों में कबीर के जीवन-वृत्त पर प्रकाश डाला है। पर समस्त ग्रन्थो के अध्ययन के उपरान्त भी यही कहने को बाध्य होना पड़ता है कि कबीर के जीवनवृत्त का अन्तिम एव प्रामाणिक निर्णय सम्भव नही है। निश्चय ही विश्लेषण के द्वारा, अन्त साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य के सूक्ष्म विवेचन के उपरान्त प्राप्त निष्कर्ष सत्य से बहुत दूर नहीं हैं। हमारा लक्ष्य इस विषय का पुर्नविवेचन करना नहीं है। अपितु सकेत रूप मे कुछ अश लेकर कबीर का अनुमानित जीवन-वृत्त प्रस्तुत करना मात्र है। तिरुवल्लुवर के जीवन के विषय में प्रचलित जनश्रुतियो से अद्भुत साम्य रखने वाली जनश्रुतियो का उल्लेख भी तुलनात्मक दृष्टि से लाभप्रद होने के कारण यहा किया जा रहा है।

यह जनश्रुति प्रचलित है कि कबीर का जन्म एक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से हुआ था। काशी में स्वामी रामानन्द के पास एक बाल-विधवा अपने पिता के साथ स्वामी जी के दर्शनार्थ गई। उन्होंने आशीर्वाद के रूप मे 'पुत्रवती भव' वचन कहे, परिणामस्वरूप कबीर का जन्म हुआ। महाराज रघुराजसिंह का अनुमान है कि उक्त विधवा ब्राह्मणी स्वामी रामानन्द की सेवा मे रहती थी, एक दिन जब स्वामी जी ध्यानस्थ दशा मे थे, उसे आशीर्वाद दे दिया जिसके कारण उसे गर्भ रह गया। उत्पन्न शिशु को लोक-लज्जा के कारण वह फेंक आई, जिसे जुलाहे दम्पति ने पाला।[12]

दूसरी किंवदन्ती है कि एक दिन स्वामी अष्टानन्द ने लहर तालाब मे एक विचित्र ज्योति को अवतरित होते देखा। उन्होंने इस घटना की सूचना स्वामी रामानन्द जी को दी। स्वामी रामानन्द जी ने अनायास कहा कि ज्योति बालक का रूप धारण कर लेगी और वह बालक अत्यन्त प्रतिभाशाली होगा और लोक-कल्याण करेगा। आगे चलकर यही ज्योति से परिणत बालक 'कबीर' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[13]

---

१ कबीर साहब का जीवनवृत्त, ना० प्र० स० पत्रिका, भाग १४।
२ *Kabir and His Biography*
३. कबीर की विचारधारा।
४. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, चतुर्थ भाग।
५ कबीर-दर्शन।
६ कबीर व्यक्तित्व, कृतित्व एवं सिद्धान्त।
७ *Vaishnavism, Shaivism and Minor Religious Systems*
८ *One Hundred Poems of Kabir*
१६. *A Primer of Hinduism, An Outline of the Religious Literature of India*
० *Kabir and His Followers*
११. *Kabir and the Kabir Panth*
१२. कबीर दर्शन, रामजीलाल 'सहायक', पृ० १६।
१३ वही, पृ० १६, एव *Kabir aud His Followers*, p 10

कबीर के समय के विषय में प्रमुख रूप से निम्नलिखित अन्तःसाक्ष्य का प्रमाण प्रस्तुत किया [illegible] है—

गुरु परसादी जयदेव नामा । भगति कै प्रेम इनही है जाना ।[1]

इससे कबीर का जयदेव तथा संत नामदेव का परवर्ती होना निश्चित होता है। जयदेव का समय बारहवी शताब्दी और नामदेव का समय तेरहवीं शताब्दी का अन्तिम चरण माना जाता है। नाभादास कृत भक्तमाल (सवत् १६४२) सन् १५८५ तथा अबुलफजल अल्लामी के आइन-ए-अकबरी (सवत्१६५५) सन् १५६८ में कबीर का उल्लेख मिलता है।[2] इसके अतिरिक्त अनेक प्रमाण देकर डा० रामजीलाल 'सहायक' ने निष्कर्ष निकाला है कि कबीर का समय चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ से पूर्व नही था तथा पन्द्रहवी शताब्दी के अन्तिम चरण के पूर्व था। "हमारा निश्चित मत है कि कबीर का समय चौदहवीं शताब्दी तथा पन्द्रहवी शताब्दी के बीच में था।"[3] डा० रामकुमार वर्मा ने ऐतिहासिक एव साहित्यिक प्रमाणों का विस्तृतत विश्लेषण करने के उपरान्त सन्त कबीर का जन्म सवत् १४५५ (सन् १३६८) में और निधन सवत् १५५१ (सन् १४६४) के लगभग माना है।[4] डा० सरनामसिंह शर्मा इसी प्रकार ऐतिहासिक घटनाओं के उल्लेख, पीपा के जन्मकाल, कबीर एव स्वामी रामानन्द के सम्बन्ध, सिकन्दर लोधी द्वारा किये गए अत्याचार-विषयक जनश्रुति तथा कबीर-पन्थियो मे प्रचलित पद इत्यादि अनेक प्रमाणो के आधार पर कबीर की जन्म-तिथि सवत् १४५५ की ज्येष्ठ पूर्णिमा स्वीकार करते हैं। मृत्यु तिथि के विषय मे प्राय स्वीकृत मत संवत् १५७५ है।[5] जन्म और मृत्यु की तिथियो के सघर्ष मे उलझना हमारे अध्ययन के लिए महत्त्वहीन है। यहा तो कबीर की उपलब्ध सामग्री का तिरुवल्लुवर काव्य से भारतीय चिन्ताधारा के सन्दर्भ मे विवेचन करना ही अभिप्रेत है।

कबीर की जाति

कबीर की जाति के विषय में भी मतभेद बहुत प्रबल हैं। कोई उन्हे ब्राह्मण और कोई जुलाहा कहता है। अन्त साक्ष्य के रूप मे अनेक परस्पर विरोधी प्रमाण मिलते हैं पर—

(१) पूरब जनम हम तुम्हरे सेवक अब तो मिटया न जाई।
तेरे द्वारे धुनि सहज की मथं मेरे दगाई ॥[6]

(२) तू ब्राह्मण मैं कासी का जुलाहा, चीन्हि न मोर गियाना।
× × ×
पूरब जनम हम ब्राह्मण होते, वोछे करम तप हीना ।।
रांमदेव की सेवा चूका, पकरि जुलाहा कीन्हा ॥[7]

---

१ कबीर ग्रथावली, पृ० २५१।
२ कबीर-दर्शन, रामजीलाल 'सहायक', पृ० १७।
३. वही, पृ० १८।
४. सन्त कबीर · डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ५६।
५ कबीर . व्यक्तित्व, कृतित्व एव सिद्धान्त, पृ० ३-४।
६ कबीर ग्रथावली, पृ० २४६।
७ वही, पृ० १२८-२६।

(३) जाति जुलाहा नाम कबीरा, अजहूं पतीजौ नांही ॥[1]
(४) आइ हमारैं कहा करौगी, हम तौ जाति कमीनां ॥[2]
(५) जाति जुलाहा नाम कबीरा, बनि बनि फिरौं उदासी ॥[3]
(६) ओछी मति मेरी जाति जुलाहा। हरि का नाम लह्यो मैं लाहा।[4]

इत्यादि अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिसके आधार पर यह निष्कर्ष सम्भव है कि कबीर, समाज में निम्न कही जाने वाली 'जुलाहा' जाति के थे। डा० रामजीलाल 'सहायक' कबीर कसौटी के 'माय तुरकनी बाप जोलाहा, बेटा भक्त होय'[5] और डा० सरनामसिंह शर्मा 'सन्त-कबीर' से 'मेरी जाति का सब कोइ हसनहार' इत्यादि उद्धरण देकर दो भिन्न निष्कर्षों पर पहुचे हैं। पहले विद्वान् कबीर को हिन्दू मानने के पक्ष मे हैं, दूसरे कबीर को मुसलमान जाति का जुलाहा। इस विषय मे डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत महत्त्वपूर्ण है। उनके अनुमान के अनुसार "कबीरदास जिस जुलाहा जाति में पालित हुए थे वह एकाध पुश्त पहले के योगी जैसी किसी आश्रम भ्रष्ट जाति से मुसलमान हुई थी या अभी होने की राह में थी।"[6] विचार करने पर यह निष्कर्ष अधिक समीचीन लगता है कि "कबीर के कुल का सम्बन्ध हिन्दू धर्म तथा हिन्दू संस्कृति से था। कालान्तर में उनके कुल वालो ने मुस्लिम धर्म को स्वीकार किया। अनुलोम तथा अवर्णीय विवाह अथवा विलोम-विवाह प्रथाओ के अनुसार उनकी मा मुसलमान वर्ण की तथा बाप हिन्दू वर्ण के होते हुए भी दाम्पत्य जीवन में बध गये।"[7] कबीर के काव्य में भारतीय समाज, भारतीय जीवन, रीति-रिवाज का जो चित्र मिलता है वह अनुपम है और उससे यह स्वाभाविक निष्कर्ष निकलता है कि कबीर भारतीय परम्परा और जीवन-पद्धति से पूर्णरूपेण परिचित थे। कबीर की विचारधारा मे ओतप्रोत यह तत्त्व उनके हिन्दू रूप को बार-बार स्वर प्रदान करते हैं।

कबीर के गुरु

स्वामी रामानन्द को कबीर का गुरु मानने में विद्वान् प्राय सहमत हैं। डा० सरनामसिंह शर्मा जनश्रुति, समकालीनता, कबीर की उक्तिया, अन्य महात्माओ की वाणिया एव प्राचीन कृतियो इत्यादि अनेक सम्बद्ध विषयो का विश्लेषण कर इस निष्कर्ष पर पहुचे है कि कबीर के गुरु रामानन्द थे और उन्होने ही कबीर को राम नाम का मन्त्र देकर प्रेमाभक्ति में दीक्षित किया था।[8] डा० भडारकर, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० श्यामसुन्दरदास, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० रामजीलाल 'सहायक' आदि अनेक विद्वानो का मत भी यही है।

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृ० १३४।
२ वही, पृ० १३५।
३ वही, पृ० १३५।
४ वही, पृ० २४२।
५ कबीर-दर्शन, पृ० १६।
६. कबीर, पृ० ११।
७. कबीर-दर्शन, पृ० १६।
८ कबीर व्यक्तित्व, कृतित्व एव सिद्धान्त, पृ० ५०।

कबीर का पर्यटन

कबीर ने पर्याप्त पर्यटन किया था। बीजक की एक रमैनी में कबीर का मानिकपुर जाना और वहां सेख तकी की प्रशंसा सुनना वर्णित है। "उसमें जौनपुर और झूसी में भी पीरों के नाम सुनने का उल्लेख है। इन स्थानों में कबीर का आना असंभव नहीं।"[१] "अनेक प्रादेशिक शब्दों और शब्द-रूपों का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन कबीर के व्यापक पर्यटन का परिचय देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर ने गुजरात, पंजाब, राजस्थान, मध्यप्रदेश, भोजपुर प्रदेश, मिथिला आदि अनेक प्रदेशों में भ्रमण किया था।"[२]

गृहस्थ जीवन

परम्परा से यह माना जाता है कि कबीर के अतिरिक्त इनके परिवार में नीरू (पिता), नीमा (माता), लोई (पत्नी या शिष्या) तथा कमाल और कमाली (संतान) थे।[३] कबीर की दो स्त्रियों का अनुमान डा० रामकुमार वर्मा ने किया है। पहली का नाम लोई था और दूसरी का धनिया, जिसे लोग रमजनिया भी कहते थे। अन्त साक्ष्य से प्रतीत होता है कि कबीर लोई के व्यवहार से असन्तुष्ट थे—

हम तुम बीच भयो नही कोई। तुमहि सुकत नारि हम सोई।
कहत कबीर सुनहु रे लोई। अब तुमरी परतीति न होई॥[४]

कबीर के गृहस्थ जीवन विषयक उपलब्ध अन्त साक्ष्य और अन्य प्रमाणों का विश्लेषण कर डा० रामजीलाल 'सहायक'[५] इस निष्कर्ष पर पहुचे हैं कि कबीर का गृहस्थ जीवन सुखमय नहीं था। परिवार के भरण-पोषण का समूचा भार कबीर के कन्धों पर था। कबीर ने गृहस्थ-जीवन वैराग्य भावना के साथ बिताया। वे घर मे अधिक लिप्त नही हुए, अपितु वैराग्य और निरासक्त भाव से गृहस्थ जीवन मे रहकर ही आनन्द की खोज करते रहे।

कबीर का व्यवसाय

कबीर की जाति जुलाहा थी, इस निष्कर्ष पर पहुचने के उपरान्त उनके व्यवसाय का उल्लेख प्रथम दृष्टि मे अनुपयुक्त ही प्रतीत होता है, पर यदि इस तथ्य की ओर ध्यान दें कि हमारे विवेच्य विषय के दूसरे कवि—तिरुवल्लुवर की जाति भी जुलाहा मानी जाती है तो इस विषय मे रुचि उत्पन्न होना स्वाभाविक है। कबीर का जुलाहा-रूप उनके काव्य में अभिव्यक्ति प्राप्त करता है, तिरुवल्लुवर का 'जुलाहा' उनके काव्य से कही परे, बहुत दूर है। कबीर और तिरुवल्लुवर दोनो का जुलाहा होना दोनो को किसी प्रकार से निकट नही लाता, पर दोनो कवि समाज में

---

१ हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास डा० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १३२।
(मानिक पुरहि कबीर बसेरी। मद्दति सुनि सेख तकि केरी।
ऊनो सुनी जवनपुर थाना। झूसी सुनि पीरन के नामा॥—रमैनी ४८)।
२ कबीर व्यक्तित्व, कृतित्व एव सिद्धान्त, डा० सरनामसिंह शर्मा, पृ० ६१।
३. कबीर दर्शन, पृ० ३५।
४. कबीर ग्रथावली, पृ० २०६।
५ कबीर दर्शन, पृ० ३६।

तथाकथित निम्नजाति के हैं, यह निष्कर्ष हमारे अध्ययन मे कहीं सहायक हो सकेगा, ऐसा अनुमान मात्र लगाया जा सकता है।

कबीर का कथन है—'कबीर मेरी जाति को सब कोई हसन हारु'[१] ऐसी निम्न जाति होने के कारण वे कहते हैं—जाति जुलाहा नाम कबीरा अजहू पतीजो नाही।[२] यही भाव अन्यत्र 'आइ हमारे कहा करोगी, हम तो जाति कमीना', 'तेरा हरि नामैं जुलाहा'[४] और 'जाति जुलाहा नाम कबीरा, बनि-बनि फिरौं उदासी' इत्यादि मे भी अभिव्यक्त हुआ है। समाज मे 'कमीन' जातिया वही कहलाती थी जिनके कार्य हेय दृष्टि से देखे जाते थे। पर कबीर अपनी इस स्थिति के कारण असतुष्ट नही। प्रतिभा के प्रबल प्रताप और गुरु की कृपा से प्राप्त ज्ञान के कारण वे ब्राह्मण, मुल्ला, काजी इत्यादि समाज के तथाकथित उच्च वर्ग से अपने आपको श्रेष्ठ मानते हैं। 'कबीर जी की परचै' मे अनन्तदास ने कबीर को जुलाहा ही बताया है—'जाति जुलाहौ कासी बसो, सबको जानै हरि को रसो।' रज्जब के अनुसार "जुलाहे ग्रमे उत्पन्यो साध कबीर।' कबीर काव्य मे सूत, बुनाई के उपकरण, तथा बुनाई की प्रक्रिया सम्बन्धी शब्दो के बार-बार उल्लेख से इसी की पुष्टि होती है।[५] जुलाहे के व्यवसाय और सतसेवा का सयुक्त परिणाम कम आय, पारिवारिक कलह,[६] इत्यादि हुआ, जिसके कारण सम्भवत कबीर ने यह व्यवसाय छोडकर कोई व्यापार कर लिया था। 'बैठि बेगारि बुराई थाकी'[७] से बेगार की प्रथा का और—

"जब हम बनजी लौंग सुपारी, तब तुम्ह काहे बनजो खारी।
जब हम बनजी परमल कस्तूरी, तब तुम्ह काहे बनजी कूरी॥'[८]

से कबीर का अनेक वस्तुओ के क्रय-विक्रय के व्यापार का सकेत ग्रहण किया जा सकता है। डा० सरनामसिंह तो यहा तक निष्कर्ष निकालना चाहते है कि 'कबीर की आध्यात्मिक प्रवृत्ति ने उनके ध्यान को वाणिज्य मे जमने नही दिया।'[९] जो भी हो, कबीर का जीवन आर्थिक, पारिवारिक, सामाजिक सभी दृष्टियो से सघर्षमय था। यह निष्कष एक ओर उनके कथनो की तीव्रता और तीखेपन का विश्लेषण करता है तो दूसरी ओर उनकी असीम इच्छाशक्ति, सघर्ष की अद्भुत क्षमता और उनके जीवन मे निहित प्रेरणा-शक्ति को भी उद्भासित करता है।

सामाजिक दृष्टि से निम्न मानी जाने वाली जाति के होते हुए कबीर ने समाज की जिन बुराइयो, कुरीतियो और आडम्बरयुक्त विधियो तथा उनके मानने वालो का जो विरोध किया है वह उनकी अपनी ही विशेषता है। वह समाज मे देख रहे थे कि पडित वेदो के अर्थों में उलझ

---

१ कबीर-दर्शन, पृ० ३८।
२ कबीर ग्रथावली, पृ० १३४।
३. वही, पृ० १३५।
४ वही, पृ० १३६।
५ सामग्री का आधार—कबीर दर्शन, पृ० ३६-४०।
६ 'लरकी लरकिन खैबो नाहि, मुडीआ अनहिन धाये जाहि।'—वही, पृ० ४०।
७ कबीर ग्रथावली, पृ० १३६।
८. वही, पृ० १४०।
९ कबीर व्यक्तित्व, कृतित्व एव सिद्धान्त, पृ० ५७।

कर रह गए हैं, सध्या, तर्पण, षट्कर्म इत्यादि में ही सत्य मान कर गर्व कर रहे हैं,[१] मुसलमान दिल में कपट रखते हैं और हज के लिए काबा जाते हैं,[२] कोई मन्दिर को अन्तिम सीमा मान चुका है और कोई अल्लाह का निवास केवल मस्जिद में ही मानता है।[३] दोनों ही मार्ग-भ्रष्ट हैं, ऊच-नीच का भेद-भाव करने वाले यह भूल गये हैं कि सृष्टि का नियामक, सचालक, संहारक एक ही सत्यरूप प्रभु है।[४] स्वभाव से फक्कड़, सत्य के जिज्ञासु, अपनी धुन के मतवाले कबीर यह सब कहा सहन कर सकते थे ? वे तो वेद-शास्त्र पढ़े-लिखे नहीं थे, हृदय की मस्ती उन्होने प्राप्त की थी। प्रखर और चेतन मस्तिष्क को 'भक्तों की कथाओ और वाणियो, दर्शन की सामान्य चर्चाओ, सूफियो की ललित प्रेमाख्याओं को सुनने-सुनाने का अवसर अवश्य मिला होगा। उनकी वाणी पर इनकी जो मुद्रा लगी हुई है, वह इस तथ्य को प्रमाणित करती है।'[५]

कबीर का व्यक्तित्व

कबीर के व्यक्तित्व के विषय में हमे यह ध्यान रखना होगा कि सामाजिक भेदभाव का, चाहे वह धर्म, जाति, वर्ण, आर्थिक स्थिति, किसी कारण से भी था, उन्होने डटकर विरोध किया। किसी भी शास्त्र अथवा बाह्य आधार पर ग्रहण की गई उपाधि इत्यादि को उन्होंने मान्यता प्रदान नही की। इस विषय मे कबीर की अभिव्यक्ति कभी-कभी साधारण लोक-मर्यादाओ की सीमा मे भी आगे चली जाती है। कुछ उदाहरण इस विषय को स्पष्ट करने के लिए उपयुक्त ही रहेगे —

१. जे तूं बांभन बभनी जाया, तो आन बाट ह्वै काहे न आया।
   जे तू तुरक तुरकनी जाया, तौ भीतरि खतना क्यू न कराया।।[६]

२. पाडे कौन कुमति तोहि लागि, तू राम न जपहि अभागी।
   बेद पुरान पढ़त अस पाडे, खर चदन जैसै भारा।।[७]

३ माला तिलक पहरि मनमाना, लोगनि राम खिलौना जांनां।।[८]

४ देव पूजि पूजि हिंदू मूये, तुरक मूये हज जाई।
   जटा बाधि बाधि योगी मूये, इन मैं किनहू न पाई।।[९]

विचित्र बात तो यह है कि इसके उपरात भी जब उन्हे सत्य का मार्ग बताया जाता

---

१ पडित भूले पढि गुनि बेदा। आपु अपनपौ जान न भेदा।
सभ्या तरपन अरु खट करमा। लागि रहे इनके आसरमा।।
—कबीर ग्रथावली (पा० ना० ति०), पृ० १२०।

२. दिल महिं कपट निवाज गुजारै क्या हज काबै जाए।। —वही, पृ० १०३।

३ जौ रे खुदाइ मसीति बसतु है और मुलुक किस केरा।। —वही, पृ० १०३।

४ नही को ऊचा नही को नींचा, जाका प्यड ताही का सींचा।—कबीर ग्रथावली, पृ० ७६।

५ कबीर—व्यक्तित्व, कृतित्व एव सिद्धान्त—डा० सरनाम सिंह शर्मा, पृ० ३९।

६ कबीर ग्रथावली, पृ० ७६।

७ वही, पृ० ७८।

८. वही, पृ० १५३।

९ वही, पृ० १४६।

है जो अपने घमंड में डूबे, 'गवार' सत्य को स्वीकार नहीं करते—

१. आं को जानै ना को मानै, तार्थं अचिरज मोहि।
मैं मेरी करि यहु तन खोयौ, समझत नही गंवार ॥[1]

२. जोगी जती तपी सन्यासी, मठ देवल बसि परसै कासी।
तीन बार जे नित प्रति न्हावै, काया भींतरि खबरि न पावैं ॥[2]

३. पीरां मुरीदां काजियां, मुला अरु दरवेस।
कहां थें तुम्ह किनि कीये, अकलि है सब नेस।
कुराना कतेवा अस पढि-पढि, फिकरि या नही जाइ।
टुक दम करारी जे करै, हाजिरा सूर खुदाइ ॥[3]

४. माला पहरै मनमुषी, तार्थं कछू न होइ।[4]

५. केसौं कहा बिगाडिया, जे मूडै सौ बार।[5]

६. छापा तिलक बनाइ करि, दगध्या लोक अनेक।[6]

७ का नागें का बाधे चाम, जौ नही चीन्हसि आतम राम।
नागे फिरें जोग जे होई, बन का मृग मुकुति गया कोई।
मूड़ मुडायें जो सिधि होई, स्वर्ग ही भेड न पहुती कोई ॥[7]

इस प्रकार के अनेकानेक पद कबीर के सम्पूर्ण काव्य मे एक विशेष स्थान रखते हैं। उनके काव्य में आये इस प्रकार के पद उनकी सम्पूर्ण सामाजिक स्थिति और उनके जीवन के सघर्ष का सकेत देते हैं। उन्होने एक ओर पीरो, मुरीदो, काजियो, मुल्लाओ और दरवेशो के घृणित कार्यों का उद्घाटन किया तो दूसरी ओर पाडे, पुजारी, भक्ति-विमुख कर्मकाण्ड एव बाह्याचार मे उलझे हुए हिन्दुओ को भी खूब खरी-खोटी सुनाई। कबीर की इस प्रवृत्ति ने निश्चय ही उन्हे कठिनाई में डाला होगा। तभी तो उन्हे 'तू ब्राह्मण मैं कासी का जुलाहा, चीन्हि न मोर गियाना' कहना पडा होगा। मुसलमानों के प्रति कहे गये वचनो ने उधर से भी विरोध उत्पन्न किया होगा। डा० सरनामसिंह शर्मा का मत है कि सभी उच्चवर्ण, धर्म-पदाधिकारी तथा शासनाधिकारी कबीर से असन्तुष्ट थे। इस असन्तोष ने कबीर के चारो ओर सघर्ष का वातावरण पैदा कर दिया था।[8] कबीर पर किये गये अत्याचारो का उल्लेख भी मिलता है, पर उन्होंने निरन्तर हिन्दू और मुसलमान दोनो के दोषो को उभारा और अपनी दृष्टि से सुधार का हर सम्भव प्रयास किया। समाज मे तथाकथित निम्न जाति, निरन्तर सघर्ष, अपने सिद्धान्तो पर प्रबल आस्था, अभिव्यक्ति का फक्कडाना अदाज, किसी प्रकार का भी सैद्धान्तिक समझौता स्वीकार न करना इत्यादि कबीर के जीवन की ऐसी विशेषताए हैं, जिन्होने उन्हें हिन्दी साहित्य ही नही, सम्पूर्ण जगत के साहित्य मे विशेष स्थान उपलब्ध करवाया है।

---

१. कबीर ग्रथावली, पृ० १४६।
२. वही, पृ० १३६।
३. वही, पृ०, १३०।
४. वही, पृ० ३५।
५. वही, पृ० ३६।
६. वही, पृ० ३६।
७. वही, पृ० ६६।
८. कबीर व्यक्तित्व, कृतित्व एव सिद्धान्त, पृ० ६७।

२

तिरुवल्लुवर और कबीर की (अरम्) धर्म-विषयक मान्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन

खण्ड 'क'

धर्म-विषयक मान्यताओं का विकास

धर्म और तमिल 'अरम्' का सम्बन्ध, धर्म की व्युत्पत्ति, धर्म के आधार, वेद मे धर्म, उपनिषद् मे धर्म, धर्मसूत्र मे धर्म, स्मृति ग्रन्थो में धर्म, वाल्मीकि रामायण मे धर्म, महाभारत मे धर्म, पुराण मे धर्म, धर्म और नीति, धर्म के रूप, परिभाषा का प्रश्न।

तिरुवल्लुवर और कबीर के अनुसार

धर्म का महत्त्व, धर्म और प्रवृत्ति मार्ग (गृहस्थ), धर्म और निवृत्ति मार्ग, धर्म और प्रेम भाव, धर्म का व्यक्तिपरक रूप—मन, वचन, कर्म से धर्माचरण, मन—आत्म-सयम, इन्द्रिय-निग्रह, तृष्णा-त्याग, वचन—सत्यभाषण, मधुर भाषण, मितभाषण, कर्म—अहिंसा, सदाचार, मांसाहार-निषेध, धर्म का समाजगत रूप (लोकाचार)—अपरिग्रह, परनिन्दा-त्याग, अक्रोध, परस्त्री-गमन न करना, बाह्याडम्बर-विरोध, परोपकार, अतिथि-सत्कार, दान, कृतज्ञता, समदृष्टि, क्षमाभाव इत्यादि, निष्कर्ष।

खण्ड 'ख'

धर्म और दर्शन (तिरुवल्लुवर और कबीर के विचार)

(अ) तत्त्वज्ञान, (आ) ईश्वर, (इ) जगत एव उसकी नश्वरता, (ई) कर्म-सिद्धान्त।

धर्म की व्युत्पत्ति

'धर्म' शब्द व्याकरण की रीति से 'धृञ् धारणे' धातु से 'अर्तिस्तु-सुहुसृधृक्षिभिक्षु माया-वापदियक्षिनीभ्यो मन्' इस पाणिनि व्याकरण के उणादि सूत्र से 'मन्' प्रत्यय लगने पर होता है। विद्वानो ने इसी धात्वर्थ को लक्ष्य मे रखकर इसकी व्युत्पत्ति की है —

(अ) ध्रियते लोक अनेन इति धर्म —जिससे लोक धारण किया जाए वह धर्म है।

(आ) धरति धारयति वा लोकम् इति धर्म —जो लोक का धारण करे वह धर्म है।

(इ) ध्रियते य स धर्म —जो दूसरो से धारण किया जाए वह धर्म है।

महाभारत मे धर्म शब्द के व्युत्पत्तिगत दो अर्थ बताये गए हैं। पहला है 'धन' पूर्वक 'ऋ' धातु मे 'मक्' प्रत्यय के योग से 'धर्म' शब्द बनता है। जिसका अर्थ है—'जिसके द्वारा धन की प्राप्ति हो। 'धन' शब्द से पार्थिव, अपार्थिव हर प्रकार के धन को समझना चाहिए। दूसरी तरह से धारणार्थक 'धृञ्' धातु के साथ 'मन्' प्रत्यय का योग करने पर धर्म शब्द बनता है। इसका अर्थ है—जो सबको धारण करे, अर्थात् लोकस्थिति जिस पर निर्भर हो। उपर्युक्त दोनो अर्थों मे से हम कोई भी ले सकते हैं। साराश मे—जिसके द्वारा व्यष्टि एव समष्टि रूप से लोकस्थिति विधृत हो अर्थात् जिसको केन्द्र मानकर प्रत्येक का जीवन चलता हो अथवा जो वस्तु अर्थ-काम आदि की प्राप्ति मे सहायक हो, उसे धर्म कहते हैं।[1]

धर्म के आधार

विभिन्न स्मृतिकारो ने धर्म का मूल वेद माना है। गौतम धर्मसूत्र में वेद को धर्म का मूल माना है।[2] आपस्तम्बधर्मसूत्र मे धर्मज्ञ, वेद को जानने वाले विद्वान् का मत ही धर्म प्रमाण माना गया है।[3] वसिष्ठ धर्मसूत्र मे 'श्रुतिस्मृति-विहितो धर्म ' द्वारा यही मत अभिव्यक्त किया गया है।[4] श्रीमद्भागवत मे भी धर्म का आधार वेद ही स्वीकार किया गया है।[5] इस ग्रन्थ में

---

१ धनात् स्रवति धर्मो हि धारणाद्वेति निश्चय ।—शाति० ९०।१७।
धारणाद्धर्ममित्याहुधर्मो धारयते प्रजा ।
यत् स्याद्धारणसयुक्त स धर्म इति निश्चय ॥—कर्ण० ६९।५९, शाति० १०९।११।
—महाभारत कालीन समाज, सुखमय भट्टाचार्य, पृ० २७२।

२ 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'—गौतम धर्मसूत्र, १।१।२।

३ 'धर्मज्ञसमय प्रमाण वेदाश्च'—आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १।१।१।२।

४. वसिष्ठ धर्मसूत्र, १।४।६।

५ वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्यय । —श्रीमद्भागवत पुराण, ६।१।४०।

वेद के अतिरिक्त स्मृति तथा चित्त को प्रसन्न करने वाले आचरण को भी धर्म का मूल स्वीकार किया गया है।[1] मनु ने धर्म की कसौटी व्यावहारिक एव व्यापक बनाई है। उनका कथन है कि वेद, स्मृति, सदाचार एव स्वानुभूति ये चार धर्म के साक्षात् लक्षण हैं।[2] याज्ञवल्क्य स्मृति में भी लगभग यही कथन उपलब्ध है—वेद, स्मृति, सदाचार, जो अपने को प्रिय लगे तथा सम्यक सकल्प से उत्पन्न इच्छा, ये ही परम्परा से प्राप्त धर्म के उपादान हैं।[3] मनु ने धर्म के उपादानों पर विचार करते हुए वेद, वेदज्ञो की परम्परा, उनका व्यवहार, साधु जनो का आचार तथा आत्मतुष्टि को क्रमिक महत्त्व दिया है।[4] धर्म का मूल एव मुख्य प्रमाण वेद है—'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'[5] एव 'धर्मं जिज्ञासमानाना प्रमाण परम श्रुति।[6] इस प्रकार धर्म के मूल उपादानों के रूप मे वेद, स्मृतिया तथा परम्परा से प्राप्त सदाचार ही स्वीकृत हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति में इस विषय में कहा गया है कि धर्मशास्त्र के ज्ञाता चार ब्राह्मणो की परिषद् अथवा वेदत्रयी का एक भी ज्ञाता अथवा अध्यात्मज्ञान मे निपुण जो धर्म बतलाता है वह धर्म है।[7] वेद धर्म सम्बन्धी नियमों का सग्रह नहीं, वहा धर्मविषयक बातें प्रसगवश आई हैं, पर कालान्तर में धर्मसूत्रों एव धर्मशास्त्रो में जिन विधियो का उल्लेख हुआ, वे मूलत वैदिक साहित्य मे उपलब्ध हैं। बोधायन स्मृति मे धर्म के प्रश्न पर विचार करते हुए यह मत व्यक्त किया गया है कि प्रथम स्थान पर वेद, द्वितीय स्थान पर वेद-आधृत स्मृति और तत्पश्चात् शिष्ट-जन का आचरण धर्म है। 'मत्सरता, अहकार, सग्रह-लोलुपता, दम्भ, दर्प, लोभ, मोह और क्रोध' से रहित मनुष्य को शिष्ट माना गया है। इसके साथ ही उसे वेद तथा उसके अगोपाग का ज्ञान होना अनिवार्य है। बोधायन ने इस प्रकार के विशिष्ट शिष्ट-जन को धर्म का प्रमाण माना है।[8] पाराशर स्मृति भी वेदो के ज्ञाता के कथन को धर्म मानने का आदेश देती है।[9] पाराशर,

---

१. धर्ममूल हि भगवान् सर्ववेदमयो हरि । स्मृत च तद्विदा राजन् येन चात्मा प्रसीदति ॥
—वही, ७।११।७।

२. वेद स्मृति सदाचार स्वस्य च प्रियमात्मन ।
एतच्चतुर्विध प्राहु साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥—मनु०, २।१२।

३ श्रुति स्मृति सदाचार स्वस्य य प्रियमात्मन ।
सम्यक् सकल्पज कामो धर्म्ममूलमिद स्मृतम् ॥—याज्ञवल्क्य, १।७।

४. वेदोऽखिलो धर्ममूल स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥—मनु० २।६।

५ मनु०, २।६।

६ वही, २।१३।

७. चत्वारो वेदधर्म्मज्ञ पर्षदत्रैविद्यमेव वा ।
सा ब्रूते यत् स धर्म्म स्यादेको बाध्यात्मवित्तम ॥—याज्ञवल्क्य, १।९।

८. उपदिष्टो धर्म प्रतिवेदम् । स्मार्तो द्वितीय । तृतीय शिष्टागम ॥ शिष्टा खलु विगतमत्सरा निरहकारा कुम्भीधान्याअलोलुपा दम्भदर्पलोभ-मोहक्रोधविवर्जिता । धर्मेणाऽधिगतो येषा वेद सपरिवृहण । शिष्टास्तदनुमानज्ञा श्रुति प्रत्यक्षहेतव इति ॥
—बोधायन, १ से ६।

९ चत्वारो वा त्रयो वापि य बूयुर्वेदपारगा स धर्म इति ।—पाराशर, १७५।

बोधायन इत्यादि में ज्ञानी शिष्ट-जनों की परिषद् द्वारा भी धर्म-निर्णय का उल्लेख है।[१] धर्म-सूत्रों एव स्मृति-ग्रन्थों में शिष्ट-जन के आचार को भी धर्म का उपादान स्वीकार किया है। इस विषय पर विचार अपेक्षित है। गौतम 'वेदो''धर्म मूलम्' कहने के पश्चात् 'तद्विदां च स्मृति-शीले'[२] कहकर वेदज्ञों के शील तथा स्मृति को भी धर्म का प्रमाण मानते हैं। आपस्तम्ब धर्म-सूत्र में सामयाचारिक धर्मों की व्याख्या करते हुए धर्मज्ञो एव वेदज्ञों के आचरण को प्रमाण स्वीकार किया है।[३] वसिष्ठ के मतानुसार धर्म श्रुति और स्मृति विहित है। इनमें उपलब्ध न होने पर शिष्ट जनो का आचरण ही प्रमाण है। वसिष्ठ के अनुसार सांसारिक इच्छाओं से रहित मनुष्य शिष्ट हैं। उनके केवल वही कर्म धर्म माने जाएंगे जिनके पीछे कोई लौकिक कारण या वृत्ति न हो।[४] मनु के मत का उल्लेख करते हुए यह स्पष्ट किया जा चुका है कि वह वेद, स्मृति एवं शिष्ट जनो के आचार को धर्म का मूल मानते हैं।[५] यही मत याज्ञवल्क्य ने भी प्रस्तुत किया है।[६] उपर्युक्त मतों के आधार पर एक निश्चित तथ्य यह प्राप्त हुआ कि वेद धर्म का मूल है और वेद के पश्चात् 'स्मृति' का स्थान है। स्मृति और वेद के मत मे अन्तर होने पर वेद का मत ही ग्राह्य होगा। स्मृति के पश्चात् शिष्ट-जनो के आचरण को धर्म का आधार मानने का विधान है। 'आचार', 'सदाचार' अथवा 'शिष्टाचार' को धर्म के मूल के रूप में मानने के प्रश्न पर विचार करते हुए डा० काणे ने मत व्यक्त किया है कि 'जिस प्रकार वेद एव स्मृतिया धर्म के विषय मे प्रामाणिकता उत्पन्न करती हैं, उसी प्रकार जीवन की परिवर्तित परिस्थितियो मे वास्तविक धर्म की खोज मे शिष्टो के व्यवहार हमें आवश्यक कसौटी प्रदान करते हैं अर्थात् शिष्टो के आचार से यह प्रकट हो जाता है कि हमारा कार्य शास्त्र-विहित है कि नही।''[७]

'धर्म' शब्द का प्रयोग वैदिक काल से आधुनिक काल तक अक्षुण्ण रूप से हो रहा है। युग-परिवर्तन के साथ सामाजिक, राजनीतिक एव धार्मिक मूल्यो मे परिवर्तन स्वाभाविक है। 'धर्म' भी युग-परिवर्तन के साथ अपना व्यावहारिक रूप बदलता है। उसका क्षेत्र कभी विस्तृत और कभी सकुचित होता रहता है। तिरुवल्लुवर और कबीर के काव्य के धर्म-विषयक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन करने से पूर्व 'धर्म' के क्रमिक विकास का अध्ययन अनिवार्य आवश्यकता है। भारत की सास्कृतिक परम्परा मे वेद, उपनिषद्, धर्मसूत्र, स्मृतिशास्त्र, वाल्मीकि रामायण, महाभारत, पुराण ग्रन्थ एव काव्य-साहित्य मे 'धर्म' के अर्थ-विकास पर विचार कर 'धर्म' के अन्तर्गत स्वीकृत कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्धारण कर लेना इस प्रसग मे समीचीन है।

---

१ देखें, बोधायन—७,८,९, पाराशर, १८१, १८२, १८३।

२ गौतमधर्मसूत्र, १।१,२।

३ अथात सामयाचारिकान्धर्मान् व्याख्यास्याम।—धर्मज्ञसमय प्रमाणम् वेदाश्च।
आप० ध० सू०, १।१।१,२,३।

४ श्रुतिस्मृतिविहितो धर्म। तदलाभे शिष्टाचर प्रमाणम्। शिष्ट' पुनरकामात्मा। अगृह्यमाणकारणो धर्म —वसिष्ठ धर्मसूत्र, १।४-७।

५ मनु० २।१२।

६ याज्ञवल्क्य स्मृति, १।७।

७. धर्मशास्त्र का इतिहास—डा० काणे, प्रथम खण्ड, पृ० ९५३।

४०२५

वेद मे धर्म

भारतीय संस्कृति के मूल स्रोत वेदो के अन्तर्गत 'धर्म' शब्द का प्रथम प्रयोग 'ऋग्वेद' में हुआ है—

त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्य ।
अतो धर्माणि धारयन् ॥[१]

वेद मे धर्म का प्रयोग विभिन्न अर्थों मे हुआ है। यहा धर्म मुख्यत रीति,[२] नैतिक नियम,[३] साधारण कर्त्तव्यकर्म[४] एव उचित[५] के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। वेदो का उपदेश है कि धर्म के अनुसार जीवन-यापन और समाज-सगठन होना चाहिए। इस काल के धर्म का आधार मूलत ऋत और सत्य[६] है। सत्य के मार्ग का अनुगमन करते हुए लौकिक सुखो की प्राप्ति करना, आत्मज्ञान की ओर अग्रसर होकर सत्य को जानने का प्रयास मानव का लक्ष्य स्वीकार किया गया। सत्य को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। ऋग्वेद मे उल्लेख है कि सत्य वचन और असत्य वचन मे स्पर्धा होती है। इन दोनो मे जो सत्य है (यत् सत्य) जो ऋजु है (यतरत् ऋजीय') सोम उसीकी रक्षा करता है और असत्य को विनष्ट करता है।[७]

अनेक स्थलो पर धर्म 'धार्मिक विधियो' या 'धार्मिक क्रिया-सस्कारो' के रूप मे ही प्रयुक्त हुआ है। कुछ स्थलो पर धर्म का अर्थ 'निश्चित नियम' या 'आचरण-नियम' है।[८] अथर्ववेद के 'ऋत सत्य तपो राष्ट्र श्रमो धर्मश्च कर्म च'[९] मे धर्म शब्द का अभिप्राय 'धार्मिक क्रिया सस्कारो मे प्राप्त गुण' से है। 'धर्म' शब्द के विकास पर विचार करते हुए डा० पाण्डुरग वामन काणे का कथन है कि 'धर्म शब्द का अर्थ समय-समय पर परिवर्तित होता रहा है किन्तु अन्त मे यह मानव के विशेषाधिकारो, कर्त्तव्यो, बन्धनो, आर्य-जाति के सदस्य की आचार-विधि का परिचायक एव वर्णाश्रम का द्योतक हो गया।[१०] ब्राह्मण ग्रन्थो मे प्रयुक्त 'धर्म' के अर्थ के विषय मे डा० राधाकृष्णन् का मत यह है कि सामाजिक जीवन की विविध आवश्यकताओ

---

१. ऋग्वेद, १।२२।१८।
२ वही, ३।१७।१०
३. वही, ७।८९।११।
४ वही, १०।५६।१२।
५ वही, ८। ९८।१।
६ वही, (अ) ९।१००।४।
(आ) ८।९२।१२।
(इ) १०।३१।२।
७ सुविज्ञान चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते। तयोर्यत्सत्य यतरदृजीयस्त-दित्सोमोऽवति हन्त्यासत्। —वही, ७।१०४।१२।
८ (क) आ प्रा रजासि दिव्यानि पार्थिवा श्लोक देव कृणुते स्वार्यधर्मणे।
—वही, ४।५३।३।
(ख) द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते अजरे भूरिरेतसा। —वही, ६।७०।१।
९ अथर्ववेद, ९।९।१७।
१०. धर्मशास्त्र का इतिहास—पृ० ४।

के फलस्वरूप ब्राह्मण ग्रन्थों में धर्म का अभिप्राय देवता, ऋषि, मनुष्य तथा अन्य प्राणियों के प्रति कर्त्तव्य, नियम इत्यादि से होने लगा।[१]

उपनिषद् मे धर्म

भारतीय परम्परा में धर्म के विकास मे विभिन्न उपनिषदों का स्थान विशेष महत्त्व रखता है। तैत्तिरीयोपनिषद् के एकादश अनुवाक के अन्त धर्म की सम्यक् व्यवस्था के लिए प्रसिद्ध हैं। आचार्य द्वारा शिष्य को दिए गए इन उपदेशों से न केवल उपनिषद् काल के उच्च आदर्शों एव मान्यताओं का पता चलता है अपितु धर्म के प्रति उस युग के ऋषि की भावना भी स्पष्ट रूप से ज्ञात होती है। 'सच बोलो, धर्म का आचरण करो, प्रजा के सूत्र को मत तोड़ो (ब्रह्मचर्य के पश्चात गृहस्थ में प्रवेश करो), सत्य बोलने से प्रमाद न करो, धर्माचरण करने में आलस्य न करो, आत्म-कल्याण तथा समृद्धि के मार्ग से विचलित न हो इत्यादि।[२] इसी सदर्भ मे दान, श्रद्धा, धर्म इत्यादि के मार्ग पर अग्रसर होने का भी सदेश है। इस उपनिषद् की एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कर्त्तव्याकर्त्तव्य या सदाचार के सम्बन्ध मे सदेह की स्थिति मे विचारशील, तपस्वी, कर्त्तव्य-परायण, शान्त-स्वभाव धर्मात्मा विद्वान् की सेवा में उपस्थित हो समाधान करने एव उनके आचरण और उपदेश का अनुसरण करने का सदेश यहां सन्निहित है।[३]

नारायणोपनिषद् मे सत्य को सर्वोत्कृष्ट मानते हुए कहा है कि सत्य का आश्रय ग्रहण करने वाले मनुष्य स्वर्ग से, आत्मोत्कर्ष की स्थिति से च्युत नही होते। यहां सत्पुरुषो का स्वरूप सत्यमय मान उन्हे सत्य मे रमण करने वाला कहा गया है।[४] कठोपनिषद् मे धर्म शब्द का प्रयोग 'कर्त्तव्य' के अर्थ मे हुआ है यथा 'धर्म्यमणुमेतमाप्य',[५] 'धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्र'।[६] छान्दोग्योपनिषद् मे धर्म के तीन स्कन्ध माने गये हैं। प्रथम यज्ञ, अध्ययन एव दान, द्वितीय तप इत्यादि तथा तृतीय ब्रह्मचारी का आचार्य के गृह मे रहना।[७] यहा धर्म विभिन्न आश्रमो के कर्त्तव्यो का निर्देश दे रहा है। बृहदारण्यकोपनिषद् मे धर्म को सत्य का पर्याय माना गया है अर्थात् जिसे धर्म कहते है वह सत्य है और जिसे सत्य कहते हैं वह धर्म है। सोने के पात्र से सत्य का

---

१. *Indian Philosophy* Dr S Radhakrishnan, Vol I, p 131.

२ वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्य वद। धर्मं चर। 'प्रजातन्तु मा व्यवच्छेत्सी। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। तैत्तिरीयोपनिषद्, ११।१।

३ अथ यदि ते कर्म विचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा स्यात्॥ ये तत्र ब्राह्मणा समर्शिन। युक्ता आयुक्ता। अलूक्षा धर्मकामा स्यु। यथा ते तत्र वर्तेरन्। तथा तत्र वर्तेथा।
—वही, ११।३, ४।

४. सत्य पर पर सत्यम्। सत्येन न सुवर्गाल्लोकाच् च्यवन्ते कदाचन। सता हि सत्यम्। तस्मात्सत्ये रमन्ते॥ —नारायणोपनिषद्, ३।७८।

५. (सृष्टि रचना आदि) धर्मों से युक्त (परमात्मतत्त्व) को प्राप्त करके।
—कठोपनिषद्, १।२।१३।

६. "धर्म से अन्यत्र, अधर्म से अन्यत्र"। —वही, १।२।१४।

७. त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययन दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्। —छान्दोग्योपनिषद्, २।२३।१।

मुख ढका हुआ है। हे जगत्पोषक ! सत्यधर्म के दिखाई देने के लिए तू उस आवरण को हटा दे।[1] में प्रयुक्त 'सत्य धर्माय दृष्टये' स्पष्टत सत्य और धर्म को एक कर देता है। इसी उपनिषद् की एक स्तुति के अन्तर्गत असत्य से सत्य की ओर, अधकार से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से अमरता की ओर ले जाने को कहा गया है।[2] सत्य और धर्म को पर्याय रूप मे व्यवहृत करते हुए एक अन्य स्थल पर कथन है—"जो यह धर्म है निश्चित् रीति से वह सत्य है इसलिए सत्य बोलने वाले के लिए कहा जाता है कि वह धर्म कहता है और धर्म बोलने वाले के लिए कहा जाता है कि यह सत्य कहता है—सत्य और धर्म ये दोनो एक ही वस्तु हैं।"[3] धर्म और सत्य को पर्याय रूप में व्यवहृत करने वाले अनेक कथन उपनिषदो मे उपलब्ध हैं। उदाहरण के लिए मुण्डकोपनिषद् मे आया है कि देव की ओर जाने वाला मार्ग सत्य से बना है, सत्य की ही विजय होती है, असत्य की नही, आप्तकाम ऋषि उस पद को प्राप्त होते है, जहा वह सत्य का परम विधान वर्तमान है।[4] बृहदारण्यक के याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी सवाद मे भी धर्म का विवेचन हुआ है, यहा धर्म का अर्थ किया गया, "ससार की धारण शक्ति" तथा इस धारण शक्ति के अधिष्ठाता तेजोमय अमृतमय पुरुष को आत्मा कहा गया।[5] उपर्युक्त एव उपनिषदो मे प्राप्त अन्य सम्बद्ध सामग्री के आधार पर यह स्पष्ट है कि धर्म का विवेचन करते हुए उपनिषद् मे उसे सत्य का पर्याय, कर्त्तव्य-कर्म, उचित कर्म एव व्यवहार के लिए निश्चित वेदानुमोदित कर्म के अर्थ मे स्वीकृत एव प्रयुक्त किया गया है। यद्यपि इसके अतिरिक्त अन्य अनेक अर्थों मे भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है पर हमारे विवेच्य विषय के सदर्भ मे उनका विवरण अप्रासगिक होगा।

धर्म-सूत्र में धर्म

पूर्व-मीमासा सूत्र ने वेदो मे प्रयुक्त विधि-निषेध के अनुसार चलना ही धर्म माना है। धर्म का सम्बन्ध उन क्रिया-सस्कारो से जोडा गया जो वेदो द्वारा प्रेरित और प्रशसित है।[6] गौतम धर्मसूत्र के अनुसार सब प्राणियो पर दया, क्षमा, अनसूया, शुचिता, अतिश्रमवर्जन, शुभ मे प्रवृत्ति, दानशीलता और निर्लोभता—ये आठ आत्मगुण हैं।[7] गौतम सस्कारो से भी अधिक

---

१ हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखम्।
तत्त्व पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥ —बृहदारण्यक उपनिषद्, १५।१।१।
एव ईशावास्योपनिषद्, १५।

२ तदेतानि जपेदसतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृत गमयेति॥
—बृहदारण्यक उपनिषद्, १।३।२८।

३. 'यो वै स धर्म सत्यं वै तत्तसमात्सत्य वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीतिधर्मं वा वदन्त' सत्य वदतीत्येतृद्धयेवैतदुभय भवति॥ —बृहदारण्यक उपनिषद्, १।४।१४।

४. सत्यमेव जयति नानृत सत्येन पन्था विततो देवयान। येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा तत्र तत्सत्यस्य परम निधानम्॥ —मुण्डक उपनिषद्, ३।१।६।

५. अय धर्म सर्वेषा भूताना मध्यस्य धर्मस्य सर्वाणि भूतानि ''''यश्चायमस्मिन्धर्मेतेजोमयऽमृतमय पुरुषो । — बृहदारण्यक उपनिषद्, २।५।११।

६ चोदना लक्षणोऽर्थो धर्म । —पूर्व मीमांसा सूत्र, १।१।२।

७. अथाष्ठावात्मगुणा। दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूयाशौचमनायासो मगलमकार्पण्यमस्पृहेति॥
—गौतम धर्मसूत्र, ७।२०, २२।

महत्त्व इन आठ आत्म-गुणों को देते हैं। जिसके चालीस संस्कार हो चुके हों पर ये आठ आत्म-गुण न हों, वह ब्रह्म का सायुज्य और सालोक्य नहीं पा सकता।[1] योग दर्शन के अन्तर्गत वर्णित यम-नियम का धर्म से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। यम-नियम पांच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। जो मनुष्य काम, क्रोध, लोभ आदि विकारो पर विजय प्राप्त नही कर सकता उसका मन या शरीर सबल नहीं रह सकता, फलत: वह धर्म के मार्ग में अग्रसर नहीं हो सकता। वैशेषिक सूत्रकार ने धर्म की परिभाषा की—"यतोऽभ्युदय नि श्रेयसिद्धि स धर्म" अर्थात् 'जिससे आनन्द और नि श्रेयस की प्राप्ति हो वह धर्म है।'

धर्मसूत्रो तक 'धर्म' अपने 'गुण' या 'आचार' अर्थ के रूप को स्पष्टत प्राप्त करने लगा था पर अभी तक विधि-निषेध, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का स्पष्ट निर्देश धर्म के अन्तर्गत मुख्य नहीं था। यह कार्य स्मृति ग्रन्थो द्वारा प्रतिपादित हुआ।

स्मृति-ग्रन्थो मे धर्म

मनु ने चारो वर्णों के लिए समान धर्म का निर्धारण करते हुए अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शुद्धता और इन्द्रिय निग्रह को समाविष्ट किया है।[2] मनुस्मृति मे धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध—इन दस लक्षणों से युक्त धर्म पर आचरण करने का निर्देश है।[3] अत्रि स्मृति में यम और नियम के नित्य पालन करने का विधान है। यहां यम दस स्वीकार किए गए हैं। क्रूरता न करना, क्षमा करना, सत्य-भाषण तथा सत्य का व्यवहार, अहिंसा, दान, सरलता, प्रीति, प्रसन्नता, मधुरता और कोमलता।[4] नियम भी दस माने गए हैं—शौच, इज्या, तप, दान, स्वाध्याय, निग्रह, व्रत, मौन, उपवास और स्नान।[5] अत्रि स्मृति मे 'आचरण की शुद्धता' को भी धर्म के अन्तर्गत लिया गया है। इस प्रसंग में अस्पृहा, अक्रोध, दम, दान, दया इत्यादि को धर्म माना है। इन कर्मों को करने वाला मनुष्य परमगति को प्राप्त करता है, जन्मचक्र से मुक्त हो जाता है।[6] दक्ष स्मृति मे गृहस्थ के लिए दान,[7] अतिथि-सत्कार[8] आदि का विधान है और मिथ्या-भाषण, परस्त्री-सम्पर्क, चोरी, हिंसा,

---

१ यस्यैते चत्वारिंशत्संस्कारा न चाष्टावात्मगुणा न स ब्रह्मणस्सायुज्य सालोक्य च गच्छति।
—गौतम धर्मसूत्र

२ अहिंसा सत्यमस्तेय शौचमिन्द्रिय निग्रह।
एत सामासिक धर्म चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनु ॥ —मनु०, १०।६३।

३ धृति क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रह।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशक धर्मलक्षणम् ॥ —वही, ६।९२।

४. आनृशस्यं क्षमा सत्यमहिंसा दान मार्जनम्।
प्रीति प्रसादो माधुर्य्यमार्दव च यमा दश ॥ —अत्रिस्मृति, ४८।

५. शौचमिज्या तपोदान स्वाध्यायोपस्थनिग्रह।
व्रतमौनोपवासाश्चस्नानंच नियमा दश ॥ —वही, ५९।

६. वही, ३६ से ४२ तक

७. दक्ष स्मृति, ३।५।

८. वही, ३।६।

अवैदिक कर्मों का आचरण इत्यादि त्याज्य माने गए हैं।[१] इस स्मृति मे धर्म से सुख की प्राप्ति का भी उल्लेख है।[२] हारीत स्मृति में अतिथि-सत्कार, सत्य-भाषण, परस्त्री से विरक्त रहना, अक्रोध, मधुर-भाषण एव धर्म-मार्ग पर चलने का आदेश है।[३] अधिकांश स्मृतियों में योग-दर्शन द्वारा स्वीकृत यम का प्रकारान्तर से ग्रहण कर लिया गया है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह[४] की स्वीकृति अनेक स्थलों पर हुई है। यही पाच यम जैन दर्शन मे 'सम्यक्-चरित्र' के अन्तर्गत ग्रहण किए गए। बुद्ध ने सम्यक् दृष्टि के अन्तर्गत शरीर, वाणी और मन के द्वारा होने वाले दुराचरण के त्याग के लिए उपदेश दिया। शरीर से होने वाले दुराचरण मे हिंसा, चोरी, कामभोग-सम्बन्धी दुराचार, वाणी से होने वाले दुराचरण, असत्य, चुगली, कटु-वचन, मिथ्या भाषण, और मन से होने वाले दुराचरण मे लोभ, क्रोध का समावेश हुआ है। बुद्ध सभी दुराचरणो का मूल कारण लोभ, द्वेष, मोह (मानसिक दुराचरण) मानते हैं। इसके विरुद्ध आचरण सदाचरण है और वह दस प्रकार का है—अहिंसा, अस्तेय, इन्द्रियनिग्रह (काम-सम्बन्धी मिथ्याचार न करना), झूठ न बोलना (सत्य), चुगली न करना (अनसूया), कठोर वचन न बोलना, व्यर्थ न बोलना, अलोभ और सम्यक् दृष्टि।[५] सम्यक् व्यायाम के अन्तर्गत इन्द्रियनिग्रह काम, क्रोध, तृष्णा, हिंसा, द्वेष आदि के विचारो का त्याग करने को कहा है।[६] बुद्ध द्वारा स्वीकृत इन सिद्धान्तो का प्रतिपादन स्मृति ग्रन्थो में भी हुआ है, उसका मुख्य कारण है स्मृति द्वारा आचरण की शुद्धता पर बल देते हुए मार्ग-निर्देश। बुद्ध भी यही कर रहे थे, फलत दोनो के विचारो मे समानता उपलब्ध होती है।

वाल्मीकि रामायण मे धर्म

वाल्मीकि रामायण के अन्तर्गत धर्म को ही सार माना है। 'धर्म से ही अर्थ प्राप्त होता है, धर्म से सुख का उदय होता है और धर्म से ही मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर लेता है।"[७] वाल्मीकि भी वेद और उपनिषद् के ही अनुसार धर्म और सत्य मे अन्तर नहीं मानते। सत्य को धर्म की पराकाष्ठा स्वीकार किया गया है। 'धर्म सत्यपरो लोके मूल सर्वस्य चोच्यते"[८]

---

१ अनृतं पारदर्य्यं च तथाभक्ष्यस्य भक्षणम्।
अगम्यागमनापेयपान म्तेय च हिंसनम्॥ —दक्षस्मृति, ३।१०,११।

२ सुखं वाछन्ति सर्वे हि तत्व धर्म समुद्भवम्।
तस्माद्धर्म. सदा कार्य्यं सर्ववर्णै प्रयत्नत॥ —वही, २३।

३. अतिथीनागताञ्छक्त्या पूज्येदविचारत।
स्वदार निरतो नित्य परदार विवर्जित।
" सत्यवादी जितक्रोधो नाधर्मे वर्तयेन्मतिम्।
सत्या हिता वेदद्वाच परलोकहितैषिणीम्॥ —हारीत स्मृति, १।२६ से २९।

४ योगभाष्य, २।३०।

५ भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास—भीखनलाल आत्रेय, पृ० २८९-२९०।

६ वही, पृ० २९३।

७. धर्मादर्थ प्रभवति धर्मात् प्रभवते सुखम्।
धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिद जगत्॥ —वा० रा० अरण्य, ९।३०।

८. वा० रा० अयोध्या, १०९।१२।

में सन्निहित भावना का प्रस्थापन अन्य प्रसंगो मे भी हुआ है। अयोध्याकाण्ड मे आया है कि "जगत् में सत्य ही ईश्वर है, सदा सत्य के ही आधार पर धर्म की स्थिति रहती है। सत्य ही सबका मूल है। सत्य से बढ़कर कोई अन्य परम पद नहीं।"[१] वाल्मीकि सत्य मे ही सम्पूर्ण लोक की प्रतिष्ठा मानते हैं।[२] सत्य, धर्म, पराक्रम, समस्त प्राणियों पर दया, सबसे प्रिय वचन बोलना तथा देवता, अतिथि और ब्राह्मण की पूजा को धर्म के अन्तर्गत ग्रहण किया गया है।[३] वाल्मीकि धर्म के अन्तर्गत विधि-निषेध को समाविष्ट कर लेने के उपरान्त विभिन्न आश्रमो एव वर्णों तथा वर्गों के कर्त्तव्याकर्त्तव्य का उल्लेख करते हैं। अरण्यकाण्ड मे मिथ्याभाषण, परस्त्रीगमन, और हिंसा का निषेध[४] एव इन्द्रियनिग्रह, सत्य तथा अहिंसा का स्वीकृति दी गई है।[५]

महाभारत मे धर्म

जीवन की विशालता और जटिलता में धर्म का वास्तविक रूप जान पाना अत्यन्त दुष्कर है। धर्म का एक सामान्य रूप है, उसके कुछ सामान्य लक्षण हैं जो सबके लिये मान्य हैं परन्तु व्यवहार मे, विशिष्ट अवसरो और परिस्थितियों मे धर्म का प्रश्न उत्पन्न होता है। जीवन अपनी जटिलताओ और समस्याओ के कारण धर्म के प्रश्न को भी अपने रूप के अनुसार कर लेता है। इसलिए धर्मशास्त्रो और अन्य ग्रन्थो, विशेष रूप से महाभारत मे धर्म के सामान्य लक्षणो के अतिरिक्त धर्म के अनेकानेक विशिष्ट रूपों का भी वर्णन हुआ है। धर्म के लक्षण दो प्रकार के हैं—सामान्य और विशिष्ट। क्षमा, धृति, अहिंसा इत्यादि को धर्म का सामान्य लक्षण कहा जा सकता है। प्रत्येक सामाजिक प्राणी के लिये यह लक्षण मान्य है। वर्ण, आश्रम, सम्बन्ध आदि के अनुसार विशेष मनुष्यो के लिये मान्य लक्षण विशिष्ट हैं यथा अध्यापन, यज्ञ करना इत्यादि ब्राह्मण के विशेष धर्म हैं।

कृष्ण ने धर्म के लक्षणो मे अहिंसा, शौच, क्रोध का अभाव, क्रूरता का अभाव, दम, शम और सरलता को समाविष्ट किया।[६] युधिष्ठिर के प्रति भीष्म के धर्मविषयक वचन इस प्रकार हैं—"अहिंसा, सत्य, अक्रोध, तपस्या, दान, मन और इन्द्रियो का सयम, विशुद्ध बुद्धि, किसी के दोष न देखना, किसी से ईर्ष्या न करना, तथा उत्तम शील स्वभाव का परिचय

---

१ सत्यमेवेश्वरो लोके सत्यधर्म सदाश्रित।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति पर पदम्॥ —वा० रा०, अयो० १०९।१३।

२ (क) सत्ये लोक प्रतिष्ठित। —वही, १०९।१०।
(ख) धर्मोहि परमो लोके धर्मे सत्य प्रतिष्ठितम्। —वही, अयो० २१।४१।

३ सत्य च धर्मं च पराक्रम च।
भूतानुकम्पाप्रियवादिता च॥
द्विजाति देवातिथि पूजन च।
पन्थानमाहुस्त्रिदिवस्य सन्त॥ —वा० रा० अयो०, १०९।३१।

४ वही, अरण्य, ९।३४, ५०।८ (परस्त्रीगमन)

५ वही, अरण्य, ९।८,९।

६ अहिंसा शौचमक्रोधमानृशंस्य दम शम।
आर्जव चैव राजेन्द्र निश्चित धर्मलक्षणम्॥—आश्वमेधिक पर्व, अ० ९२।

देना ।"[1] धर्म के लक्षण बताते हुए व्यासजी ने युधिष्ठिर से कहा—'बिना दी हुई वस्तुओं को न लेना, दान, अध्ययन और तप में तत्पर रहना, किसी भी प्राणी की हिंसा न करना, सत्य बोलना, क्रोध का त्याग करना, और यज्ञ करना—ये सब धर्म के लक्षण हैं ।[2] यक्ष-युधिष्ठिर-संवाद संदर्भ में यक्ष रूपी धर्म अपना रूप धारण करने पर कहता है—'यश, सत्य, दम, शौच, सरलता, लज्जा, अचापल्य, दान, तपस्या, एवं ब्रह्मचर्य यही मेरा शरीर है, अहिंसा, समता, शांति, तपस्या, शौच तथा अद्वेष आदि मेरी प्राप्ति के साधन हैं ।[3]

महाभारत मे धर्म के विषय मे वेद को प्राथमिकता दी गई है। 'श्रुति प्रमाणो धर्म स्यादिति वृद्धानुशासनम्'[4] द्वारा धर्म-अधर्म का निर्णय करने के लिए वेद को प्रमाण माना गया है। वेद के उपरात धर्म शास्त्रो का स्थान है। 'वेदोक्त परमो धर्मो धर्मशास्त्रेषु चापर '[5] से इसकी पुष्टि होती है। धर्मशास्त्र मे भी यदि सदिग्ध विषय मे स्पष्ट निर्णय उपलब्ध न हो तो शिष्ट व्यक्ति के आचरण को धर्म मानना होगा। धर्म के विषय मे शिष्टाचार का प्रमाण महाभारत में स्वीकार किया गया है। 'महाभारत में साधु, सत्, शिष्ट आदि को जिस अर्थ मे लिया है, महापुरुष को भी उसी अर्थ मे लिया है। . जो वेदशास्त्रो द्वारा बताये आचार-विचारों का निर्विरोध पालन करते हैं, उन्ही को ग्रन्थकार ने महापुरुष माना है। जिस धर्म को समझना कठिन हो, उसके तत्त्व की गूढता को समझने के लिए हमारे जैसे साधारण मनुष्यो को सदाचारो का ही अवलम्बन लेना चाहिए।'[6] महाभारत के अनेक स्थलो पर सशय की स्थिति मे ज्ञानी सज्जनो का उपदेश ग्रहण करने का विधान है।[7] शातिपर्व मे परिस्थिति के अनुसार धर्मकृत्य में परिवर्तन की बात कही गयी है, पर स्वेच्छाचारिता की अनुमति नही है। धर्म के मार्ग पर चलने के सन्देश से युक्त अनेक कथन महाभारत मे आये हैं। 'धर्म एव हतो हन्ति, धर्मोरक्षति रक्षित ',[8] 'धर्म एको मनुष्याणा सहाय पारलौकिक '[9] इत्यादि मे धर्म की शक्ति तथा धर्म के लौकिक एव पारलौकिक महत्त्व का प्रतिपादन हुआ है। इसके मूल मे

---

१. अहिंसा सत्यमक्रोधस्तपो दान दमो मति ।
अनसूयाप्यमात्सर्यमनीर्ष्या शीलमेव च ॥
एष धर्म कुरुश्रेष्ठ कथित परमेष्ठिना ॥ —शाति, १०९, श्लोक १२।१३ के मध्य

२ अदत्तस्यानुपादान दानमध्ययन तप ।
अहिंसा सत्यमक्रोध इज्या धर्मस्य लक्षणम् ॥—वही, ३६।१० ।

३. वन०, ३१३।७,८ ।

४ वही, २०५।४१ ।

५ वही, २०६।८३ ।

६ महाभारतकालीन समाज—सुखमय भट्टाचार्य, पृ० २७५-७६ ।

७. न हि धर्म विज्ञाय वृद्धाननुपसेव्य च ।
धर्मार्थौ वेदितु शक्यौ बृहस्पति समैरपि ।।—वन, १५०।२६ ।
और देखें—शान्ति, ३६।२०, १३६।१६ ।

८. वन०, ३१२।१२८ ।

९ शान्ति, २७२।२४ ।

मान्यता यह है कि सुख-दुःख अनित्य वस्तु हैं, लेकिन धर्म नित्य है।[1] धर्म देशकाल की सीमा से आबद्ध नहीं। 'यदि समस्त सद्वृत्तियों को धर्म के रूप में स्वीकार किया जाये तो कहा जायेगा कि महाभारत में वर्णित धर्म, अविनश्वर, निर्मल, सार्वजनीन एवं सार्वभौमिक है। जिस धर्म का लक्ष्य विश्वकल्याण हो, उसमें संकीर्णता को स्थान नहीं मिलता। अनुष्ठेय धर्म प्रधानतः आत्मशुद्धि के साधन हैं, अनुष्ठाता के साध्य नहीं। आत्मशुद्धि मनुष्य को महत् से महत्तर आदर्श की ओर अनुप्राणित करती है और अन्त में अनुष्ठाता को अपना साध्य मिल जाता है।'[2]

धर्म और नीति

सभ्यता के प्रारम्भिक चरण से ही उचित और अनुचित का अन्तर सम्भवत: मानव मन में विकास करता रहा है। उचित के ज्ञान का आधार नैतिक मान्यताएं एवं मनुष्य की अपनी अन्तर्दृष्टि ही है। 'उचित' और 'नैतिक आधार पर उचित' कार्यों के क्षेत्र में एक निश्चित अन्तर है, नैतिक आधार पर उचित होने के लिए सामाजिक अनुमोदन की आवश्यकता है, पर केवल 'उचित' के लिए नही। व्यक्ति की अपनी इच्छाए उसके सामाजिक कर्त्तव्यों में बाधक हो सकती हैं पर धीरे-धीरे वह समाज के साथ समझौता करना सीखता है। इस समझौते का विकास समाज के विकास के साथ-साथ स्वतः ही होता रहता है। यही 'उचित' 'अनुचित' का निर्धारण अपने विस्तृत अर्थ मे धर्म की परिभाषा ग्रहण करता है। यही कारण है कि प्रत्येक समाज के अपने नैतिक नियम होते हैं जिन्हे स्वीकार करना समाज के प्रत्येक सदस्य का कर्त्तव्य माना जाता है। इन नियमो के महत्त्व को कभी-कभी चुनौती दी जाती है और आने वाली पीढ़िया उसमें परिवर्तन कर लेती हैं। पर कुछ नियम ऐसे हैं जो सभी युगों, सभी देशो एव सभी कालो मे सदैव ग्रहणीय हैं। धर्म की वास्तविक परिधि वही है।

धर्म के मूल मे विशिष्ट आचार की मान्यताए हैं। धर्म का सम्बन्ध जीवन मे स्वीकृत आचार-व्यवहार से है। इस प्रकार धर्म आचार का व्यापक रूप ग्रहण कर लेता है। आचार की धारणा मे नैतिकता के स्वरूप को विकास प्राप्त होता है। व्यक्ति एव व्यक्ति, व्यक्ति एव समाज के पारस्परिक सम्बन्ध की समस्या नैतिकता को जन्म देती है। इन्ही सम्बन्धो की जटिलता और दृष्टिकोण के वैभिन्य के फलस्वरूप नैतिक धारणाओ मे परिवर्तन होते हैं। इन सम्बन्धो के मूल मे लौकिक सुख-भोग, आत्मिक-विकास का प्रयास और सासारिक कर्मों के सचालन की धारणा है। न्यायसूत्र की टीका मे धर्म को ससार-व्यापार के यथावत् निर्वाह के विधानो का सग्रह कहा गया है।[3] जीवन के सहज स्वाभाविक रूप के विकास, अनुचित कृत्यो की निन्दा एव लोक-व्यवहार के निर्वाह के रूपो में नैतिकता की धारणा स्वरूप ग्रहण करती है।

बा० गं० तिलक ने धर्म के अर्थ-विकास के विभिन्न सोपानो पर विचार करते हुए गीता-रहस्य में यह मत व्यक्त किया है कि "क्या सस्कृत और क्या भाषा सभी धर्म-ग्रन्थों में 'धर्म' शब्द का प्रयोग उन सभी नीति नियमों के बारे में किया गया है जो समाज-धारणा के लिए विशिष्ट जनो के द्वारा अध्यात्म-दृष्टि से बनाए गए हैं।"[4] धर्म के अन्तर्गत राजधर्म, प्रजाधर्म,

---

१. नित्यो धर्म. सुखदु खेत्वनित्ये। —उद्योग०, ४०।१२।
२. महाभारतकालीन समाज, सुखमय भट्टाचार्य, पृ० २८५।
३. न्यायसूत्र, ४।१।६२।
४ गीता रहस्य, पृ० ६८।

देशधर्म, जातिधर्म, कुलधर्म, मित्रधर्म आदि सांसारिक नीति-बन्धन भी समाविष्ट हैं। मनु ने धर्म के लिए जो दो शास्त्रेतर कसौटियां (अर्थात् साधु-जन का आचार एव धर्म में प्रवृत्त व्यक्ति की स्वानुभूति)[१] निर्धारित की हैं, वे ही नीति का आधार हैं। धर्म की शास्त्रेतर पहली कसौटी है—धर्मात्मा एवं रागद्वेष से रहित विद्वानों द्वारा सेवित और हृदय से भली प्रकार जाना गया।[२] पर इसके साथ ही यह निर्देश भी है कि ये विद्वान् भी शास्त्रानुमोदित कर्त्तव्य-कर्म को ज्ञान-चक्षुओं से देखकर अपने कर्त्तव्य-धर्म का निश्चय करें।[३] इस कसौटी के पूर्ण न होने पर अर्थात् एकाधिक मार्ग का उल्लेख होने पर 'प्रियमात्मन' की स्थिति है। इस प्रकार नीति एवं धर्म का व्यावहारिक रूप प्राय एक ही है।

धर्म के रूप

समाज के व्यवहार के फलस्वरूप 'धर्म' दो रूप ग्रहण करता है—(क) मानसिक एव आचरण की पवित्रता, समाज मे रहते हुए कर्त्तव्य-कर्मों का उल्लेख तथा (ख) बाह्य कर्म-काण्ड, विधि-विधान इत्यादि। धर्म का प्रथम रूप प्राय सार्वकालिक एव सार्वदेशिक है यथा, सत्य, अहिंसा दया, प्रेम इत्यादि। इनकी व्याख्या मे अन्तर निश्चय ही उपलब्ध है, पर मूल रूप से इनकी स्वीकृति वेद, धर्मशास्त्रो, स्मृति तथा धर्म सम्बन्धी अन्य ग्रन्थो मे हुई है। बाह्य कर्म-काण्ड का विधान देश और काल की सामाजिक, राजनीतिक एव अन्य अवस्थाओं के अनुसार परिवर्तित होता रहा है पर उसका भी उल्लेख अधिकाश धर्म-ग्रन्थो मे हुआ है। गौतम धर्मसूत्र में एक ओर दया, क्षमा आदि का विवेचन है तो दूसरी ओर अतिथियो के सम्मान करने की विधि, विवाह के प्रकार, श्राद्ध, ब्राह्मण तथा अन्य जातियो के विषय मे नियम, व्रत, प्रायश्चित इत्यादि का विस्तृत उल्लेख है। बोधायन धर्मसूत्र भी बाह्य विधि-विधान यथा यज्ञ के लिए पवित्रीकरण, परिधान, भूमि, घास, ईधन, बर्तन, स्नान, आचमन, श्राद्ध, सध्या, प्रायश्चित्त इत्यादि पर विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार आपस्तम्ब धर्मसूत्र, हिरण्यकोशि धर्मसूत्र, वसिष्ठ धर्मसूत्र, विष्णुधर्मसूत्र, हारीतधर्मसूत्र, शखधर्मसूत्र इत्यादि मे धर्म के विवेचन मे एक ओर मनुष्य मात्र के वर्णाश्रम धर्म के अनुसार कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेचन है तो दूसरी ओर बाह्य विधि-विधान इत्यादि पर भी यथेष्ट सामग्री उपलब्ध है। स्मृति-ग्रन्थो का विवेचन भी इसी परम्परा के अनुसार है। बाह्य विधि-विधान पर विवेचन का हमारे विषय से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही क्योकि वह धर्म के वास्तविक अर्थ से अपेक्षाकृत कम सम्बद्ध है, पर फिर भी समाज में उसका अपना महत्त्व है। वल्लुवर और कबीर दोनो कवि बाह्य-विधि-विधान, कर्मकाण्ड इत्यादि का अनुमोदन नही करते। अत इस अंश का विस्तृत विवेचन असगत होगा। पर धर्म के प्राय सर्वसम्मत, सर्वस्वीकृत सिद्धान्तो का विवेचन दोनो कवियों की परम्परा को समझने के उद्देश्य से काम्य है।

धर्म के सामान्य एव विशिष्ट दो रूप हैं। धर्म का सार्वभौम अथवा सामान्य पक्ष सबके

---

१ वेद स्मृति सदाचार स्वस्य च प्रियमात्मन —मनु०, २।१२।

२. विद्वद्भि सेवित सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभि।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत ॥ वही, २।१।

३ सर्वं तु समवेक्ष्येद निखिल ज्ञानचक्षुषा।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान्स्वधर्मे निविशेत वै ॥ वही, २।८।

लिए समान रूप से मान्य है, कृत्य है। इसका विधान सम्पूर्ण मानव-समाज के लिए है। अहिंसा, अस्तेय, इन्द्रिय-निग्रह, सत्य इत्यादि सामान्य-धर्म के अन्तर्गत आते हैं। विशिष्ट धर्म में प्रत्येक व्यक्ति के आश्रम तथा वर्ण के अनुकूल धर्म का समावेश है। इस कर्तव्य-कर्म के प्रति जागरूक रहने का आदेश गीता में श्रीकृष्ण द्वारा दिया गया है। गीता के 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य'[1] 'श्रेयान्स्वधर्मो विगुण परधर्मात्स्वनुष्ठितात्',[2] 'स्वधर्मे निधन श्रेयः परधर्मो भयावह'[3] मे मानव को वर्णाश्रमानुरूप कर्तव्य-कर्म करने का आदेश है। स्वामी विवेकानन्द ने जातिधर्म अर्थात् स्वधर्म को सब देशों, सब जातियों के कल्याण एव वास्तविक मुक्ति का सोपान माना है।[4]

परिभाषा का प्रश्न

धर्म की विस्तृत परिभाषा के अन्तर्गत अनेक प्रकार के विश्वास, क्रियाएं, भावनाएं, मन स्थितियां, दृष्टिकोण इत्यादि न जाने कितने परस्पर सम्बद्ध एव असम्बद्ध तथ्यो एव सत्यों का समावेश हो जाता है। तर्क की कसौटी पर कसने के पश्चात धर्म, कला, नीति, इत्यादि में कोई स्थायी एव निश्चित अतर का निर्देश कर पाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य ही है। विभिन्न व्यक्ति इनकी अन्तररेखा को अनेक कारणो से अलग-अलग स्थानों पर रखना चाहेंगे। महाभारत के वनपर्व मे इसी प्रकार का भाव व्यक्त किया गया है कि धर्म के बारे में परम्परा से प्राप्त श्रुतिया परस्पर भिन्न हैं, स्मृतियो मे भी विचार-वैभिन्य दिखाई देता है। जितने भी मननशील विचारक हैं, उन सबके मन्तव्य भी एक-दूसरे से भिन्न हैं। अत यदि विचार की दृष्टि से देखा जाए कि धर्म क्या है, यह वह रहस्य है, जो अत्यन्त गूढ है।[5]

धर्म के वास्तविक अर्थ मे व्यक्ति और व्यक्ति मे तो भेद होगा ही, एक ही व्यक्ति के जीवन मे इस विषय मे भिन्न धारणाए सम्भव हैं। मनुष्य मानसिक एव आत्मिक विकास के क्रम मे ही धर्म और अधर्म के अन्तर का ज्ञान प्राप्त करता है। धर्म के सामाजिक और व्यक्तिगत पक्षो मे से व्यक्तिगत पक्ष निरन्तर रूप-परिवर्तन करता रहता है। इसके सामाजिक रूप में परिवर्तन अपेक्षाकृत कम होता है पर यह परिवर्तन धर्म की एक निश्चित सर्वस्वीकृत सार्वकालिक परिभाषा के मार्ग मे अचल पर्वत के सदृश है। इस प्रकार धर्म मे बाह्य कर्म-काण्ड एव विश्वास के अतिरिक्त मनुष्य के मानसिक एव आध्यात्मिक दृष्टिकोण भी प्रवेश प्राप्त कर लेते हैं। फलस्वरूप धर्म की निश्चित परिभाषा दे पाना सम्भव नही है। प्रस्तुत प्रश्न पर विचार करते समय इस कठिनाई को समक्ष रखना उपयुक्त होगा। धर्म का सम्बन्ध मानव एव ब्रह्माण्ड के 'सत्य' से है। फिर भी इसका आलोचनात्मक, वस्तुपरक अथवा वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव है। इस अध्ययन के अन्तर्गत तत्त्वो के अन्तिम प्राप्य का अध्ययन चाहे न हो, पर मनुष्य के विश्वासो और सिद्धान्तों के क्रमिक विकास एव सामाजिक जीवन के सफलतापूर्वक निर्वाह

---

१ गीता, २।३१।

२ वही, ३।३५ तथा १८।४७।

३. वही।

४. Now this jati-Dharma, this Svadharma is the path of welfare of all societies in every land, the ladder to ultimate freedom.

—*The Complete Works of Swami Vivekananda*, Vol. V, p. 359

५ महाभारत, वनपर्व, ३१३।११७।

के लिए आधारों तथा तत्सम्बन्धित नीति, आचार-शास्त्र इत्यादि का अध्ययन वैज्ञानिक प्रक्रिया से सम्भव है। परम सत्य की खोज-सम्बन्धी सामग्री का अध्ययन दर्शन का विषय है, पर धर्म में इस खोज के लिए प्रयत्नशील मनुष्य के जीवन-सिद्धान्तो, निर्दिष्ट कर्तव्याकर्तव्य इत्यादि का शास्त्रीय परम्परा के आधार पर विवेचन हमारे विषय की सीमा के अन्तर्गत है।

परम्परा से उपलब्ध एवं नवयुग की मान्यताओं से प्राप्त धर्म के उपर्युक्त आधार पर तिरुवल्लुवर और कबीर की तद्विषयक मान्यताओ का अध्ययन एक ओर इन दोनो कवियो की विचारधारा का परिचय प्रदान करेगा और दूसरी ओर उत्तर भारत एव दक्षिण भारत मे स्वीकृत धर्म के रूप में समानता अथवा वैभिन्य का बोध कराएगा।

तिरुक्कुरल के धर्म-खण्ड (अरत्तुप्पाल) का वर्ण्य-विषय

तिरुवल्लुवर ने अपने काव्य के धर्म-खण्ड के अन्तर्गत धर्म से सम्बद्ध लगभग सभी विषयो पर विस्तार से विचार किया है। प्रस्तावना भाग के चार अध्यायो मे ईश्वर-स्तुति (कडवुल् वाळ्त्तु), वर्षा का महत्त्व (वान्चिरप्पु), सन्यासी का महत्त्व (नीत्तार पेरुमै) एव धर्म की शक्ति (अरन्वलियुरुत्तल्) विषयो पर विचार है। तत्पश्चात् कवि ने गृहस्थ जीवन का महत्त्व स्पष्ट करते हुए संयम, मधुर-भाषण, सदाचरण, परोपकार, आतिथ्य आदि धर्म के बाह्य अगों को काव्य का विषय बनाया है। गृहस्थ जीवन (प्रवृत्ति-मार्ग) एव तत्सम्बन्धित विषयो के विस्तृत विवेचन के पश्चात सन्यास (निवृत्ति-मार्ग) के लिए विधि-निषेध का निर्धारण किया गया है। इसके अन्तर्गत दया (अरुलुटैमै), तप (तवम्), सत्य भाषण (वायमै), अहिंसा (कोल्लामै), नश्वरता (निलैयामै), त्याग (तुरवु), सत्यज्ञान (मेय्युनर्त्तल्), निष्काम कर्म (अवा-अरुत्तल्) इत्यादि अनेक विषयो पर विचार करने के अनन्तर कवि ने भाग्य (ऊळ) पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। भाग्य (ऊळ) के अन्तर्गत कर्म-फल सिद्धान्त को स्वीकृत कर भाग्य की प्रबल शक्ति एव पूर्व-जन्म के सस्कारो तथा इस जन्म के कर्मों के परिणामो की विवेचना प्रस्तुत की है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि के समक्ष दो वर्गों का चित्र रहा होगा। गृहस्थ अर्थात् प्रवृत्ति-मार्ग पर अग्रसर होकर जीवन व्यतीत करने वाले, एव निवृत्ति मार्ग को स्वीकार करने वाले त्यागी पुरुष। कवि ने गृहस्थ को सन्यासी की तुलना मे अधिक महत्त्व प्रदान किया है, पर जो निवृत्ति-मार्गीय पथ को जीवन मे ग्रहण करना चाहते हैं अथवा कर चुके हैं उनके लिए भी औचित्य-अनौचित्य का निर्धारण कर देना कवि का लक्ष्य रहा है।

धर्म का महत्त्व

धर्म के महत्त्व पर विचार करते समय व्यास की प्रसिद्ध उक्ति समक्ष आ जाती है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं जह्याज्जीवितस्यापि हेतो.।
नित्यो धर्म सुख-दु खे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्य ॥[1]

अर्थात् 'सुख-दुःख अनित्य हैं, परन्तु धर्म नित्य है, इसलिए सुख की इच्छा से, भय से, लोभ से अथवा प्राण-सकट आने पर भी धर्म को कभी नही छोड़ना चाहिए। यह जीव नित्य है और सुख-दुःखादि विषम अनित्य हैं।' तिरुवल्लुवर ने धर्म के लक्षण एवं उसका स्वरूप प्रतिपादन कर धर्म के महत्त्व की ओर सकेत किया है। धर्म की शक्ति (अरन्वलियुरुत्तल्) शीर्षक के अन्त-

---

१ महा० उद्योग, ४०।१२।

और ग्रहण करने योग्य सत्कर्म[1] को ही धर्म माना है। मन को निर्मल रखना ही वास्तव में धर्म है। अन्य सभी बाह्य आडम्बर मात्र हैं।[2] मनुष्य को सभी सम्भव अवसरों पर धार्मिक कार्य करते रहना चाहिए।[3] धर्म का मार्ग ईर्ष्या, लोभ और कटुवचनों से परे रहने का मार्ग है।[4] इस प्रकार तिरुवल्लुवर के धर्म के अन्तर्गत मानसिक पवित्रता तथा ईर्ष्या, लोभ, क्रोध और कटु-वचनों का निषेध समाविष्ट है। धर्म से दो प्रकार की उपलब्धि का उल्लेख हुआ है—लौकिक सुख-ऐश्वर्य तथा पारलौकिक आनन्द। तिरुवल्लुवर के मतानुसार विश्व में दो व्यक्तियों के सामाजिक स्तर के अन्तर का कारण धर्म ही है। शिविका उठाने वाले श्रमिक और उसमें बैठे व्यक्ति के अन्तर पर विचार करें तो धर्म का लाभ स्वतः स्पष्ट हो जाएगा।[5] उनका स्पष्ट संकेत है कि धर्म-कार्य करने पर मानव को जीवन मे सुख, ऐश्वर्य इत्यादि की प्राप्ति होती है। धर्म से यश और धन दोनो की प्राप्ति होती है।[6] सुख की उपलब्धि कई प्रकार से सम्भव है परन्तु सत्कार्य से उत्पन्न सुख ही वास्तविक है, अन्य सभी प्रकार के सुख वास्तव में दुःख-प्रदायक एवं लज्जित करने वाले होते हैं।[7] धर्म से उद्भूत पारलौकिक लाभों के अन्तर्गत स्वर्ग-प्राप्ति का उल्लेख हुआ है। धर्म-कार्य करने के फलस्वरूप पारलौकिक सुख प्राप्त होते हैं,[8] ये धार्मिक-कृत्य मृत्यु के उपरान्त भी निरन्तर सहायक होंगे।[9] अतः एक भी दिवस नष्ट किए बिना श्रेष्ठ कर्मों मे लगा व्यक्ति आवागमन के चक्र से मुक्ति प्राप्त कर लेगा।[10] यहा वल्लुवर मन की निर्मलता, ईर्ष्या, लोभ, क्रोध, कठोर-वचन का त्याग करने को धर्म का प्रमुख रूप स्वीकार करते है।

तिरुवल्लुवर के अनुसार भव-सागर से पार उतरने, मृत्यु उपरान्त सुख प्राप्त करने एव स्वर्ग प्राप्त करने के लिए मनुष्य को इस जीवन मे निरन्तर, एक भी दिन नष्ट किए बिना, धर्म-कार्य करते रहना चाहिए। इसके लिए अरम् (धर्म) के नियमो का अनुसरण करना होगा। उन्होने विधि और निषेध का यह कार्य लोकजीवन पर आधृत उदाहरणों के माध्यम से व्यक्त किया है।

'धर्म' शब्द को आधार बनाकर कबीर ने विशेष रूप से किसी प्रकार का कथन नहीं

---

१ कुरल ४०।

२ कुरल ३४ तुलनीय—शमस्तूपरमो धर्मः प्रवृत्तः सत्सु नित्यशः।
गृहस्थाना विशुद्धाना धर्मस्य निचयो महान्॥—महा०, अनु० १४१। ७०।

३ कुरल ३३।

४ कुरल ३५।

५. कुरल ३७।

६. कुरल ३१।

७ कुरल ३९।

८ कुरल ३८, तुलनीय—धर्म एको मनुष्याणां सहाय पारलौकिक।
—महा०, शान्ति।

९ कुरल ३६, तुलनीय—मृत शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति॥—मनु० ४।२४१।

१०. कुरल ३८, तुलनीय—तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं संचिनुयाच्छनैः।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम्॥—वही, २।२४२।

किया परन्तु धर्म के सामान्य सिद्धान्तो एव लक्षणों के विषय में उनके काव्य मे अनेकानेक उक्तियां हैं। कबीर 'विधि' का मार्ग कम और 'निषेध' का मार्ग अधिक अपनाते हैं। धर्म और दया का सम्बन्ध है, पाप और लोभ का सम्बन्ध है, क्रोध और काल परस्पर सम्बद्ध हैं परन्तु जहा क्षमा है वहाँ पर प्रभु स्वय ही निवास करते हैं।[१] कबीर गृहस्थ के लिए स्पष्ट कह देते हैं कि यदि गृहस्थ में निवास करना है तो धर्म के मार्ग का अनुसरण करो अन्यथा सन्यास लेकर संसार-कार्यों से अलग हट जाओ।[२] मनुष्य को यह जान लेना होगा कि जब तक वह काम और क्रोध से युक्त है, स्नान इत्यादि से कोई लाभ नही।[३] जब तक 'काम क्रोध हकार बिआपै' तब तक 'नां छूटै माया'।[४] जीवन का लक्ष्य तो हरि-पद प्राप्त करना है उसके लिए काम, क्रोध, लोभ, मोह, स्तुति, निन्दा, मान, अभिमान का त्याग करना होगा।[५] जब तक 'काम, क्रोध, अहकार' का त्याग नहीं होता, व्यक्ति बधनमुक्त नही होता। अत कबीर का बार-बार यही कथन है कि 'परिहरू लोभु अरू लोकाचारु। परिहरू कामु, क्रोधु हकारू।'[६] यह ध्यान रखना होगा कि भ्रम में फसकर व्यक्ति जिस बाह्य आडम्बर को धर्म मान बैठा है, उसके कारण अपने सिर पर और भी बोझ लाद रहा है।[७]

धर्म-मार्ग का अनुसरण करने वाले व्यक्तियो के लिए कबीर ने किसी प्रकार के लौकिक अथवा पारलौकिक लाभादि का उल्लेख नही किया। यह तो साधारण आवश्यकता का मार्ग है। हा, उनकी उक्तियो मे तत्त्व-ग्रहण और हरिपद-प्राप्ति का वर्णन अवश्य है। यह सम्पूर्ण जगत् विनष्ट हो जाएगा, तत्त्व को जान लेने का मार्ग है, गुरु के उपदेश को धारण करना।[८] यह तत्त्व-वेत्ता जीवनमुक्त हो जाता है।[९] इस भवसागर मे अथाह जल है, राम नाम तथा हरि के चरणो का आधार लेने वाले के लिए यह सागर गाय के बछडे के खुर के विस्तार का बन जाता है।[१०] यदि मनुष्य इस धर्म मार्ग पर आचरण न करे तो काल उसे देख कर हसेगा क्योकि काया कच्ची है, मन अस्थिर है, और 'काम' अपना कार्य कर रहा है। ऐसी स्थिति मे 'ज्यौं-ज्यौं नर निधडक

---

१ जहा दया तह धर्म है, जहा लोभ तह पाप।
जहा क्रोध तह काल है, जहा खिमा तह आप॥
—कबीर ग्रथावली (पा० ना० ति०), पृ० १६०।

२ जौ ग्रिह करहि त धरम करू नाहि त करू बैराग॥—वही, पृ० १६०।

३. काम क्रोध मल भरि रहे कहा देह पखारै॥ वही, पृ० ४।

४. वही, पृ० २२।

५ काम क्रोध लोभ मोह बिबरजित हरि पद चीन्है सोई।
असतुति निंदा दोउ बिबरजित तजहि मानु अभिमाना॥—वही, पृ० १६।

६. वही, पृ० ४६।

७ कबीर मनि फूला फिरै, करता हू ज धरम।
कोटि करम सिर परि चढ़ै, चेति न देखै मरम॥—वही, पृ० २१४।

८ जो दीसै सो बिनसिहै, नाम धरा सो जाइ।
कबीर सोई तत्त गहि, जो सतगुर दिया बताइ॥—वही, पृ० २००।

९ कहै कबीर सोई ततबेत्ता जीवन मुक्ति समाई॥—वही, पृ० ८५।

१० भौ सागर अथाह जल तामैं बोहिथ राम अधार।
कहै कबीर हरि सरन गहु तब गौबछ खुर बिस्तार॥—वही, पृ० १२१।

फिरे, त्यों-त्यों काल हसंत।'[1] अत मनुष्य को धर्म मार्ग का, हरिनाम का आधार नहीं छोड़ना चाहिए, ऐसा करने से चाहे किसी भी प्रकार का लाभ क्यों न हो ?[2] मनुष्य इस तत्त्व को जानने में असमर्थ रहता है, उसके नेत्र सत्य नहीं देख पाते, हृदय की सूझता नहीं तथा वह काम, क्रोध, तृष्णा के वश में होकर बिना जल ही डूब मरता है।[3] कबीर का निरन्तर प्रयास है कि मनुष्य काम, क्रोध, मोह और भ्रम का त्याग करे और नि शक मन से ससार में विचरण करे।

कबीर और तिरुवल्लुवर के धर्म के महत्त्व के विषय में विचारों की तुलना से यह स्पष्ट है कि दोनो कवि सत्कर्म मे प्रवृत्त होने का सदेश देकर मानव-मात्र को इस भव-सागर से मुक्त कराने का प्रयास कर कर रहे हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहकार, इत्यादि से मुक्त होकर यदि व्यक्ति धर्म में प्रवृत्त हो तो इनके मत से उसे निश्चय ही जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्ति प्राप्त होगी। तिरुवल्लुवर धर्म-कार्य का प्रभाव सामाजिक भेदभाव में भी देखते हैं, यह पौराणिक दृष्टिकोण है, पर कबीर का धर्म, 'आत्मा' और 'परमात्मा' के सम्बन्धों की ओर अपेक्षाकृत अधिक उन्मुख है।

धर्म और प्रवृत्ति मार्ग

जीवन मे प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति-मार्ग में से प्रवृत्ति-मार्ग की श्रेष्ठता असंदिग्ध है। कर्म करते हुए जीवन व्यतीत करना, कर्म त्याग कर वन-प्रदेश मे तपस्या करने से कही श्रेष्ठ है। भारतीय परम्परा मूलत प्रवृत्ति-मार्गीय जीवन-दर्शन पर आधृत है। प्रवृत्ति मार्ग का आधार गृहस्थ है। गृहस्थ का निर्माण पति-पत्नी और सतति से होता है। दाम्पत्य-सूत्र मे आबद्ध पति-पत्नी एक दूसरे के पूरक हैं। गृहस्थ के सतुलन के लिए परस्पर प्रेम एव सद्भाव, अटूट विश्वास अनिवार्य आवश्यकता है। हमारे आस्तिक मनीषी पति और पत्नी के सम्बन्ध को आकस्मिक नही, प्रत्युत बृहन् लोको के सचालक ईश्वर के द्वारा पूर्व से ही सुनियोजित मानते हैं, "पति और पत्नी मूलत ऋत और सत्य के ही प्रतिरूप हैं। एक को द्यावा तो दूसरे को पृथ्वी, एक को ऋक् तो दूसरे को साम भी कहा गया है। दोनों का मिथुनीभाव अथवा युग-सन्नद्धता गृहस्थ की इकाई कहलाता है।"[4] परिवार सम्पूर्ण समाज की आधारशिला है, अत इसके महत्त्व की स्वीकृति स्वाभाविक है।

गृहस्थ जीवन प्रेम और माधुर्य से प्रेरित होता है। इसका मूल आधार है पति-पत्नी का पारस्परिक प्रेम। यही प्रेम विकास प्राप्त करता हुआ समाज के धरातल पर अनेक रूपो मे प्रस्फुटित होता है। विस्तृत अर्थ मे सामाजिक कर्त्तव्यो का आधारभूत ज्ञान गृहस्थ मे ही प्राप्त होता है। मानव-धर्म की शिक्षा का स्थल यही है। यह प्रेम सकुचित भावनाओ से मुक्त होता हुआ अन्य के प्रति अपने दायित्व को पूर्ण करते हुए आत्मसतोष प्राप्त करने का मार्ग है। यदि गृहस्थ अपने कर्त्तव्यो की पूर्ति में असफल रहे तो यह मधुर भावनाओ का अभाव जीवन को नरक में परिवर्तित कर देता है। फलत मनुष्य जीवन के एक महत् सुख से वचित हो जाएगा।

---

१. वही, पृ० २०१।

२. कहै कबीर हरि नाउ न छांडउं सहजै होइ सु होइ रे॥—वही, पृ० ९१।

३ फूटे नैन हिरदै नहिं सूझै मति एकौ नहिं जानी।
काम क्रोध तिसनां के मारे बूड़ि मुएहु बिनु पांनीं॥—वही, पृ० ४१।

४ वैदिक सस्कृति और सभ्यता, डा० मुंशीराम शर्मा, पृ० १६६।

मनुस्मृति में गृहस्थ आश्रम को अन्य तीनों (ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ, संन्यास) आश्रमों का आधार माना गया है।[१] वसिष्ठ स्मृति के अन्तर्गत भी गृहस्थ को अन्य तीनों आश्रमों का मूलाधार स्वीकार किया गया है।[२] मनु गृहस्थ को अन्य आश्रमों के लिए प्राणवायु के सदृश मानते हैं।[३] वह तो लौकिक एवं पारलौकिक सुखों की कामना रखने वाले व्यक्ति के लिए गृहस्थ के मार्ग का ही निर्देश करते हैं।[४] याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार जिस घर में दम्पति में अनुकूलत्व होता है वहाँ धर्म, अर्थ और काम की वृद्धि होती है।[५] वसिष्ठ ने गृहस्थ के कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हुए अतिथि-सत्कार,[६] मधुर-भाषण,[७] दान[८] इत्यादि को विशेष महत्त्व दिया है। वसिष्ठ स्मृति में तो यहा तक कहा गया है कि जिस प्रकार सभी नदिया अन्त में समुद्र में मिलकर स्थिति बनाती हैं उसी प्रकार अन्य आश्रमों का मूलाधार तथा पालक गृहस्थाश्रम ही होता है।[९] इसी प्रकार विश्व के विभिन्न धर्मों में गृहस्थ को विशिष्ट स्थान प्रदान किया गया है। ईसाई धर्म मे व्यक्ति का प्रथम कर्त्तव्य गृहस्थ मे रहकर 'धर्म' के मार्ग का ज्ञान प्राप्त करना स्वीकार किया गया है।[१०]

---

१ यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥—मनु० ३।७८।
तुलनीय—सर्वेषामपि चैतेषा वेदस्मृतिविधानत ।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठ स त्रीनेतान्बिभर्ति हि ॥—मनु० ६।८६।

२. चतुर्णामाश्रमाणा तु गृहस्थस्तु विशिष्यते ॥—वसिष्ठ स्मृति, २३१।

३ यथा वायु समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तव ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमा ॥—मनु० ३।७७।

४ स सन्धार्य प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता।
सुख चेहेच्छता नित्य योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियै ॥—वही, ३।७९।

५ यत्रानुकूल्य दम्पत्योस्त्रिवर्गस्तत्र वर्धते।—याज्ञवल्क्य, ७४।
तुलनीय—गृहाश्रमात् परो धर्मो नास्ति नास्ति पुन पुन ।
सर्वतीर्थफल तस्य यथोक्त यस्तु पालयेत् ॥—वेदव्यासस्मृति, ४।२।

६. सार्यमागतमतिथि नावरुन्ध्यात्।—वसिष्ठ, २२१।

७ वही, २२९।

८ वही।

९ चतुर्णामाश्रमाणा तु गृहस्थस्तु विशिष्यते ॥
यथा नदीनदा सर्वे समुद्रे यान्ति सस्थितम् ॥—वही, २३१, २३२।
तुलनीय—यथा नदीनदा सर्वे सागरे यान्ति सस्थितिम्।
तथैवाश्रमिण सर्वे गृहस्थे यान्ति सस्थितिम् ॥—मनु० ६।९०।

१०. "It remains true that the first of Christian Social duties is to show piety at home and that home must always constiute to be the School of those graces and virtues which men need for effectual Service, whether in the state or in the Church."

Encyclopaedia of Religion and Ethics—R L Otley, Vol VI, p 763

गृहस्थ जीवन (इल्वाऴ्क्कै) शीर्षक में वल्लुवर प्रवृत्ति-मार्गीय जीवन दर्शन का प्रतिपादन करते हैं। कवि ने समाज में गृहस्थ का स्थान सर्वोपरि स्वीकार किया है। गृहस्थ के महत्त्व का प्रतिपादन करने के उपरान्त उसके कर्त्तव्य-कर्मों का उल्लेख करते हुए उसे धर्म-मार्ग पर अग्रसर होने का संदेश दिया गया है।

ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ, सन्यास—इन तीनों आश्रमों के मनुष्य गृहस्थ पर आश्रित हैं अतः धर्म में गृहस्थ की महती आवश्यकता है।[1] इसी प्रकार निराश्रित, निर्धन, और मृतकों का सहायक भी गृहस्थ ही है।[2] जो व्यक्ति धर्मानुसार गृहस्थ जीवन व्यतीत करने में समर्थ हैं उनके सन्यासी होने का क्या लाभ ?[3] धर्मकार्य करने का श्रेष्ठ मार्ग गृहस्थ जीवन है, यह जीवन सभी अन्य आश्रमो से श्रेष्ठ है।[4] ससार मे धर्म कार्यों से युक्त सुखद वैवाहिक जीवन व्यतीत करने वाला मनुष्य स्वर्ग के देवता के समान है।[5] वल्लुवर के मतानुसार गृहस्थ अन्य व्यक्तियों को धर्म-पालन मे सहायता प्रदान कर उन्हें धर्म-मार्ग पर अग्रसर होने के योग्य बनाता है। इस प्रकार का गृहस्थ जीवन तपस्वियो के जीवन से भी महान् होता है।[6]

गृहस्थ को साधु, निर्धन और मृतकों की सहायता करनी चाहिए।[7] उसे पूर्वज, देवता, अतिथि, सम्बन्धी तथा स्वय के प्रति निरन्तर धर्मानुकूल कार्य करना चाहिए।[8] धन-सग्रह के समय पाप से निरन्तर बचने एव व्यय करते समय अन्य को खिला कर जीवन व्यतीत करने वाले गृहस्थ का कभी पतन नही होता।[9] परिवार में प्रेम और धर्म का आश्रय ग्रहण करने से गृहस्थ को सतोष की प्राप्ति होगी।[10] गृहस्थ जीवन नियमानुसार व्यतीत करना चाहिए,[11] अन्य व्यक्तियो को धर्म-मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करना एव स्वय भी धर्मानुकूल आचरण करना गृहस्थ का कर्त्तव्य है।[12] गृहस्थ जीवन को दोषो से मुक्त रखने का प्रयास करना चाहिए।[13]

---

१ कुरल—४१।

२ कुरल—४२, तुलनीय—यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तव ।
एव गृहस्थमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति भिक्षव ।।—वसिष्ठ, २३३।
एव ऋषय पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा।
आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्य' कार्यं विजानता ।।—मनु० ३।८०।

३. कुरल—४६।

४ कुरल—४७।

५ कुरल—५०।

६ कुरल—४८।

७ कुरल—४२।

८ कुरल—४३, तुलनीय : देवतातिथिभृत्यानां पितॄणामात्मनश्च य.।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति ।।—मनु० ३।७२।

९ कुरल—४४।

१०. कुरल—४५।

११ कुरल—४७।

१२ कुरल—४८।

१३. कुरल—४९।

वल्लुवर का संदेश यही है कि इस जीवन का निर्वाह यथायोग्य धर्मानुसार करना चाहिए।[1]

कबीर प्रवृत्तिमार्गीय जीवन के महत्त्व से प्रभावित हैं। उन्होंने त्यागी गृहस्थ को वि महत्त्व तथा यथेष्ट मान्यता प्रदान की है। इसमे कोई सन्देह नहीं कि वे ससार की नश्वरत प्रभावित हो मन को विमुक्त रखने का उपदेश देते हैं पर फिर भी व्यक्तिगत एवं सामा आवश्यकताओं के कारण गृहस्थ के महत्त्व को वे अस्वीकार नही करते।

गृहस्थ में धर्म-कार्य की अनिवार्य आवश्यकता कबीर को मान्य है—जो ग्रिह करि धरम करु।[2] गृहस्थ का चित्त उदार होना चाहिए।[3] साधु और हरि में कोई अन्तर नही। साधु का आदर एवं हरि की सेवा करना गृहस्थ का धर्म है। यदि ऐसा नही तो वह घर म के समान है।[4] परिवार का पालन-पोषण स्वय मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है, पर यदि व्य अपनी समस्त शक्ति इसी मे लगा दे तो आत्मिक विकास के मार्ग अवरुद्ध हो जाएगे अत: क का सदेश है कि मनुष्य धधा करते हुए ही अपने सम्पूर्ण जीवन को व्यतीत न कर दे, जीव उच्चतर सोपानो की ओर अग्रसर होने का भी प्रयास करे।[5] वे गृहस्थ को इस मार्ग के सोपान के रूप में स्वीकार करते हैं।

मनुष्य को वश, जाति, अथवा सम्पत्ति इत्यादि का गर्व नही करना चाहिए क्य कुछ भी तो अनश्वर नही। यदि कुल का गर्व करे तो श्मशान ले जाने पर उसका गर्व च चूर हो जाएगा।[6] अगर समाज का गर्व करे और सत्य-मार्ग से विमुख हो जाए तो भी भू क्योकि दुनिया किसी का साथ नही देती, अत व्यक्ति 'गाफिल' होकर अपने पांव पर कुल्ह क्यो मारे?[7]

धन का सग्रह कबीर जैसे फक्कड सत को भला कैसे रुचता? उन्होने समाज के लोभी गृहस्थ व्यक्तियो को कडी चेतावनी दी है। ससार के सम्बन्ध नश्वर हैं, जब तक नहीं आती तभी तक सबका सम्बन्ध है, 'मरहट लौं सभ लोग कुटुब भयौ आगे अकेला।'[8] पर इसका अभिप्राय यह भी नही है कि मनुष्य जीवन के कार्यों से विमुख हो ज कबीर तो यह मानते हैं कि मनुष्य निर्लिप्त भाव से अपने कर्म मे रत रहे, लोभ, मोह, क

---

१ कुरल—५०।

२ कबीर ग्रथावली (पा० नि० ति०) पृ० १६०।

३ बैरागी बिरकत भला, गिरही चित्त उदार॥ —वही, पृ० १६५।

४. जिहि घरि साध न पूजिए, हरि की सेवा नाहिं।
ते घर मरहट सारिखे, भूत बसै तिन माहिं॥
—वही, पृ० १५३।

५ रांम नांम जांना नहीं, पाला कटक कुटुब।
धधा ही मैं मरि गया, बाहरि भई न बब॥ —वही, पृ० १८७।

६. तब कुल किसका लाजसी जब ले धरहिं मसानि॥ —वही, पृ० १८६।

७ दीन गवाया दुनीं सौ दुनी न चाली साथि।
पांव कुहाडी मारिया गाफिल अपनै हाथि॥ —वही, पृ० १८६।

८ ज्यौ माखी सहनैं नहिं बिहुरै जोरि-जोरि धन कीन्हा।
—वही, पृ० ४०।

क्रोध इत्यादि से मुक्त रहता हुआ निष्काम कर्म में प्रवृत्त रहे, क्योंकि मोह की स्थिति होने पर कष्ट की प्राप्ति होना स्वाभाविक है। यही कारण है कि इस 'मोह' एवं 'ममत्व' की भावना से मुक्त रहने का संदेश अनेक स्थलों पर दिया गया है।[१] गृहस्थ को त्याग निवृत्तिमार्गीय जीवन ग्रहण करने का निषेध भी कबीर ने किया है। गृहस्थ त्याग करना तभी लाभप्रद है जब विषयों का त्याग हो सके। यदि मानव गृहस्थ में रहकर ही विषय-त्याग कर ले तो यहीं सफलता प्राप्त कर सकता है। सम्भवत इसी भावना से प्रेरित होकर उन्होंने कहा—

> ग्रिह तजि बनखडि आइअै चुनि खाइअै कदा।
> अजहु बिकार न छोड़ई पापी मनु मंदा ॥[२]

कबीर कहते हैं कि 'कुछ थिर न रहाई'[३] अत मनुष्य को गृहस्थ में लिप्त नहीं होना चाहिए—

> झूठा लोग कहैं घर मेरा।
> जा घर माहैं बोलै डोलै, सोई नही तन तेरा ॥
> बहुत बध्या परिवार कुटब मैं, कोई नही किस केरा।[४]

जैसे पदो में गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए भी निर्लिप्त रहने का सदेश देते हुए कबीर मूलत ससार की नश्वरता से प्रभावित हैं। 'तृया का बदन देखि सुख पावै, साध की सगति कबहू न आवै।'[५] 'पुत्र कलत्र लक्षमी माया। इनते कहु कौनै सुख पाया।'[६] 'पुत्र कलत्र लच्छमी माया इहै तजहु जिय जानी रे।'[७] इत्यादि के मूल मे गृहस्थ की अस्वीकृति नहीं अपितु अत्यधिक लिप्त होकर जीवन-यापन की अस्वीकृति है। सत्य तो यह है कि यह ससार 'धूवरि मेह' है यहा 'तन धन जोबन अजुरी को पानीं जात न लागै बार'[८] अत गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए भी कबीर का सदेश यही है कि 'जग सू प्रीति न कीजिये'।[९] कबीर इसी तर्क को आगे बढ़ाते हैं कि 'एक कनक अरु कामनी, जग मैं दोइ फदा। इनपै जो न बँधावई, ताका मैं बन्दा।'[१०]

---

१ तुलनीय एक प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥—मनु० ४।२४०।
एव नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठत।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवल ॥—मनु० ४।२३९।
एव (क) लाज न मरहु कहहु घरु मेरा।
अत की बार नही कछु तेरा ॥—कबीर ग्रथावली (पा० ना० ति०), पृ० ४६।
(ख) मात पिता बनिता सुत सपति अति न चले संगात॥—वही, पृ० ४४।

२ वही, पृ० २३।

३ कबीर ग्रथावली, पृ० ९१।

४ वही, पृ० १२५।

५. वही, पृ० १२६।

६ वही, पृ० २०५।

७ वही, पृ० २०८।

८ वही, पृ० १४५।

९ वही, पृ० ११३।

१० वही, पृ० ११३।

संक्षेप में कबीर गृहस्थ की महत्ता को तो मान्यता देते हैं, पर निष्काम कर्म में प्रवृत्त होने का संदेश देते हुए, गृहस्थ से धर्म-मार्ग पर अग्रसर होने की आशा करते हैं। संसार की नश्वरता का उल्लेख उनके काव्य में मुखर है। अत गृहस्थ सम्बन्धी कथनो में 'नश्वरता' का उल्लेख उनके काव्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति का द्योतक है।

गृहस्थ

पत्नी

प्रवृत्ति मार्ग और गृहस्थ अभिन्न-प्राय है और गृहस्थ का आधार सहधर्मिणी एव सतति है। अत इस सदर्भ में सहधर्मिणी के सम्बन्ध मे विचार होना उचित है। विवाह के पश्चात पत्नी का घर के साथ तादात्म्य स्थापित होता है। इस घर में उसके कर्त्तव्यों एव अधिकारो का उल्लेख वेद, स्मृति एव अन्य नीति-ग्रन्थों मे हुआ है। ऋग्वेद में स्त्री को श्वसुर, सास, ननद और देवरो की सम्राज्ञी होने का आशीर्वाद है।[१] अथर्ववेद मे पत्नी को 'रथ की धुरी' कहकर गृहस्थ का आधार माना है।[२] शतपथ ब्राह्मण पत्नी को गृहस्थ की प्रतिष्ठा मानता है।[३] पत्नी घर के कार्यों को नियमपूर्वक सम्पन्न करने वाली है।[४] वह व्यवस्थाकारिणी है।[५] मनु ने पति की आय का सग्रह और सगृहीत धन इत्यादि के उचित रीति से व्यय करने का अधिकार गृहिणी को प्रदान किया है।[६] मनु का मत है कि जो स्त्री मन, वचन और शरीर को सयत रखती हुई, पति का उल्लघन नही करती वह इस लोक मे पतिव्रता कहलाती है और मृत्यु उपरान्त पतिलोक को प्राप्त करती है।[७] दक्ष स्मृति मे पत्नी को घर का मूल माना गया है। यदि भार्या वश मे हो तो गृहस्थाश्रम के तुल्य कुछ नहीं।[८] स्नेह-युक्त और इच्छा के अनुकूल पत्नी के द्वारा धर्म, अर्थ, काम त्रिवर्ग का फल प्राप्त होता है।[९] गृह का निवास सुख के लिए होना है और घर के सुख का मूल पत्नी ही है।[१०] यजुर्वेद मे, पत्नी के साथ, सौ वर्ष तक कर्त्तव्य-कर्म करने के लिए गृहपति की प्रार्थना है।[११] स्त्री की महत्त्वपूर्ण स्थिति, उसके अर्द्धांगिनी रूप की स्वीकृति उपनिषद् और ब्राह्मण ग्रन्थो मे उल्लिखित है।[१२]

---

१ सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु ॥—ऋग्वेद, १०। ८५।४६।

२. अथर्ववेद, १४।१।६१।

३. गृहा वै पत्न्यै प्रतिष्ठा ॥—शतपथ ब्राह्मण।

४. 'सुयमा गृहेभ्य'—अथर्ववेद १४।२।१७।

५. यन्त्री राड्यन्त्र्यसि यमनी ध्रुवासि धरित्री।—यजुर्वेद, १४।२२।

६ अर्थस्य सग्रहे चैना व्यये चैव नियोजयेत् ॥—मनु० ९।११।

७ पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसयता।
सा भर्तृलोकानाप्नोति सद्भि साध्वीति चोच्यते ॥—मनु० ९।२९।

८. 'पत्नी मूल गृहम्' गृहाश्रमसम नास्ति यदि भार्या वशानुगा ॥
तया धर्मार्थकामानां त्रिवर्गफलमश्नुते।—दक्षस्मृति ४।१,२।

९ प्राकाम्ये वर्त्तमाना तु स्नेहान्नतु निवारिता ॥—वही, ५।२।

१० गृहवास सुखार्थाय पत्नी मूल गृहे सुखम्। वही, ४।७।

११. अस्थूरि णौ गार्हपत्यानि सन्तु शतधु हिमा ॥—यजुर्वेद, २।२७।

१२. देखें, बृहदारण्यक, १।४।१७, शतपथ, ५।२।१।१० इत्यादि।

स्त्री की रक्षा उसका अपना आत्मसंयम है। कोई मनुष्य शक्ति से स्त्री को वश में नहीं कर सकता। 'न कश्चिद्योषितः शक्त. प्रसह्य परिरक्षितुम्'[1] परन्तु 'आत्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः।'[2] सन्तान की उत्पत्ति, पालन पोषण, लौकिक नियम का प्रत्यक्ष प्रमाण स्त्री ही है।[3] मनु ने पर-पुरुष से सम्बन्ध रखने वाली स्त्री, की निन्दा की है, 'व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम्।'[4]

तिरुवल्लुवर के सहधर्मिणी के गुण (वाऴ्क्कैत्तुणैनलम्) शीर्षक अध्याय मे पत्नी के लिए उचित कर्त्तव्यों का विश्लेषण और गृहस्थ में उसके महत्त्व का प्रतिपादन हुआ है। तिरुवल्लुवर ने अपने युग विशेष की आवश्यकताओ को ध्यान में रख जो आदर्श प्रतिपादित किया, वह आज भी अक्षरश स्वीकृत किया जाता है। जीवन-संगिनी परिवार की मर्यादा के अनुसार सद्गुणो से सम्पन्न हो। पति की आय के अनुसार ही व्यय करना पत्नी का धर्म है।[5] प्रात काल उठकर पति की पूजा करने वाली स्त्री प्राकृतिक शक्तियो को नियन्त्रित करने में समर्थ होती है।[6] आदर्श पत्नी वही है जो अपने सतीत्व की रक्षा करे, पति की सुविधाओं का ध्यान रखे, यथायोग्य परिवार के यश और गौरव की रक्षा करे तथा अपने पारिवारिक कर्त्तव्यो का पालन करे।[7]

स्त्री के चरित्र की रक्षा बाह्य बन्धनों से नही, अपितु अपने इन्द्रिय-निग्रह से ही सम्भव है।[8] अपने पति का निष्ठापूर्वक आदर करने वाली स्त्री स्वर्ग का समस्त वैभव सहज ही प्राप्त करती है।[9] पत्नी के सुचरित्र के अभाव मे पति अपमानित करने वालों के समक्ष सिंह सदृश सिर ऊंचा कर नही चल सकता।[10] घर की मागलिक शोभा है गृहदेवी का सद्गुण और उसका अलकरण है—सुपुत्र।[11] तिरुवल्लुवर गार्हस्थ्य जीवन मे दृढ सतीत्व-धर्म से युक्त पत्नी से अधिक महान् कुछ नही मानते।[12] यदि स्त्री धर्म-परायण है तो परिवार में निर्धनता का वास सम्भव नही, इसके विपरीत यदि पत्नी सद्गुण रहित है तो किसी का जीवन कितना ही श्रेष्ठ क्यो न

---

१ मनु० ९।१०।

२ मनु० ९।१२।

३ उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम्।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम्॥ —मनु० ९।२७।

४. मनु० ९।३०।

५. कुरल—५१, तुलनीय—सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया॥ —मनु० ५०१

६ कुरल—५५।

७ कुरल—५६।

८ कुरल—५७; तुलनीय—मनु० ९।१२।

९ कुरल—५८, तुलनीय—मनु० ५।१६५।

१० कुरल—५९।

११. कुरल—६०।

१२ कुरल—५४, तुलनीय—यदा धर्मश्च भार्या च परस्परवशानुगौ।
तदा धर्मार्थकामानां त्रयाणामपि संगम.॥ —महा० वन०।

हो, सब व्यर्थ है।[१] यदि पत्नी सद्गुणों से युक्त है तो और क्या चाहिए? यदि वह गुणरहित है तो शेष ही क्या रहा?[२] जीवन संगिनी यदि गुण-रहित हो तो गृहस्थ की सफलता असम्भव है।

स्त्री के लिए पतिव्रत धर्म का निर्देश कबीर ने एकाधिक स्थलों पर किया है। वे व्यभिचार की घोर निन्दा करते हैं, व्यभिचार करनेवाली स्त्री पति के आदर से वंचित हो जाती है।[३] कबीर की इस सम्बन्ध में उक्तियां यद्यपि जीव परमात्मा के सम्बन्ध में हैं, पर सामाजिक व्यवहार का निर्देश स्वत ही हो गया है। नारी का अपने पति के अतिरिक्त किसी के साथ सम्बन्ध रखना व्यभिचार है, पति भला इससे प्रसन्न कैसे हो सकता है?[४] कबीर ने प्रेम-सम्बन्ध में एकनिष्ठता को मान्यता दी है, दूसरा वहां समा ही नहीं सकता।[५] पतिव्रता स्त्री का समस्त दायित्व कबीर पति पर छोड़ते हैं क्योंकि 'पतिबरता नांगी रहै, तो उसही पुरिख कौं लाज।'[६] सती स्त्री अपना सर्वस्व प्रिय को अर्पित कर सम्पूर्ण अन्तर को समाप्त कर देती है।[७] कामिनी की निन्दा करते हुए 'पतिबरता' पर वह कोटिश रूपवतियों को न्योछावर करते हैं।[८]

सहधर्मिणी के विषय में वल्लुवर और कबीर के विचारो की तुलना से दो तथ्य स्पष्ट होते हैं। दोनों कवि स्त्री के चरित्र और पति के प्रति उसकी अनन्यता एव एकनिष्ठता का प्रतिपादन करते हैं। इस विषय मे दोनो कवि पूर्ण रूप से एकमत हैं। दूसरी विशेषता है वल्लुवर के द्वारा स्मृति-ग्रन्थो के समान स्त्री के पारिवारिक कर्त्तव्यो का निर्धारण। गृहकार्य, व्यय, सन्तानोत्पत्ति, इत्यादि कर्त्तव्यों का उल्लेख 'वाळ्कैत्तुणैनलम्' अध्याय मे हुआ है। कबीर आध्यात्मिक भावना से प्रेरित हो 'जीव' ('सुन्दरी',[९] 'पतिबरता',[१०] 'नारि'[११]) और 'पर-

---

१ कुरल—५२।

२ कुरल—५३, तुलनीय—आनुकूल्य हि दम्पत्योस्त्रिवर्गोदयहेतवे।

अनुकूल कलत्र चेत् त्रिदिवेन हि किं तत?
प्रतिकूल कलत्र चेत् नरकेया हि किं तत?
गृहाश्रय सुखार्थाय पत्नीमूल हि तत्सुखम्॥
—प० पु० २२३।३६-३७, (कल्याण-धर्मांक, पृ० ६०३)।

३ कबीर जे कोइ सुदरी, जानि करै बिभिचारि।
ताहि न कबहू आदरै, परम पुरिख भरतार॥
—कबीर ग्रंथावली (पा० ना० ति०), पृ० १७७।

४ नारि कहावै पीव की, रहै और सग सोइ।
जार मीत हृदया बसै, खसम खुसी क्यों होइ॥—वही, पृ० १७५।

५ कबीर रेख सिंदूर की, काजर दिया न जाइ।
नैंननि प्रीतम रमि रहा, दूजा कहा समाइ॥—वही, पृ० १७६।

६ वही, पृ० १७६।

७. तन मन सौंपा पीव कौं, अतरि रहि न रेख।—वही, पृ० १८२।

८ पतिबरता मैली भली काली कुचिल कुरूप।
पतिबरता के रूप पर वारो कोटि स्वरूप॥—वही।

९ वही, पृ० १७७।१५।

१० वही, पृ० १७६।८।

११ वही, पृ० १७५।१५।

आत्मा' ('पीव'[1] 'खसम'[2] 'पुरिख'[3] 'प्रीतम'[4] 'सांइ'[5] 'भरतार'[6]) के सम्बन्धों का वर्णन लोक-जीवन के प्रतीकों के माध्यम से करते हैं। इसमें स्त्री के कर्त्तव्यों का उल्लेख प्रसंगवश हो जाता है। कबीर का पति-पत्नी सम्बन्ध विषयक दृष्टिकोण स्पष्ट है। पुरुष को परकीया-प्रेम की अनुमति नहीं, स्त्री को पर-पुरुष से सम्बन्ध करने का अधिकार नहीं। पतिव्रता की एकासक्ति को अत्यन्त आदर-भाव से देखते हुए कबीर कहते हैं—

नैनां अतरि आव तूं, ज्यू हौं नैन झंपेउं।
ना हौं देखौं और कूं, नां तुझ देखन देउं॥[7]

कबीर के अप्रस्तुत इस विषय की स्थिति अनेक स्थलो पर स्पष्ट करते हैं—

'जिस दिल बधी एक सू, ते सुखु सोवै नचींत,'[8] 'नैंनूं रमइया रमि रह्या, दूजा कहां समाइ',[9] 'जे हँसि बोलौं और सौं, तौं नील रँगाऊं दंत'[10] इत्यादि स्थलो में पतिव्रता नारी और एकनिष्ठ पुरुष की धारणा की स्वीकृति है।

सतति

'मक्कटपेरु' अर्थात् 'पुत्र-प्राप्ति' अध्याय के अन्तर्गत वल्लुवर ने सन्तान-प्राप्ति, पुत्र का कर्त्तव्य, वात्सल्य का जीवन मे स्थान इत्यादि का वर्णन किया है। उनके मतानुसार विद्वान् सतति ससार की सर्वोत्तम उपलब्धि है।[11] निष्कलक तथा सच्चरित्र सतान से मनुष्यो को अनेक जन्मो तक कुकर्मों से मुक्ति मिल जाती है।[12] सतति ही किसी की सम्पत्ति होती है, पर वल्लुवर सतान-प्राप्ति पुण्य-कर्मों के फलस्वरूप ही स्वीकार करते हैं।[13] पुत्र का कर्त्तव्य यही है कि वह अपने कर्मों द्वारा लोगो के मुख से यह कहलवाए कि न जाने किस तप के प्रभाव से इसके पिता को इस पुत्र की प्राप्ति हुई।[14] पिता पुत्र के प्रति सर्वोत्तम उपकार यही कर सकता है कि उसे

---

१ कबीर ग्रथावली, (पा० ना० ति०) पृ० १७५।५।
२ वही, पृ० १७५।५।
३ वही, पृ० १७७।१५, १७६।८।
४ वही, पृ० १७६।१३।
५ वही, पृ० १७६।१४।
६ वही, पृ० १७७।१५।
७ कबीर ग्रथावली, पृ० १४।
८ वही, पृ० १५।
९ वही, पृ० १४।
१० वही, पृ० १४।
११ कुरल ६१।
१२. कुरल ६२, तुलनीय—लोकान्तरसुखं पुण्य तपोदानसमुद्भवम्।
सन्तति शुद्धवश्या हि परत्रेह च शर्मणे॥
—रघुवश कालिदास, १।६९।
१३ कुरल ६३।
१४ कुरल ७०।

विद्वमण्डली में प्रथम पंक्ति में बैठने योग्य बना दे।[1] इस विशाल धरती पर सन्तान के बुद्धि में अपने से बढ़ चढ़कर होने से प्रत्येक मनुष्य आनन्दित होता है।[2] लोगों के मुख से पुत्र की विद्वत्ता की प्रशंसा सुनकर माता का आनन्द पुत्र-जन्म के समय हुए आनन्द से भी बढ़ जाता है।[3] शिशुओं के स्पर्श से शरीर को, और उनके तोतले शब्दों से कानों को आनन्द प्राप्त होता है।[4] 'पिपहरी (कुळ्ल) मधुर है, वीणा (याळ्) मधुर है' ऐसा वही कहते हैं जिन्होंने अपने बच्चों की तोतली वाणी का आस्वादन नहीं किया।[5] बच्चों के कोमल हाथों से जिस भोजन में खिलवाड़ हुआ हो, माता-पिता के लिए वह अमृत से भी अधिक मधुर होता है।[6] सतति के विषय में कबीर के कथन अल्प हैं। ससार की नश्वरता एव जीवन की असारता का दृष्टिकोण उनके कथनों को इस सीमा तक प्रभावित करता है कि वे पुत्र-जन्म के अवसर पर मागलिक आनन्दोत्सवों को भी व्यर्थ मानते हैं।[7] रावण के एक लाख पुत्र और सवा लाख नाती थे पर 'ता रावन घरि दिया न बाती'।[8] कबीर अपने पुत्र की व्यापार-बुद्धि को भी कोसते हैं। उनकी दृष्टि मे आध्यात्मिक ज्ञान की खोज करने वाला पुत्र ही काम्य है। 'बूडा वश कबीर का उपज्यो पूत कमाल' का कारण उन्होंने यही माना है। कमाल ने हरि का स्मरण छोड़कर अपनी व्यावहारिक बुद्धि से लोक के पार्थिव आकर्षणो को महत्त्व प्रदान किया।[9] माता भी वही धन्य मानी गई जिसका पुत्र 'ज्ञान' की आराधना में रत है, 'जिह कुल पूत न ज्ञान बिचारी, बिधवा कस न भई महतारी'[10] मे कवि का स्वर इसी कारण इतना तीव्र हो गया है। प्रभु को जननी और स्वयं को पुत्र मान कर किए गए कुछ वर्णनो का उल्लेख 'तिरुवल्लुवर एव कबीर काव्य मे सामाजिक अभिव्यक्ति' (पचम अध्याय) के अन्तर्गत हुआ है। तिरुवल्लुवर की व्यावहारिक दृष्टि के फलस्वरूप सामाजिक जीवन मे परिवार और उसमे कोमल भावो के आधार 'पुत्र' का उल्लेख सामान्य जीवन के सदर्भ मे हुआ है। कबीर की आध्यात्मपरक दृष्टि मे 'कौन पूत को काको बाप, कौन मरै कौन करै सताप'[11] का स्वर प्रमुख है।

धर्म और निवृत्ति मार्ग

भारतीय शास्त्र, साहित्य एव जनजीवन मे प्रवृत्ति-मार्ग के महत्त्व पर अनेक स्थलो पर विचार प्रस्तुत हुए हैं। जीवन को चार आश्रमो-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास मे

---

१ कुरल ६७।
२ कुरल ६८।
३ कुरल ६९।
४ कुरल ६५।
५ कुरल ६६।
६ कुरल ६४, तुलनीय तै० ब्रा० ३।३।१०, शतपथ ब्रा० ५।२।१०, १२।८।२६, ३।३।१।१०, तै० स० ६।२।१, अथर्व० १।६१।२०।
७ कबीर ग्रंथावली, पृ० २०३।
८ वही, पृ० ९१।
९ वही, पृ० २००।
१० वही, पृ० २२०।
११ वही, पृ० ९०।

विभक्त करने वाली विचारधारा क्रमशः भोग से त्याग की ओर, कामना से निष्काम की ओर, लौकिक आनन्द से पारलौकिक आनन्द की ओर ले जानेवाली है। इस विचारधारा का प्रभाव जीवन पर अनेक रूपों में हुआ। प्रवृत्ति-मार्ग के एक सोपान के रूप में सन्यास अथवा त्याग के महत्त्व पर तो सदा ही विचार होता रहा है, पर समय-समय पर ससार के भोग का ऐकान्तिक त्याग कर, सन्यास-मार्ग को ग्रहण करने का भी सदेश प्रस्तुत किया गया है। वल्लुवर ने आश्रम-विभाजन को स्पष्टत: स्वीकार किया है,[1] गृहस्थ और प्रवृत्तिमार्गीय जीवन को प्रथम स्थान प्रदान किया।[2] इसके अतिरिक्त वानप्रस्थ और संन्यास को स्वीकार करते हुए त्याग के महत्त्व का प्रतिपादन किया। तप और त्याग को श्रेयस्कर मानते समय कवि के समक्ष सम्भवत किसी निवृत्तिमार्गीय दर्शन का चित्र भी रहा होगा, पर इनके काव्य के स्वर तप को मुख्य स्थान न दे, उसे गौण मानते हैं। निवृत्ति-मार्गीय जीवन के लिए भी कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्देश करने के उद्देश्य से ही इस विषय पर विचार हुआ है।

कष्ट का कारण है आसक्ति, अत आसक्ति-त्याग से ही मनुष्य कष्ट से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इस ससार की नश्वरता का ज्ञान हो जाने पर आसक्ति का त्याग होने की स्थिति आती है। 'तुरवु'[3] शीर्षक अध्याय मे भौतिक वस्तुओ से निरासक्त होने का सदेश है। वल्लुवर का मत है कि जिस वस्तु से मनुष्य अपनी आसक्ति हटा लेता है, उससे उसे कष्ट नहीं होता।[4] त्याग से अनेक इच्छित फल प्राप्त होते हैं, अत अवसर रहते मनुष्य को सासारिक भोगो का त्याग कर देना उचित है।[5] पचेन्द्रिय-दमन एव तत्सम्बन्धित पदार्थों का त्याग काम्य है।[6] तप का मूल लक्षण है 'सासारिक पदार्थों का त्याग', बधनयुक्त व्यक्ति वासना के वशीभूत रहेगा।[7] विद्वानो के मतानुसार कष्ट से मुक्ति के इच्छुक व्यक्ति के लिए शरीर-बन्धन ही बहुत है।[8] 'अहम्' और 'मम' का बन्धन त्याग देनेवाला मनुष्य स्वर्ग से भी उच्च स्थान प्राप्त करेगा।[9] जो मनुष्य भौतिक पदार्थों से सम्बन्ध रखेगा, उसे कष्ट प्राप्त होगे।[10] जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति सर्वस्व-त्यागी ही करते हैं, अन्य व्यक्ति तो मोह-पाश मे बद्ध विवश पड़े रहते हैं।[11] मोह की समाप्ति होते ही आवागमन-चक्र समाप्त हो जाएगा अन्यथा नश्वरता विद्यमान रहेगी।[12] वल्लुवर ने परम 'वीतराग' प्रभु की कामना करने का उपदेश देते हुए मोह से मुक्ति

---

१ कुरल ४१।

२ कुरल ४१ से ५० तक।

३ जीवन के आनन्द, भोगादि का त्याग, सन्यासम्, तमिल लेक्सिकन, पृ० २००४।

४ कुरल ३४१, तुलनीय यथा यथा च पर्येति लोकतन्त्रमसारवत्।
तथा तथा विरागोत्र जायते नात्र सशय ॥—महा०।

५ कुरल ३४२।

६ कुरल ३४३।

७. कुरल ३४४।

८ कुरल ३४५।

९ कुरल ३४६।

१०. कुरल ३४७।

११. कुरल ३४८।

१२ कुरल ३४९; तुलनीय प्रवृत्तं कर्म ससेव्य देवानामेति साम्यताम्।
निवृत्त सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै ॥—मनु० १२।९०।

के लिए उससे सम्बन्ध स्थापित करने का मार्ग दर्शाया है।[1]

इस विश्व को नश्वर जान, कबीर भी इसके विषय भोगो से विरक्त रहने का उपदेश देते हैं। 'अहम्' और 'मम' का अहकार झूठा है।[2] जब तक यह अहकार और लिप्तावस्था विद्यमान है, एक भी कार्य सफल नही होगा।[3] ससार से मुक्ति पाने का मार्ग यह है कि मनुष्य विकारों को त्याग दे।[4] वैराग्य लेने पर मनुष्य को समस्त भौतिक पदार्थों से निर्लिप्त हो जाना चाहिए, यदि गृहस्थ हो तो उदार-हृदय हो, यदि ऐसा न होगा तो न इधर के रहेंगे और न उधर के, 'माया मिली न राम' की दशा होगी।[5] 'मोर' और 'तोर' का सारा बधन झूठा है पर ससार उसी मे उलझा हुआ है।[6] इस ससार मे मनुष्य का अपना कुछ नही, और जो अपना नही उसे उसके स्वामी को सौंप देने मे ही भलाई है।[7] 'मोर' 'तोर' के रस्से मे बधे हुए मनुष्य इस सत्य को नही समझते और मार्ग से भटक जाते हैं।[8] आवश्यकता इस बात की है कि सत्य को समझा जाए।

संन्यासी के धर्म का प्रतिपादन करते हुए वल्लुवर तप का निर्देश करते हैं। उनके अनुसार तप का लक्षण है—'स्वय सभी कष्ट धैर्यपूर्वक सहन करना और दूसरो को कोई कष्ट न देना।'[9] कवि ने तप, दया और अहिंसा मे विशेष अन्तर नही माना। तप में प्रवृत्त होना पूर्व-जन्म के कर्मों के फलस्वरूप ही सम्भव है, अन्यथा मनुष्य इसमे सफल नही हो सकता।[10] तपस्वी का जीवन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, गृहस्थ तप मे इसीलिए प्रवृत्त नही होते कि उन्हे तपस्वी की आवश्यकताओ की पूर्ति का महत् कार्य करना है।[11] तपस्या से मनुष्य अनेक प्रकार की शक्तियां प्राप्त करता है, वह दुराचारी पापियो का नाश और सत्कर्म में प्रवृत्त सज्जनो की उन्नति कर सकता है।[12] तप के प्रभाव से इच्छित वस्तु सहज ही सुलभ हो जाती है। अत तत्काल ही तप मे लग जाना उचित है।[13] कर्म तो केवल तपस्वी ही कर रहे हैं, अन्य तो तृष्णा-

---

१ कुरल ३५०।

२ कहां कबीर सुनौ रे सतौ मेरी मेरी झूठी॥

—कबीर ग्रथावली (पा० ना० ति०), पृ० ३८।

३ जब लगि मेरी मेरी करै तब लगि काजु एक नहिं सरै॥—वही, पृ० ४२।

४. करि बिचार विकार परिहरि तरन तारन सोइ। —वही, पृ० ४०।

५ बैरागी बिरकत भला गिरही चित्त उदार।
दोऊ चूकि खाली पड़ै ताको वार न पार॥ —वही, पृ० १६५।

६ मोर तोर मह् जर जग सारा · · ।
—वही, पृ० १२७।

७ मेरा मुझ मे किछु नही, जो किछु है सो तेरा।
तेरा तुझको सौंपता, क्या लागै मेरा॥ —वही, पृ० १६१।

८ ··· मोर तोर की जेवरी गलि बधा ससार —वही, पृ० २१४।

९ कुरल २६१।

१० वही, २६२।

११. कुरल २६३।

१२ कुरल २६४, तुलनीय—यद्दुराय दुरावनाय दुराधर्षं दुरन्वयम्।
तत्सर्वं तपसा साध्य तपोहि दुरतिक्रमम्॥ —महा०।

१३. कुरल २६५।

वश व्यर्थ कार्यों में लिप्त हैं।[1] स्वर्ण तप कर कुन्दन बनता है, इसी प्रकार कष्टों को झेल कर तपस्वी की प्रकृति विशुद्ध बनती है।[2] आत्म-नियन्त्रण 'तप' का मूल आधार है, ऐसे आत्म-संयमी तपस्वी की वन्दना सम्पूर्ण विश्व आदर-सहित करता है।[3] तपस्या से आत्मिक बल की उपलब्धि होती है जिससे मृत्यु पर भी विजय प्राप्त करना सम्भव है।[4] तपस्या से अभाव समाप्त हो जाते हैं, तपस्या कर्म करने वाले अल्पसंख्यक हैं, इसीलिए विश्व में समृद्ध व्यक्ति कम सख्या में हैं।[5]

विभिन्न प्रवृत्तिमार्गीय सिद्धान्तो का प्रतिपादक कवि 'तप' जैसे निवृत्ति-परक धर्म को इतना महत्त्व दे रहा है, इसका कारण 'तप' के अर्थ के विषय मे तिरुवल्लुवर का नवीन दृष्टिकोण भी है। तिरुवल्लुवर की तपस्या जीवन से हट कर करने वाला कार्य नहीं। किसी को कष्ट न देना, स्वय कष्ट सहन करना, कष्ट सहन कर स्वप्रकृति विशुद्ध करना एवं इन्द्रिय नियन्त्रण द्वारा आत्मिक बल प्राप्त करना ही तिरुवल्लुवर के 'तवम्' का मार्ग है।

कबीर ने 'तप' शब्द का प्रयोग कम किया है, पर जिस विशिष्ट अर्थ में वल्लुवर ने 'तवम्' का प्रयोग किया है उस भावना से युक्त अनेक उक्तियां कबीर-काव्य मे उपलब्ध हैं। इन्द्रियो को वश मे करना, दूसरे को कष्ट न देना, स्वय कष्ट सहन करना—यह तो कबीर के काव्य का मुख्य विषय है। जीवन में कष्ट सहन करने और आन्तरिक पवित्रता पर कबीर विशेष बल देते हैं। उनका मत यह है कि 'हरि' की प्राप्ति चतुराई से नही होती, जो मनुष्य निष्काम भाव से उसकी शरण में जाएगा, वह उसे प्राप्त करेगा।[6] मनुष्य को यदि इस उद्देश्य मे सफलता प्राप्त करनी है तो उसके हृदय मे व्याकुलता का होना अनिवार्यत आवश्यक है।[7] अपनी इन्द्रियो को वश मे कर लेने वाला मनुष्य ही सत है, वह निष्काम होता है, एवं विषयों से दूर रहता है।[8] जिस तपस्वी ने अपने मन को वश मे नही किया, आशा और तृष्णा का त्याग नही किया, उसे दु ख की प्राप्ति होगी।[9] जिसने ज्ञान प्राप्त नही किया, उसका तो जन्म ही

---

१ कुरल २६६।

१ कुरल २६७।

३ कुरल २६८।

४ कुरल २६९, तुलनीय—सचरन्ति तपो घोर व्याधिमृत्यु विवर्जित।
स्ववशादेव ते मृत्यु भीषयन्ति च नित्यश ॥ —महा०।

५ कुरल २७०।

६ चतुराई हरि ना मिलै, यह बाता की बात।
निसप्रेही निरधार का, गाहक दीनानाथ॥
—कबीर ग्रथावली (पा० ना० ति०), पृ० २२३।

७ पीव न उपजै जीव मैं तौ क्यू पावै करतार॥
—वही, पृ० २१५।

८ निरबैरी निहकामता, साईं सेती नेह।
बिखया सौं न्यारा रहै, संतनि का अग एह॥—वही, पृ० १५६।

९ जोगी दुखिया जगम दुखिया तपसी कौं दुख दूना हो।
आसा त्रिसना सब कौं व्यापै कोई महल न सूना हो॥—वही, पृ० ५३।

वृथा हो गया।[1] तपस्वी के लिए बाह्य वेशभूषा होना अनिवार्य नहीं। वास्तविक महत्त्व तो मनुष्य की आन्तरिक पवित्रता और 'नाम' का है। अत वल्कल-वस्त्र पहन कर बन के मध्य वास करने का क्या लाभ ?[2] स्वय को 'ग्यानी', 'त्यागी', 'इन्द्रियजित', 'जोगी', 'भोगी', 'दाता,' 'तपसी' कहने वाले सभी झूठे हैं क्योकि सभी अहकार-लिप्त हैं और आत्मतत्त्व को किसी ने नहीं जाना।[3] कबीर अहम् के त्याग और आत्मतत्त्व के ज्ञान को प्रथम स्थान देते हैं क्योंकि ऐसा हो जाने पर चित्त विषयो मे नही जाता और यही सबसे बडा तप है।[4] वह इन्द्रिय-नियंत्रण एव निष्काम कर्म को तप के ही सदृश महत्त्वपूर्ण मानते हैं। बाह्य आडम्बर मे लगा व्यक्ति केवल स्वय को छल सकता है, अन्तर्यामी प्रभु को नही ! इसी प्रकार अहकार के कारण स्वय को कर्म का कर्ता मानने वाला कर्म-बन्धन मे फस, सत्य-मार्ग से भटक जाएगा। कष्टो को झेलकर आत्मिक विकास प्राप्त करना ही सत्य-मार्ग की ओर अग्रसर करेगा। जिसका मन सच्चा है, प्रभु उसके निकट ही निवास करते हैं। इस प्रकार तप के अन्तर्गत कबीर मानसिक पवित्रता और निष्काम कर्म को महत्त्व देते हैं।

तिरुवल्लुवर और कबीर के काव्य मे 'तप' विशिष्ट अर्थ मे आया है। सासारिक दायित्वो की पूर्ति करते हुए, जीवन का त्याग किए बिना भी मनुष्य तपस्वी हो सकता है। 'किसी को कष्ट न देना', 'स्वय कष्ट सहन करना' और इस प्रकार आत्मिक विकास की ओर अग्रसर होना दोनों कवियो को स्वीकार्य है। मानसिक पवित्रता एव कर्म की पवित्रता ही वास्तविक तप है। विश्व-कल्याण की भावना से प्रेरित भारतीय सास्कृतिक चेतना के इन दो महान् विचारक-कवियों का स्वर जीवन को आनन्दमय बनाने का मार्ग दर्शाता है, जीवन से पलायन को इन्होने अस्वीकार किया है।

धर्म और प्रेम भाव

गृहस्थ के अन्तर्गत पति, पत्नी, और पुत्र को एक सूत्र मे बाधने वाला तत्त्व है—'प्रेम-भाव'। यही प्रेम-भाव विकसित होकर व्यक्ति और समाज के सम्बन्धो का आधार बनता है। भक्त और प्रभु के सम्बन्धो का मुख्य आधार भी प्रेम ही है। 'अनबुटैमै' अर्थात् 'प्रेम-भाव' शीर्षक से वल्लुवर ने प्रेम की स्थिति, तथा उसके महत्त्व पर विचार किया है। कवि के विचारानुसार प्रेम को किसी भी अर्गला से आवृत्त नही किया जा सकता, प्रिय के अश्रु-बिन्दु उसके रहस्य का

---

१ बावरे तै ग्यांन बिचारू न पाया।
बिरथा जनमु गवाया॥
—कबीर ग्रथावली, (पा० नि० ति०) पृ० ५१।

२ बलकल बस्तर किता पहिरवा क्या बन मद्धे वासा॥—वही, पृ० १०८।

३. कोइ कहै मैं ग्यानी रे भाई कोइ कहै मैं त्यागी।
कोई कहै मैं इन्द्री जीती अहं सभनि कौं लागी।
कोइ कहै मैं जोगी रै भाई कोइ कहै मैं भोगी॥
× × ×
कोइ कहै मैं दाता रै भाई कोई कहै मैं तपसी।
निज तत नाउ निहचै नहिं जांना सब माया मैं खपसी॥—वही, पृ० ११३।

४ जब अंतर हरिजी बसै तब त्रिखिया सौं चित नाहिं॥—वही, पृ० १५७।

उद्घाटन कर देते हैं।[१] प्रेम से सहृदयता का जन्म होता है। इन दोनों के सम्बन्ध से मित्रता-रूपी बहुमूल्य रत्न उत्पन्न होता है।[२] प्रेम का महत्त्व केवल धर्म से संयुक्त होने में ही नहीं है अपितु यह अधर्म का सामना करने के लिए भी अस्त्र है।[३] धर्म एवं प्रेम का अनिवार्य सम्बन्ध है, सूर्य अस्थिहीन जीवों को अपनी तीव्रता से नष्ट कर देता है, इसी प्रकार प्रेमविहीन-धर्म की दशा होती है।[४]

प्रेम के अभाव मे जीवन 'स्व' तक सीमित हो जाता है, पर दूसरो के प्रति प्रेम-भावना-युक्त व्यक्ति परोपकार के लिए स्वजीवन तक उत्सर्ग कर देते हैं।[५] स्पष्ट है कि तिरुवल्लुवर आत्मा के विकास के लिए प्रेम-भाव-युक्त परोपकार को महत्त्व देते हैं। मरुभूमि में शुष्क वृक्ष में कोंपल आना असम्भव है, इसी प्रकार प्रेम-विहीन व्यक्ति के जीवन मे आनन्द और प्रसन्नता का अस्तित्व सम्भव नहीं।[६] यदि हृदय में प्रेम का अभाव है तो बाह्य सौन्दर्य एवं रूप का क्या लाभ ?[७] आत्मा ने शरीर का बन्धन प्रेम के आनन्द की प्राप्ति के लिए स्वीकार किया है।[८] धर्म पर आधृत प्रेम से सिंचित जीवन का फल है—स्वर्ग समान आनन्द की प्राप्ति।[९] जिस शरीर मे प्रेम है, वहा जीवन है, प्रेम-विहीन शरीर केवल चर्म-आवृत्त अस्थियों का ढाचा मात्र है।[१०] इस प्रकार वल्लुवर तो प्रेम-विहीन शरीर को हाड मास का पुतला मात्र मानते हैं जो अपने जीवन को व्यर्थ नष्ट कर रहा है।

जीवन के साधारण सम्बन्धो की बात तो एक ओर, कबीर ईश्वर-प्राप्ति के लिए भी प्रेम को अनिवार्य आवश्यकता मानते हैं। कबीर का प्रेम नि स्वार्थ एव अहकार-विहीन है। इस प्रेम मे मनुष्य को सीस उतार कर हाथ मे लेना होता है। इसके अभाव में व्यक्ति का जन्म व्यर्थ है। कबीर के नेत्र प्रिय के लिए अश्रु-बिन्दुओं से आप्लावित हैं—

अखिया प्रेम कसाइया जग जानै दूखडियाह।
राम सनेही कारनै, रोइ रोइ रातडियाह ॥[११]

प्रेम की पीडा मनुष्य के हृदय को अत्यधिक प्रभावित करती है।[१२] प्रेम का यह मार्ग अगम एव अगाध है, प्रेम का आनन्द लेने के लिए सीस काट कर पावों के नीचे रखना होता है।[१३] इस

१ कुरल ७१।
२ कुरल ७४।
३ कुरल ७६।
४. कुरल ७७।
५. कुरल ७२।
६ कुरल ७८।
७ कुरल ७९।
८ कुरल ७३।
९. कुरल ७५।
१० कुरल ८०।
११ कबीर ग्रथावली (पा० ना० ति०), पृ० १४४।
१२. एक जु पीर पिरीति की रही कलेजा छाइ ॥—वही, पृ० १४५।
१३. कबीर निज घर प्रेम का मारग अगम अगाध।
सीस काटि पगतर धरै तब निकटि प्रेम का स्वाद ॥—वही, पृ० १८१।

आनन्द की प्राप्ति के लिए व्यक्ति-व्यक्ति मे कोई भेद नही, चाहे राजा हो चाहे प्रजा, जिसे इच्छा हो शीश देकर इसे प्राप्त कर सकता है।[1] यह मार्ग अत्यन्त कष्टप्रद है, 'यह घर प्रेम का, खाला का घर नांहि', इसके लिए तो 'सीस उतारै हाथ सौं तब पैसै घर मांहि।'[2] कबीर मे ऐसे अनेक कथन उपलब्ध हैं जिनमें शीश उतार कर प्रेम-मार्ग पर चलने की बात दोहराई गई है—

(क) कबीर भाठी प्रेम की, बहुतक बैठे आइ।
सिर सौंपै सोई पिबै, नातर पिया न जाइ।।[3]

(ख) राम रसाइन प्रेम रस, पीबत अधिक रसाल।
कबीर पीवन दुर्लभ है, मांगै सीस कलाल।।[4]

कबीरदास प्रेम से इतने अधिक प्रभावित हैं कि वह प्रेमी जीव की खोज करते हैं परन्तु उन्हे 'प्रेमी' कोई नहीं मिलता। यदि प्रेमी से प्रेमी का मिलन हो जाए तो सब 'बिख,' 'अम्रित' मे परिवर्तित हो जाए।[5] प्रेम के अभाव मे इस विश्व मे जन्म लेना वृथा है। सूने घर का अतिथि जैसा आता है वैसा ही लौट जाता है, प्रेमविहीन व्यक्ति इस ससार से ऐसे ही अतिथि के समान जाता है।[6] प्रीति और प्रेम के अभाव मे व्यक्ति वृथा ही जन्म लेकर जीवन-यापन करते हैं,[7] ऐसा जीव मृत्यु उपरान्त स्वामी को न जाने कैसे भेंटेगा ?[8]

जब मनुष्य को प्रेम का प्रकाश प्राप्त हो जाता है, तब उसमे अनन्त ज्योति का प्रकाश भर जाता है। उसका सशय छूट जाता है, सुख की उपलब्धि होती है, प्रिय से मिलन सम्भव हो जाता है।[9] एक अन्य स्थल पर भी कबीर का कथन है कि शरीर रूपी पिंजडे मे प्रेम का प्रकाश होने से अन्तस् मे उजाला हो जाता है।[10] लोक प्रसिद्ध उक्ति 'जा घट प्रेम न सचरै, ता घट जान मसान' कबीर के प्रेम-विषयक दृष्टिकोण को स्पष्ट कर देती है। कबीर तो प्रेम के समक्ष ज्ञान को भी व्यर्थ मानते हैं। ज्ञान का बोझ ढोने से कोई लाभ नही, प्रेम का एक अक्षर पढ लेने

---

१ प्रेम न बारि ऊपजै प्रेम न हाटि बिकाई।
राजा परजा जेहि रुचै सीस देइ लै जाइ।।—कबीर ग्रन्थावली (पा० नि० ति०) पृ० १८३।

२. वही, पृ० १८३।

३ वही, पृ० १८३।

४ वही, पृ० १८३।

५. प्रेमी ढूंढत मैं फिरू प्रेमी मिलै न कोइ।
प्रेमीं सौं प्रेमी मिलै, तौ सब बिख अम्रित होइ।। —वही, पृ० १६०।

६ कबीर प्रेम न चाखिया, चाखि न लिया साव।
सूनै घर का पाहुना, ज्यौं आवै त्यौं जाव।। —वही, पृ० १४७।

७ जिहि घटि प्रीति न प्रेम रस, फुनि रसना नहिं राम।
ते नर आइ ससार मे, उपजि खर बेकाम।। —वही, पृ० १५०।

८ न परतीति न प्रेम रस, ना इस तन मे ढग।
क्या जानौं उस पीव सौं, कैसे रहसी रंग।। —वही, पृ० १६२।

९. पंजरि प्रेम प्रकासिया, जागी जोत अनन्त।
संसय छूटा सुख भया, मिला पियारा कत।। —वही, पृ० १६७।

१० पंजरि प्रेम प्रकासिया, अतर भया उदास।। —वही, पृ० १७०।

पर व्यक्ति ज्ञानी हो जाता है।[1]

वल्लुवर का प्रेम (अनबुटैमै) लौकिक धरातल पर परिपक्व होकर समाज के सम्बन्धों में मुखर होता है। वह प्रेम को जीवन एवं धर्म का आवश्यक अंग मानते हैं। कबीर का प्रेम-भाव आध्यात्मिक धरातल पर जीव और परमात्मा के सम्बन्धों का आधार है। लौकिक धरातल पर भी इसका वर्णन कबीर ने किया है। वे प्रेम के लिए अहंकार का पूर्णरूपेण त्याग करने का निर्देश करते हैं। इस प्रकार सामाजिक सम्बन्धों के लिए एवं आत्मिक विकास के लिए प्रेम-तत्त्व की महती आवश्यकता पर दोनों कवि बल देते हैं।

धर्म का व्यक्तिपरक रूप—मन

आत्मसंयम—मन की चचलता की ओर वेद से लेकर वर्तमान मनोविज्ञान तक की परम्परा मे निरन्तर विचार किया जाता रहा है, अत मन को वश मे कर इन्द्रियो का अपनी इच्छानुसार सचालन धर्म-मार्ग का प्रमुख अग हो जाता है। गीता मे श्रीकृष्ण ने कहा है कि 'मन नि सदेह कठिनता से वश मे होने वाला और चचल है किन्तु अभ्यास और वैराग्य से यह वश मे हो सकता है।'[2] इस नियन्त्रण का आधार अन्तस् ही है। स्टाउट भी इसी मत का प्रतिपादन करते हैं।[3] रस्किन ने मानव-भावनाओ के महत्त्व को स्वीकार करते हुए अनियत्रित एव असयत भावो को नियत्रित करने का परामर्श दिया है।[4]

तिरुवल्लुवर 'अटक्कमुटैमै' अर्थात् 'आत्म-सयम' अध्याय के अन्तर्गत इसी आत्म-नियत्रण की आवश्यकता का प्रतिपादन कर उससे सम्भव लाभादि की ओर सकेत करते हैं। आत्म-सयम से देवत्व प्राप्त होता है, असयत-इन्द्रिय व्यक्ति अन्धकार को प्राप्त करता है।[5] आत्म-नियत्रण से बढ़कर कोई सम्पत्ति नही है, अत उसकी रक्षा करनी चाहिए।[6] आत्म-सयम को धर्म-मार्ग मान उसका अनुसरण करने वाला व्यक्ति विद्वजन द्वारा समादृत होता है।[7] सयत

---

१ पोथी पढि पढि जग मुवा, पडित भया न कोइ।
एकै आखर प्रेम का, पढ़ै सो पडित होइ॥ —कबीर ग्रथावली (पा० ना० ति०), पृ० २४१।

२ असशय महाबाहो मनो दुर्निग्रह चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ —गीता, ६।३५।

३ Self-control is control proceeding from the self as a whole and determining the 'self' as a whole—*Manual of Psychology* Stout, p 626

४. Not that any feeling possible to humanity is in itself wrong, but only wrong when undisciplined Its nobility is in its force and justice; it is wrong when it is weak and felt for paltry cause.
—Ruskin, *Encyclopaedia of Religion and Ethics*, Vol. V, p 408 में उद्धृत।

५ कुरल १२१।

६. कुरल १२२।

७. कुरल १२३, तुलनीय—यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥
—कठोपनिषद्, १।३।६।

व्यक्ति का यश पर्वत-सदृश दृढ़ होता है।[1] पर्वत के समान विशाल एव दृढ़ यश-युक्त संयत व्यक्ति आदरणीय है। आत्म-संयम सभी को शोभता है परन्तु समृद्ध व्यक्ति के लिए वह विशिष्ट आभूषण है।[2] एक कछुए के समान पचेन्द्रिय पर नियत्रण कर लेने पर व्यक्ति सात जन्मों में सुरक्षित रहता है, पाप-कर्म उसे कष्ट नहीं देते।[3] यदि अन्य किसी अंग पर नियंत्रण सम्भव न हो तो अपनी जिह्वा पर अवश्य ही नियत्रण रखो क्योंकि वाणी के दोष से अनेक कष्टो की प्राप्ति होती है।[4] यदि वाणी के कारण किसी को तनिक भी कष्ट पहुँचे तो बोलने वाले का सब धर्म नष्ट हुआ समझो।[5] आग का जला घाव कुछ समय पश्चात ठीक हो, केवल चिह्न छोड जाता है पर वाणी का घाव सदा ही हरा बना रहता है।[6] ज्ञानयुक्त इन्द्रिय-निग्रही व्यक्ति यदि क्रोध से मुक्त है तो धर्म स्वय चलकर उसके पास आएगा।[7]

मन का संयम[8] करने पर शान्ति की उपलब्धि होती है।[9] विषयो का चिन्तन करने वाले पुरुष की कर्म मे आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से कामना और कामना के विघात से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से कार्य-अकार्य का अविवेक रूप मोह होता है, मोह से स्मृति विचलित होती है, स्मृति के विचलित होने से बुद्धि का नाश होता है, और बुद्धि का नाश होने से पुरुष का नाश हो जाता है।[10] वाल्मीकि का कथन है कि इन्द्रियो को प्रिय मालूम होने वाले विषयों से मनुष्यों का मन व्यथित हो जाता है।[11] भर्तृहरि जब 'चेत आयासकात् एतस्मात् इन्द्रिय अर्थ गहनात् विरम्'[12] कहते हैं तो उनका उद्देश्य भी मनुष्य को आत्म-सयम की ओर प्रेरित करना है। शरीर को सुख प्रदान करने वाली एव ससार के साथ ही नष्ट होने वाली समस्त वस्तुए 'प्रेय' हैं। क्षणिक सासारिक सुख के लिए जीवन बिताने वाले 'प्रेय' मार्ग के

---

१ कुरल १२४।

२ कुरल १२५।

३ कुरल १२६, तुलनीय—यदा सहरते चाय कूर्मोऽङ्गानीव सर्वश ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
—गीता, २।५८।

४. कुरल १२७।

५ कुरल १२८।

६ कुरल १२९, तुलनीय—निरोहेदायुधैच्छिन्न सरोहेद्दग्धमग्निना ।
वाक्क्षत च न सरोहेदाशरीर शरीरिणाम् ॥
—महा०।

७. कुरल १३०।

८. 'मन सयम्य'—गीता ६।१४।

९ 'नियतमानस शान्ति मत्संस्थामाधिगच्छति'।—गीता, ६।१५।

१० ध्यायतो विषयान्पुस सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्सजायते काम कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति समोह समोहात्स्मृतिविभ्रम ।
स्मृतिभ्रशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥—वही, २।६२, २।६३।

११. बालकाण्ड, १।१०।४।

१२. भर्तृहरि वैराग्यशतक, ५५।

अनुगामी हैं। परोपकार, दान, क्षमा एवं परहित में जीवन व्यतीत करने वाले श्रेयमार्ग का अनुगमन करते हैं। इस मार्ग पर अग्रसर होने के लिए आत्म-संयम की महती आवश्यकता है।

आत्म-संयम के मूल मे 'राग-द्वेष वियुक्त' का भाव है। इसके उपरान्त 'आत्मवश्यानि इन्द्रियाणि' का मार्ग आता है। धर्म-मर्यादा के अनुकूल अल्प विषय-सेवन से संयम विकास प्राप्त करता है। 'राग-द्वेष वियुक्तै आत्मवश्यैः इन्द्रियै' से विषयो में विचरता हुआ मानव प्रसन्नता प्राप्त कर सकता है। आत्म-संयम मे 'इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्य सर्वश निगृहीतानि' होने पर ही बुद्धि स्थिर, शान्त और गम्भीर होती है। जो पुरुष समस्त कामनाओ का त्याग कर नि·स्पृह, ममत्वरहित और अहकाररहित होकर व्यवहार करता है 'स शान्तिमधिगच्छति'। सकाम और निष्काम मनुष्यों के कर्मों मे अन्तर यह है कि सकाम मनुष्य वैयक्तिक स्वार्थ से अल्प क्षेत्र में कार्य करता है जबकि अकाम मनुष्य सम्पूर्ण मानव-समाज के हित के लिए अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र मे कार्यरत होता है। मानव के नैतिक-नियत्रण के मूल में इसी आत्म-सयम की स्वीकृति है, भावनाओ को जीवन के लक्ष्य की ओर प्रवृत्त करने के लिए इस आत्म-संयम की अपरिहार्यता पर विद्वानो का ध्यान गया है।[१] विद्वानो, धर्मोपदेशको एवं साहित्यकारों के आत्म-सयम पर अधिक बल देने का एक कारण यह है कि जिस व्यक्ति का जीवन आदर्श और आचार के सामान्य नियमों से निरन्तर प्रभावित रहता है उसका आत्म-नियत्रण अपेक्षाकृत अधिक होगा। आत्म-सयम ज्ञान, इच्छा और क्रिया के समन्वय से ही सम्भव है क्योंकि नियत्रण व्यक्ति के किसी अश-विशेष या प्रवृत्ति-विशेष का नहीं अपितु उसके पूर्ण अस्तित्व का ही होगा। व्यक्ति के वैभिन्य मे एकत्व की प्राप्ति की कामना इसी आत्म-नियत्रण से ही पूर्ण हो सकती है।

आत्म सयम के अन्तर्गत वल्लुवर यद्यपि पाचो इन्द्रियों को सयत करने का उपदेश देते हैं, पर वाणी-नियत्रण और क्रोध-नियत्रण पर उन्होने विशेष बल दिया है। यही नही, इन दोनो विषयों पर अलग विचार भी 'अरत्तुपाल' (धर्म-खण्ड) मे उपलब्ध है जिन पर अन्यत्र विचार किया गया है।

कबीर की वाणी मे आत्म-सयम के विषय मे अनेक स्थलो पर विचार किया गया है। वास्तव मे आध्यात्मिक लक्ष्यो की प्राप्ति के लिए आत्म-सयम से श्रेष्ठ मार्ग की कल्पना नही हो सकती। कबीर का निश्चित मत है कि आत्म-नियत्रण के अभाव में मनुष्य को किसी प्रकार की सफलता मिलना सम्भव नहीं। चाहे साधारण जीवन-यापन की बात हो अथवा हरि-पद-प्राप्ति की, काम, क्रोध, लोभ और मोह को त्यागने पर ही लक्ष्य प्राप्ति सम्भव है।[२]

---

१ "The Duty of self-discipline has always a positive as well as a negative side While negatively, it is the refusal to permit any single tendency of our nature to act in isolation and to dominate the life, on the positive side we find not merely the conquest of natural impulsive energy, but its pressure into the service of the total purpose of the life"

—Annie E F MacGregor, —*Encyclopaedia of Religion And Ethics*, p. 408

२. काम क्रोध लोभ मोह बिबरजित हरिपद चीन्है सोई।—कबीर ग्रंथावली (पा० ना० ति०) पृ० १६।

काम, क्रोध और तृष्णा के फलस्वरूप व्यक्ति बिना जल ही डूब जाता है।[1] कबी का कथन है—'परिहरु लोभु अरु लोकाचारु, परिहरु काम, क्रोध हकारु।'[2] इसका कार यही है कि 'पांच कुटुंबी महा हरांमी, अम्रित मैं बिख घोलैं।'[3] ये तो गढ़ में ही निवास कर वाले चोरों के समान हैं जो दिवस अथवा सांझ, किसी भी समय उसे लूट सकते हैं।[4] मनुष अज्ञानवश इन पाचो चोरों को अपने सग रखकर उनके ससर्ग मे बहुमूल्य जन्म व्यर्थ ही ख देता है।[5] जो इन पर नियत्रण कर लेता है, उसका जीवन सुधर जाता है,[6] पाप और पुण्य उसे मुक्ति मिल जाती है।[7]

वाणी-नियत्रण के लिए भी कबीर का मत है कि सज्जन व्यक्ति को कटु-वचनो व प्रयोग नहीं करना चाहिए।[8] मनुष्य की वाणी उसके आन्तरिक भावो की द्योतक है। अत सज्जन व्यक्ति की वाणी सदा मधुर और शुभ होगी। कटुवचनो का प्रयोग कठोर और असज्ज व्यक्ति ही करेगा। वाणी के आधार पर ही तो साधु और चोर का अन्तर ज्ञात हो जाता है। सारांश यह है कि कबीर मन, वचन और कर्म को सयत करने का उपदेश देते हैं। क्रोध, का लोभ, मोह, अहकार आदि शत्रुओ से तो मनुष्य को अपनी रक्षा करनी ही है, मधुर वचनो क प्रयोग भी उसे जागरूक रूप से करना होगा।

तिरुवल्लुवर और कबीर दोनो हृदय की शुद्धता एव आत्म-नियत्रण को लौकिक ए पारलौकिक शान्ति के लिए आवश्यक स्वीकार करते हैं। मनुष्य द्वारा क्रोध और कटु-वचन के त्याग पर बल देते हुए दोनो ही इन्द्रिय-निग्रह के लिए सदेश प्रस्तुत करते हैं। वल्लुव लौकिक दृष्टि से प्रभावित हो मधुर वचनो के प्रयोग और क्रोध-त्याग पर विशेष ध्यान देते हैं कबीर की दृष्टि इन दोनो विषयो पर विचार करते समय भी प्रमुखतया अध्यात्म-परक र है। उनके लिए काम, लोभ, मोह, माया इत्यादि के त्याग की आवश्यकता का कारण लौकि कम, आध्यात्मिक अधिक है।

इन्द्रिय-निग्रह—आत्म-सयम एव इन्द्रिय-निग्रह मे कोई तात्त्विक भेद नही है। यह भे केवल प्रयोग मे है। 'नीत्तार पेरुमै' के अन्तर्गत वल्लुवर ने सन्यासी और गृहस्थ सभी के लि

---

१ कांम क्रोध तिसनां के मारे बूडि मुएहु बिनु पानी।—कबीर ग्रंथावली (पा० ना० ति०) पृ० ४१

२ वही, पृ० ४६।

३ वही, पृ० ५५।

४ पंच चोर गढ़ मझा। गढ लूटहिं दिवसउ सझा।—वही, पृ० ४२।

५ पच चोर सगि लाइ दिए हैं इन सगि जनम गवायौ।—वही, पृ० २२।

६ मन पवना पाचौ बसि कीया तिन या राह सवारी।—वही, पृ० १०१।

७. पाचौं इन्द्री निग्रह करई। पाप पुन्नि दोऊ निरवरई।
—वही, पृ० १३३।

८. साधु भया तौ क्या भया, बोलै नांहि बिचारि।
हतै पराई आतमा, जीभ बांधि तरवारि।—वही, पृ० १८७।

९ बोलत ही पहिचानिए, साहु चोर का घाट।
अन्तर घट की करनी निकसै मुख की बाट।—वही, पृ० १८७।

इन्द्रिय-निग्रह के महत्त्व पर विचार किया है। सन्यासी के लिए इन्द्रिय-निग्रह का महत्त्व गृहस्थ की अपेक्षा निश्चय ही अधिक है, अतः सन्यासी का सदर्भ ग्रहण कर कवि ने अपने विचार प्रस्तुत किए हैं।

मेय्, वाय्, कण्, मूक्कु, चेवि—ये पाच इन्द्रिया हैं।[१] पचेन्द्रिय पर विजय प्राप्त करना ही व्यक्ति को संन्यासी होने के योग्य बनाता है। तिरुवल्लुवर ने संन्यासी के लिए 'तुरन्दार्' शब्द व्यवहृत किया है। 'तुरन्दार्' वह मनुष्य है जिसने ससार के एश्वर्यों का त्याग कर दिया है। वह पचेन्द्रिय रूपी हाथियो को ज्ञान के अंकुश द्वारा वशीभूत कर लेता है,[२] शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध के गुण का ज्ञाता होता है।[३] पचेन्द्रिय को नियंत्रित (ऐंदवित्तान्) कर,[४] सन्यासी समस्त जीवो के प्रति स्नेह युक्त एव दयालु होता है।[५] उसकी वाणी नियन्त्रित एव वचन तत्त्व-युक्त होते हैं।[६]

इन्द्रिय-निग्रही सन्यासी व्यक्तियों की महिमा शास्त्र-स्वीकृत है। सभी धर्म-ग्रन्थों का निश्चित मत है कि सदाचारी सन्यासी की महिमा सर्वोपरि है।[७] जिस प्रकार विश्व में जन्म लेकर मृत्यु को प्राप्त हुए व्यक्तियो की सख्या जान लेना सम्भव नही, उसी प्रकार संतों के गुणो का वर्णन भी नही किया जा सकता।[८] वस्तुत सम्पूर्ण ससार ही ऐसे व्यक्तियों के वश में है।[९] इन्द्रिय-निग्रही सत सम्पूर्ण विश्व मे यश प्राप्त करेगा,[१०] वह स्वर्ग में भी उच्च स्थान प्राप्त करेगा।[११]

कबीर-काव्य मे सन्यासी के लिए प्रयुक्त निकटतम शब्द 'सहज'[१२] तथा 'सत' है।[१३] विषय-विकार का त्याग करने पर ही सहज बना जाता है—"जिहिं सहजै बिखया तजैं, सहज कहावै सोइ"[१४] अथवा वह मनुष्य सहज कहलाने का अधिकारी है जिसे 'साहिब' प्राप्त हुए हो।[१५] परन्तु 'स्व' को त्याग, पचेन्द्रिय को वश मे करने में समर्थ अत्यल्प है, तभी तो कबीर को कहना

---

१ तमिल लेक्सिकन, पृ० २९४६।
२ कुरल २४।
३. कुरल २७।
४. कुरल २५।
५. कुरल ३०, तुलनीय अभय सर्वभूतेभ्यो सर्वेषामभय यत ।
सर्वभूतात्मभूतो यस्त देवा ब्राह्मण विदु ॥ महा०।
६. कुरल २८, तुलनीय ऋषीणा पुनराद्याना वाचमर्थोनुधावति ॥—उत्तररामचरितम्।
७. कुरल २१।
८ कुरल २२।
९. कुरल २७।
१०. कुरल २३।
११ कुरल २४।
१२. कबीर ग्रथावली (पा० ना० ति०), पृ० २४२।
१३. वही, पृ० २३९।
१४. वही, पृ० २४२।
१५. जिहिं सहजैं साहिब मिलै, सहज कहावै सोइ॥ वही, पृ० २४२।

पड़ा कि "ऐसा कोई नां मिलै अपनां घर देइ जराइ, पाचऊ लरिके पटकि कै रहै रांम लौ लाइ।"[१] ये पांच इन्द्रियां बहुत प्रबल हैं, इन पर नियन्त्रण करने पर ही व्यक्ति संत, सहृज अथवा संन्यासी होता है। इन्द्रियां मनुष्य को कुमार्ग की ओर ले जाने का सतत प्रयास करती हैं। जिसने इनको वश में कर लिया वह सुख एवं शान्ति प्राप्त करेगा। ये इन्द्रियां अत्यन्त प्रबल हैं और मानव की सुख-शान्ति में विष का कार्य करती हैं।[२] पर जो इन पांचों को नियंत्रित कर लेता है उसके जीवन की राह सवर जाती है।[३] उसे प्रभु की कृपा प्राप्त हो जाती है।[४] इसके पश्चात पाप और पुण्य का झंझट ही समाप्त हो जाता है।[५] पाचो इन्द्रियो को वश मे करने के लिए निरन्तर सघर्ष की आवश्यकता है, इनको पराजित करने के पश्चात ही व्यक्ति 'राम' में लौ लगा सकता है।[६] ये इन्द्रियां बार बार विद्रोह करती हैं, इन्हें निरन्तर वश मे रखने वाला व्यक्ति महान् है।[७] सकल जग चाहे दुःखी रहे पर सत मन को वश मे रखने के फलस्वरूप सुखी रहेगा।[८] इन्द्रिय-निग्रह के माध्यम से ही 'हरि' के दर्शन सुलभ हो जाते हैं, कबीर इस विषय मे स्पष्ट कहते हैं—'काम कोध लोभ मोह विबरजित हरि पद चीन्है सोई।'[९]

इस प्रकार इन्द्रिय-जनित काम, क्रोध, लोभ, मोह, इत्यादि पर विजय प्राप्त करने वाला सत जल में कमल के सदृश निवास करता है। ससार के समस्त कार्य करता हुआ भी वह निर्लिप्त रहता है।[१०] इस प्रकार का सत अपने स्वभाव को नही छोडता, चाहे उसे कितने ही असत क्यो न मिलें?[११] जिस दिवस सत के दर्शन हो जाए वही धन्य है, ऐसे सत के सम्पर्क से पाप का नाश होता है।[१२] सन्त को किसी के द्वेष नही रखना चाहिए, उसे निष्काम भाव से विषय वासनाओ से दूर रहकर प्रभु के साथ स्नेह रखना चाहिए।[१३]

---

१ कबीर ग्रंथावली (पा० ना० ति०), पृ० १६५।
२ पाच कुटुंबी महा हरामी अम्रित मैं बिख घोलैं ॥—वही, पृ० ५५।
३ मन पवनां पाचौ बसि कीया तिन या राह सवारी ॥—वही, पृ० १०१।
४ जब बस कियौ पाचौ थाना। तब राम भया मिहरबाना ॥—वही, पृ० ३४।
५ पांचौ इन्द्री निग्रह करई। पाप पुन्नि दोऊ निरवरई ॥—वही, पृ० १३३।
६. पाचउ लरिके पटकि कै रहै राम लौ लाइ ॥—वही, १५६।
७ पच बलधिया फिरकिडि, ऊजडि ऊजडि जाइ।
बलिहारी वा दास की पकड़ि जु राखै ठाइ ॥—वही, पृ० १५७।
८ कहै कबीर सकल जग दुखिया सन्त सुखी मन जाती हो ॥—वही, पृ० ५३।
९. वही, पृ० १९।
१०. है साधू ससार मैं कवला जल माही।
सदा सरबदा सगि रहै जल परसत नाही ॥—वही, पृ० २०।
११ संत न छाडै सतई, जौ कोटिक मिलहिं असत ॥—वही, पृ० १५३।
१२ कबीर सोई दिन भला, जा दिन सत मिलांहि।
अक भरे भरि भेटिए, पाप सरीरउ जांहि ॥—वही, पृ० १५६।
१३ निरबैरी निहकामता, साईं सेती नेह।
बिखया सौं न्यारा रहै, सतनि का अग एह ॥—वही।

इन्द्रिय-निग्रह का विधान शास्त्र में सदा मान्य रहा है। गीता में कृष्ण इन्द्रिय और विषयों के सम्बन्ध से होने वाले भोग को दुःख का कारण मानते हुए कहते हैं कि विवेकी पुरुष उनमें प्रीति नहीं करता।[1] मनुस्मृति में संन्यासी के लिए निर्देश है कि वह विषयों की ओर आकृष्ट होती हुई इन्द्रियों को अल्पभोजन और एकान्तवास द्वारा रोके।[2] इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से रोकने से, राग और द्वेष के त्याग से और प्राणियों की अहिंसा से मनुष्य मुक्ति के योग्य होता है।[3] तिरुवल्लुवर और कबीर जिस इन्द्रिय-निग्रह का विवेचन कर रहे हैं वह परम्परा से प्राप्त विचारधारा पर आधृत है। इस प्रकार से इन्द्रिय-निग्रह कर लेने वाला संत उस वस्तु का सहज ही अधिकारी बन जाता है जो देवताओं को भी दुर्लभ है।[4] ऐसे साधु-सन्त तो ईश्वर रूप हो जाते हैं[5] और 'हरि' स्वमुख से उनकी महिमा का वर्णन करते हैं।[6] जिसका मन निर्मल हो गया है, ऐसे सन्त के पीछे तो हरि स्वयं चलते हैं।[7] जब मनुष्य कामनाओं का त्याग कर 'जीवनमुक्त' हो जाता है तब प्रभु स्वयं उसकी सेवा करते हैं, वह दुःख प्राप्त नहीं करता।[8]

उपर्युक्त मत का विवेचन करने पर स्पष्ट है कि वल्लुवर और कबीर दोनो इन्द्रिय-निग्रह के महत्त्व पर पूर्णरूपेण एकमत हैं। इन्द्रिय-निग्रह का विषय लौकिक सुख और पारलौकिक आनन्द दोनो के लिए महत्त्वपूर्ण है। 'धर्म' के अन्तर्गत काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विषयों से निर्लिप्त रहने का सदेश दोनो कवि देते हैं। दोनो ने मुक्त-कंठ से इन्द्रिय-निग्रही सत की प्रशसा की है। वास्तव मे इस विषय पर दो भारतीय विचारको के मत-वैभिन्य का कोई कारण ही नहीं।

तृष्णा का त्याग—परम सत्य की प्राप्ति के पश्चात कामनाए समाप्त हो जाती हैं, 'अवाअरुत्तल' की स्थिति कामनाओ, इच्छाओ की समाप्ति की स्थिति है। कुरल के 'अरत्तुपल' के द्वितीय भाग 'तुरवरवियल्' के अन्तर्गत सन्यासी, गृहत्यागी, तपस्वियो के कर्म-अकर्म का

---

१ ये हि सस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्त कौन्तेय न तेषु रमते बुध ॥—गीता, ५।२२।

२. अल्पान्नाभ्यवहारेण रहःस्थानासनेन च।
ह्रियमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्तयेत् ॥—मनु० ६।५९।

३ इन्द्रियाणा निरोधेनरागद्वेष क्षयेण च।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥—मनु०, ६।६०।

४ जा प्रसाद देवन कौ दुरलभ सन्त सदा ही पाही ॥—कबीर ग्रथावली (पा० ना० ति०), पृ० २०।

५. नारद साध सौं अतर नांही।—वही, पृ० २१।

६. कहै कबीर साध की महिमा हरि अपनै मुखि गावै ॥
—वही, पृ० २२।

७. कबीर मन निरमल भया, जैसा गगा नीर।
तब पाछै लागा हरि फिरै, कहत कबीर कबीर ॥—वही, पृ० २०७।

८. जीवत मिरतक होइ रहै, तजै जगत की आस।
तब हरि सेवा आपै करै, मति दुख पावै दास ॥—वही।

व्याख्यान करते हुए, उनके धर्म का निर्धारण करते हुए, अन्त में 'अवाअरुत्तल' का उल्लेख हुआ है। कवि का कथन है कि यदि कामना ही करनी है तो निष्काम होने की कामना करो। इससे मनुष्य आवागमन के चक्र से मुक्ति प्राप्त कर लेता है।[१] इस लोक में अथवा परलोक में निष्काम होने से श्रेष्ठ उपलब्धि कोई नही।[२] निष्काम होना ही मुक्ति है, सत्य-कामना से वह स्वतः ही प्राप्त हो जाएगी।[३] कामना से मुक्ति ही वास्तविक मुक्ति है।[४] तृष्णा से डरना चाहिए क्योकि असावधान पाकर यह मनुष्य को अपने जाल मे फसा लेती है।[५] कामना का दमन करने में समर्थ स्वत ही मुक्ति पा लेगा।[६] ऐसे मनुष्य को कभी दु ख नही होगा, पर तृष्णा के वशीभूत मनुष्य निरन्तर क्लेश प्राप्त करते रहेगे।[७] दु खो मे महादु ख तृष्णा है, इसके समाप्त हो जाने पर स्थायी सुख की उपलब्धि होती है।[८] वल्लुवर का मत है कि कामना का स्वभाव तृप्त होने का नही है। अत इसकी तृप्ति का प्रयास न कर इसके दमन से ही स्थायी आनन्द प्राप्त होगा।[९]

तृष्णा एव कामना का उल्लेख करते हुए कबीर-काव्य मे उसे क्रोध, लोभ, अहकार आदि की श्रेणी में ही रखा गया है। उनका मत है कि आशा और तृष्णा सबको प्रभावित करते हैं।[१०] इनके फलस्वरूप मनुष्य नाश को प्राप्त होता है।[११] मनुष्य को चाहिए कि वह अपने मन में कामना या आशा को स्थान न दे। कर्म पर ध्यान रखो एव आशा या कामना से मुक्त रहो। गुरु के प्रताप से इसका नाश सम्भव है,[१२] तृष्णा-पूर्ति सम्भव नही, वह तो दिन प्रतिदिन बढ़ती ही जाती है।[१३] यह नष्ट नही होती [१४] पर मनुष्य को चाहिए कि वह चिन्ता छोडकर सर्वस्व

---

१ कुरल ३६१।
२ कुरल ३६२।
३ कुरल ३६३।
४ कुरल ३६५।
५. कुरल ३६६, तुलनीय—रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥—गीता, २।६४।
६ कुरल ३६७।
७ कुरल ३६८, तुलनीय—प्रसादे सर्वदु खाना हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धि पर्यवतिष्ठते॥—गीता, २।६५।
८ कुरल ३६९।
९ कुरल ३७०।
और देखें—गीता, २।६६, ३।३७, ३।३८।
१० आसा त्रिसना सब कौं व्यापै कोई महल न सूना हो।
—कबीर ग्रन्थावली (पा० ना० ति०), पृ० ५३।
११ काम क्रोध तिसना के मारे, बूडि मुएहु बिनु पानी॥—वही, पृ० ४१
१२ त्रिसनां कांम क्रोध मदमतसर काटि-काटि कसि दीन्हा।—वही, पृ० ३०।
एवं होनां है सो होइहै मनहिं न कीजै आसु।—वही, पृ० ४८।
१३ त्रिस्नां सींची ना बुझै, दिन-दिन बढ़ती जाइ।—वही, पृ० २३६।
१४. आसा तृस्ना ना मुई, यौं कहै दास कबीर॥—वही, पृ० २३८।

समर्थ प्रभु के हाथों में दे दे।[1] निष्काम हो जाने ,पर, एव प्रभु से सम्बन्ध जोड लेने पर मनुष्य सफलता प्राप्त कर लेगा।[2]

धर्म का व्यक्तिपरक रूप—वचन

सत्यभाषण—सत्य-वचन के स्वरूप के विषय में विद्वानों मे तनिक मतभेद रहा है पर सत्य की आवश्यकता और उसके महत्त्व पर प्राय· सभी धर्मों के अन्तर्गत प्रकाश डाला गया है। संस्कृत साहित्य एवं उससे पूर्व वैदिक-साहित्य के अन्तर्गत सत्य-भाषण करने का महत्त्व स्पष्ट करने वाले असख्य कथन हैं। वाल्मीकि रामायण में सत्य को धर्म की पराकाष्ठा और सबका मूल कहा गया है।[3] सत्य ही जगत् मे ईश्वर है, सदा सत्य के ही आधार पर धर्म की स्थिति रहती है, सत्य ही सबका मूल है, सत्य से बढकर दूसरा कोई परम-पद नहीं।[4] वाल्मीकि के अनुसार सत्य ही प्रणव रूप शब्द-ब्रह्म है, सत्य में ही धर्म है, सत्य ही अविनाशी वेद है और सत्य से ही परब्रह्म की प्राप्त होती है।[5] मनु सत्य तथा प्रिय-भाषण का मार्ग स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि सत्य बोले, प्रिय बोले, सत्य भी अप्रिय न बोले, और प्रिय भी असत्य न बोले, यही सनातन धर्म है।[6] अथर्ववेद में असत्य भाषण को रोग का कारण माना गया है।[7] सन्यासी के कर्त्तव्यों का निर्धारण करते समय मनु ने कहा है कि "सत्यपूतां वदेद्वाच मन· पूत समाचरेत्।"[8] सत्य-भाषण का सदेश देने वाले कथन वैदिक एवं सस्कृत साहित्य मे अनेक स्थलो पर उपलब्ध हैं।[9]

---

१ चिंता छाडि अचिंत रहु, साईं है समरत्थ।—कबीर ग्रंथावली, (पा०ना० ति०) पृ० २३६।

२ निरबैरी निहकामता, साईं सेती नेह।
बिखया सौं न्यारा रहै, सतनि का अग एह॥—वही, पृ० १५६।

३ धर्म सत्यपरो लोके मूल सर्वस्य चोच्यते।—वा० रा० अयो०, १०६।१२।

४ सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्म सदाश्रित।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति पर पदम्॥—वही, १०६।१३।

५ सत्यमेकं पद ब्रह्म सत्ये धर्म प्रतिष्ठित।
सत्यमेवाक्षया वेदा सत्येनावाप्यते परम्॥—वही, १४।७।

६ सत्य ब्रूयात्प्रिय ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रिय च नानृत ब्रूयादेष धर्म सनातन॥—मनु० ४।१३८।

७ यदुक्थाऽनृत जिह्वया वृजिन बहु।
राज्ञस्त्वाऽसत्यधर्मणो मुचाणि वरुणहम्॥—अथर्ववेद।

८ मनु० ६।४६।

९ (क) ऋग्वेद, १।११३।४।
(ख) अथर्ववेद, १।२४।१।
(ग) म० पुराण, २६।४२।
(घ) शतपथ ब्रा० १।१।१।४-५, १।३।४।२७ एव १४।४।२।२६।
(ङ) तै० स० ६।३।६, २।१।१।१।
(च) वा० रा०, अयो० १४।८।
(छ) सं० महा० १३।२।४०-४१, १२।१०।५६८।
(ज) चाणक्य, विदुर, भर्तृहरि इत्यादि नीति-ग्रन्थ।

तिरुवल्लुवर का सत्य से अभिप्राय उस वचन से है जो किसी को कष्ट अथवा हानि न पहुँचाए।[1] वह तो किसी अन्य के लिए लाभप्रद असत्य को भी सत्य के अन्तर्गत मानते हैं।[2] असत्य-भाषण से मनुष्य की अतरात्मा को सताप होता है।[3] हृदय में भी असत्य विचार न करने वाले मनुष्य सब के हृदय मे निवास करते हैं।[4] मन और वचन से सत्य पर स्थिर व्यक्ति तपस्वी और दानी से भी महान् है।[5] असत्य-त्याग से मनुष्य को यश प्राप्त होता है, ऐसा मनुष्य तपस्या बिना ही स्वत 'धर्म' प्राप्त कर लेता है।[6] सत्य-भाव से सदाचरण करने वाले मनुष्य के लिए अन्य सब धर्म व्यर्थ है।[7] शरीर की बाह्य स्वच्छता जल से और आन्तरिक पवित्रता सत्य द्वारा होती है।[8] सत्य ही वास्तविक प्रकाश देने वाली ज्योति है।[9] विभिन्न धर्मशास्त्रो के चिन्तन और मनन के पश्चात वल्लुवर का निष्कर्ष है कि सत्य-भाषण के समान कोई अन्य श्रेष्ठ विषय नहीं।[10]

कबीर अपने युग की विषमता का सकेत करते हुए कहते हैं कि सत्य का कही सम्मान नही पर झूठ का सर्वत्र आदर है।[11] इस स्थिति मे भी कबीर ने कहा कि सत्य के समान कोई तप नहीं है, झूठ के बराबर कोई पाप नही, जिसके हृदय मे सत्य है वहा प्रभु स्वय निवास करते हैं।[12] कबीर-काव्य मे सत्य-भाषण पर कथन अपेक्षाकृत कम है क्योकि कबीर का 'सत्य' प्रभु स्वय है, अत इसका सम्बन्ध 'परम-सत्य' से हो गया। इस विषय मे विस्तृत अध्ययन 'परम-सत्य' शीर्षक के अन्तर्गत हुआ है। कबीर के अतिरिक्त अन्य सत कवियो ने भी सत्यभाषण

---

१. कुरल २६१, तुलनीय—मनु० ४।१३८।
एव—सत्यस्य वचन श्रेय सत्यादपि हित भवेत्।
यद्भूतहितमत्यन्तमेतत्सत्य मत मम ॥—महा०, शान्ति०।

२ कुरल २६२।

३. कुरल २६३, तुलनीय—नाय लोकोऽस्ति न परो न च पूर्वान् स तारयेत्।
कुत एव जनिष्यास्तु मृषावादपरायण ॥
—महा०, शाति०, १६६।६१।

४ कुरल २६४।

५ कुरल २६५।

६. कुरल २६६।

७ कुरल २६७, तुलनीय—धर्म सत्यपरोलोके मूल सर्वस्य चोच्यते।
वा० रा० अयो०, १०६।१२।
एव सत्य वदत मासत्य सत्य धर्म सनातन ॥—महा०, अनु०, ११५। ६२।

८ कुरल २६८।

६ कुरल २६६, तुलनीय—नास्ति सत्यसमो धर्म न सत्याद् विद्यते परम् ॥—महा०।

१०. कुरल ३००, तुलनीय—सत्यमेवश्वरो लोके सत्ये धर्म सदाश्रित।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति पर पदम् ॥
—वा० रा०, अयो० १०६।१३।

११ सांचे कोई न पतीजइ झूठे जग पतियाय।
गली गली गोरस फिरै, मदिरा बैठि बिकाय ॥—स० बा० सं०, भा० १, पृ० ४६।

१२ साच बरोबरि तप नही, झूठ बरोबरि पाप।
जाकै हिरदै साच है, ताकै हिरदै आप ॥—कबीर ग्रंथावली (पा० ना० ति०), पृ० १८७।

पर बहुत बल दिया है।[१] गीता में तीन प्रकार के तप का उल्लेख हुआ है—शारीरिक, वाचिक और मानसिक। तिरुवल्लुवर एवं कबीर दोनों कवि इस तप की स्पष्ट स्वीकृति देते हैं। सत्य-भाषण, मधुर-भाषण और मित-भाषण वाचिक तप के अन्तर्गत आते हैं। सात्विक कर्म के लक्षणों में फलासक्ति का न होना प्रमुख है। हमारे दोनो कवि इसी सात्विक कर्म के रूप मे लोक-सग्रह की भावना से इस 'तप' के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। तिरुवल्लुवर के सत्य-भाषण के मूल मे 'सत्य ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्' का भाव है।

मधुर भाषण—तिरुवल्लुवर ने मधुर वचनो के प्रयोग का उपदेश दिया है। मधुर वाणी धर्म के लक्षणो मे से एक है, उसके महत्त्व का प्रतिपादन कर वे उससे सम्बद्ध लाभों को प्रस्तुत करते हैं। उनका मत है कि धर्म के मर्मज्ञो के स्नेह-युक्त, प्रवचना से रहित, वचन ही मधुर वचन होते हैं।[२] विभिन्न प्रकार के दानकर्म से अधिक महत्त्वपूर्ण मधुर मुस्कुराहट से युक्त मीठे शब्द हैं।[३] हृदय के प्रेम को प्रदर्शित करती हुई मधुर वाणी और महत्त्वपूर्ण दृष्टि मे ही धर्म का निवास है।[४] दूसरे मनुष्यो के हृदयो को आह्लादित करनेवाली मधुर-वाणी बोलने वाले व्यक्ति के पास दारिद्रय-दुःख नही फटकता।[५] नम्रता और स्नेहपूर्ण वचन ही मनुष्य के वास्तविक अलकार हैं।[६] विचारो मे पावित्र्य, वाणी मे कोमलत्व से मनुष्य के पाप नष्ट होकर धर्म की अभिवृद्धि होती है।[७] अन्य की सहायता करते हुए मनुष्योचित मधुर-वाणी से इस जन्म मे तथा इसके उपरान्त भी धर्म की रक्षा होती है।[८] सहृदयतापूर्ण, क्षुद्रतारहित शब्दावली इहलोक एव पर-लोक मे भी लाभ प्रदान करती है।[९] मधुर-वचनो के प्रयोग से होने वाले लाभो को जानते हुए भी मनुष्य के कटु-वचनो के व्यवहार पर आश्चर्य होता है।[१०] मीठे शब्दो के होते हुए कटु-वचनो का प्रयोग पके फल छोडकर कच्चे फल तोडकर खाने के सदृश है।[११]

---

१ (क) साचा नाव अलाह का, सोई सति करि जाणि।
निहचल करि ले बनूगी, दादू सो पखाणि॥
—स० वा० स०, भाग १, पृ० ६४।

(ख) जो तेरे घर साच है तो कहि काठि जनाब।
अन्तरजामी जानि है अतरतम का भाव॥
—(कबीर), वही, पृ० ४६।

(ग) झूठा साचा करि लिया विष अमृत करि जाना।
दुख कौं सुख सब कोई कहै, ऐसा जगत दीवाना॥—(दादू) वही, पृ० ६४।

२ कुरल ९१, तुलनीय—ऋग्वेद ३।५।५७।६—'या ते जिव्हा मधुमती सुमेधा' इत्यादि।

३ कुरल ९२।

४ कुरल ९३।

५. कुरल ९४।

६ कुरल ९५।

७. कुरल ९६।

८. कुरल ९७।

९. कुरल ९८।

१० कुरल ९९।

११. कुरल १००।

संत कबीर कोमल एव मधुर-वाणी को तो धर्म का अग मानते हैं। कटु-वचनों का आघात अत्यन्त तीव्र होता है, अत मधुर, कोमल शब्दावली का प्रयोग ही श्रेष्ठ-मार्ग है। उनका मत है—

ऐसी बांनी बोलिए, मन का आपा खोइ।
अपनां तन सीतल करै, औरा कौं सुख होइ॥[१]

मधुर-वाणी का प्रयोग न केवल बोलने वाले को शीतलता प्रदान करता है अपितु सुनने वाले को भी सुख देने में समर्थ होता है। साधु के लक्षणो मे एक प्रमुख लक्षण मधुर वचनो का प्रयोग है। उस साधु का क्या लाभ जो जिह्वा पर नियन्त्रण नही कर पाता और कटु-वचनो का प्रयोग कर दूसरे को कष्ट देता है—

'साधु भया तौ क्या भया, बोलै नांहि बिचारि।
हतै पराई आतमा, जीभ बांधि तरवारि॥'[२]

कटु-वचन तलवार के समान घाव करते हैं। व्यक्ति के चरित्र की पहचान उसके द्वारा प्रयुक्त वचनो से सम्भव है, जैसे भाव हृदय मे होगे वैसी वाणी मनुष्य बोलेगा, अत शब्द-प्रयोग के आधार पर साधु और असाधु का अन्तर ज्ञात हो जाएगा।[३] ईश्वर के नाम से प्रेम रखनेवाले व्यक्ति की वाणी स्वयमेव मधुर हो जाएगी, उसकी वाणी से मानो मोती और हीरे झरेंगे।[४] समाज मे कुटिल वचनो का प्रयोग तो किया ही जाता रहेगा अत उनको सहन करने की क्षमता भी व्यक्ति मे होनी चाहिए। सभी व्यक्ति तो इसमे समर्थ हो नहीं सकते, अत कटु-वचन सहन करने मे जो सफल हो जाए वही साधु है। खोदने को धरती सहन करती है, वन काट-छाट सहन करता है, इसी प्रकार कटु-वचनो को सहन करता है साधु।[५] कबीर का मत है कि प्रत्येक स्थान मे वह सर्वनियामक स्वय निवास करता है अत कटु वचनो का प्रयोग नही करना चाहिए।[६]

मित भाषण—तिरुवल्लुवर ने वाणी-नियत्रण पर विशेष बल दिया है। 'इनियवै कूरल्'[७] अर्थात् 'मधुर-वचन' अध्याय के अन्तर्गत कटु-वचनो के त्याग का सदेश देते हुए मधुर-भाषण का

---

१. कबीर ग्रन्थावली (पा० ना० ति०), पृ० १६५।
२. वही, पृ० १८७।
३. बोलत ही पहिचानिए साहू चोर का घाट।
   अतर घट की करनी निकसै मुख की बाट॥
   —वही, पृ० १८७।
४. कबीर हरि के नाव सौं, प्रीति रहै इकतार।
   तौ मुख तै मोती झरै, हीरा अनत अपार॥
   —वही, पृ० १६५।
५. खोद खाद धरती सहै काट कूट बनराइ।
   कुटिल बचन साधू सहै दूजै सहा न जाइ॥
   —वही, पृ० १५६।
६. घट घट मे वह साई रमता।
   कटुक वचन मत बोल रे।
७. अध्याय, १०।

उपदेश दिया है। 'पयनिल चोल्लामै' अर्थात् 'व्यर्थ-भाषण' में वे व्यर्थ-भाषण के सम्भव दुष्परिणामों को स्पष्ट करते हुए इसके त्याग का संदेश देते हैं। उनका मत है कि व्यर्थ प्रलाप से अन्य व्यक्तियों को अप्रसन्न करने वाला सब की दृष्टि में हेय बन जाएगा।[1] वृथा प्रलाप करना मित्रों के प्रति अनुचित कर्म करने से भी हीन है।[2] निष्प्रयोजन प्रलाप करने वाला स्वय को नीतिविहीन सिद्ध करता है।[3] असंस्कृत, निरर्थक वचन व्यक्ति को धर्म-विमुख कर निरादर देते हैं।[4] श्रेष्ठ व्यक्ति भी यदि व्यर्थ प्रलाप करे तो कीर्ति और सम्मान खो देगा।[5] वृथा भाषण करने वाला मनुष्य तो भूसे के समान थोथा है।[6] विद्वान् के द्वारा कठोर शब्दो का प्रयोग उसके द्वारा किए गए व्यर्थ प्रलाप से कही श्रेयस्कर है।[7] उच्चतर मूल्यो के ज्ञाता विद्वान् कभी भी निरर्थक शब्दो का प्रयोग नही करते।[8] यदि मनुष्य को बोलना ही है तो तत्त्वयुक्त शब्दो को व्यवहृत करे।[9] यही कारण है कि माया के भ्रम से मुक्त, तत्त्वज्ञानी अनजाने मे भी व्यर्थ शब्दो का प्रयोग नहीं करता।[10]

कवि ने व्यर्थ-भाषण से बचने को उच्चतर मूल्यो के अन्तर्गत माना है। विद्वान् व्यक्ति का व्यर्थ-भाषण मे लिप्त न होने का उदाहरण जन-साधारण के लिए इस अवगुण से परे रहने का सदेश है। कबीर जानते हैं कि 'बोलत बोलत तत नसाई', अत वे कहते हैं 'बोलना का कहिये रे भाई'। अधिक बोलने से विकार बढ़ते हैं, 'आधा घट' अधिक बोलता है।।मनभाषण का एक अन्य कारण यह भी है कि सत कम हैं, और 'सत मिलै, कछु कहिये कहिये' तथा 'मिलै असत मुष्टि करि रहिये।' उनके अनुसार ज्ञानी व्यक्ति से वार्त्तालाप हितप्रद एव आनन्ददायक है, पर 'मूरिख सू बोल्या झख मारी'।[11] लोक प्रसिद्ध उक्ति 'अधजल गगरी छलकत जाए' को आधार बनाकर कबीर कहते हैं—कहै कबीर आधा घट डोलै, भरया होइ तौ मुषां न बोलै।[12] कायर व्यक्ति ही बहुत अधिक बोलता है, शूरवीर कभी बहकता नही, वास्तविकता का ज्ञान तो अवसर आने पर होता है।[13] व्यक्ति का मूल्याकन तो उसके कर्मों से होता है, उसके कथनो से नही।[14]

---

१. कुरल, १६१।
२ कुरल १६२।
३ कुरल १६३।
४ कुरल १६४।
५ कुरल १६५।
६ कुरल १६६।
७ कुरल १६७।
८. कुरल १६८।
९ कुरल २००।
१० कुरल १९९।
११. कबीर ग्रंथावली, पृ० ८५।
१२. वही।
१३. कायर बहुत पमावहीं, बहकि न बोलै सूर।
काम परे ही जांनिए, किसके मुख परि नूर ॥—वही, पृ० १८१।
१४. कथनीं कथी तौ क्या भया जो करनी ना ठहराइ ॥—वही, पृ० २४१।

तिरुवल्लुवर और कबीर के व्यर्थ-भाषण विषयक विचारों की तुलना से स्पष्ट है कि दोनों कवि सारहीन कथनों को अनुचित मानते हैं। सारहीन व्यर्थ-प्रलाप से मनुष्य जीवन के मूल-लक्ष्य से हटकर अनावश्यक कार्यों की ओर अग्रसर हो जाता है। ज्ञानी व्यक्ति व्यर्थ के प्रलाप से लिप्त नहीं होते क्योंकि इससे मनुष्य तत्त्व से वंचित हो जाता है।

धर्म का व्यक्तिपरक रूप—कर्म

अहिंसा एव मांसाहार निषेध—'कोल्लामै' के अन्तर्गत तिरुवल्लुवर अहिंसा को मूल धर्म मान मानव-मात्र को प्राणियो के प्रति दया भाव का सदेश देते हैं। हिंसा से सभी पाप स्वत आकृष्ट होते हैं। अत मनुष्य को अहिंसा धर्म का निर्वाह करना चाहिए।[1] अन्य मनुष्यो के साथ बांट कर भोजन करना और दूसरे जीवो की रक्षा करना सभी धर्म-ग्रन्थों का सार है।[2] महत्त्व की दृष्टि से सत्य-भाषण का स्थान भी अहिंसा के पश्चात है।[3] मुक्ति भी जीव-हत्या से विमुख रहने पर ही प्राप्त होगी।[4] जीव-रक्षा मे प्रवृत्त गृहस्थ का महत्त्व ससार-त्यागी से अधिक है।[5] अहिंसा के मार्ग का अनुसरण करने वाले मनुष्य के आनन्दमय जीवन को जीवन-भक्षी मृत्यु भी नहीं ग्रसती।[6] वल्लुवर का मत है कि अन्य के प्राणो की रक्षा मे स्वप्राणो की आहुति दे देना भी उचित है।[7] हिंसा से प्राप्त धन से कितनी ही उन्नति प्राप्त हो, तत्त्वज्ञाता इसे निकृष्ट मानते हैं।[8] हत्याकर्म से प्राप्त साधनो से जीवन व्यतीत करने वालो का चाण्डाल-कर्म विद्वानो की दृष्टि मे हेय है।[9] हिंसा-कर्म से मनुष्य को रोग एव दारिद्रय की प्राप्ति होती है।[10]

मांसाहार-निषेध का समावेश अहिंसा के ही अन्तर्गत हो जाता है पर विशेष बल देने की दृष्टि से वल्लुवर ने इन पर दो अलग अध्यायो मे विचार किया है। मनु इत्यादि स्मृति-कारो ने अहिंसा और मांसाहार-निषेध को धर्म के अन्तर्गत मानते हुए इन पर विचार किया है। मनु अहिंसा से मनुष्य को मुक्ति मिलने की स्वीकृति देते हैं।[1] बृहस्पति स्मृति मे कहा गया है कि दूसरे के जीवन की रक्षा करने से जीवन सफल होता है, अहिंसा से रूप, ऐश्वर्य, आरोग्य प्राप्त होते हैं।[2] महाभारत के अनुशासन-पर्व मे अहिंसा को परम-धर्म मानते हुए दान, दम,

---

१ कुरल ३२०।

२ कुरल ३२१, तुलनीय सत्य धर्म इति ह्येके वदन्ति बहवो जन ।
यत् स्यादहिंसासयुक्त स धर्म इति निश्चय ॥—महा०।

३ कुरल ३२३, तुलनीय अनृत तु भवेद्वाच्य न तु हिंसा कदाचन ॥—महा०।

४ कुरल ३२४।

५ कुरल ३२५।

६ कुरल ३२६।

७ कुरल ३२७।

८ कुरल ३२८, तुलनीय अहिंसापाश्रय धर्म दान्तो विद्वान् समाचरेत्।—महा०।

९ कुरल ३२९।

१०. कुरल ३३०।

११. अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥—मनु० ६।६०।

१२ धन फलति दानेन जीवित जीवरक्षणात्।
रूपमैश्वर्यमारोग्यमहिंसा फलमश्नुते ॥—बृ० स्मृति, ७१।

यज्ञ, सुख, तीर्थ इत्यादि से अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है।[१] महाभारतकार का मत है कि जो व्यक्ति प्राणीमात्र पर दया करता है, मांसभक्षण नहीं करता, किसी से नहीं डरता, वह दीर्घायु, आरोग्य तथा सुखी होता है।[२] मनु का मत है कि जो जीवों का वध नहीं करता, वह सबका हिताभिलाषी अत्यन्त सुख प्राप्त करता है।[३] जीवों की हिंसा किए बिना मांस उपलब्ध नहीं हो सकता और जीवो की हिंसा स्वर्ग-साधन नहीं है, अतः मांस-भक्षण छोड़ देना चाहिए।[४] सौ वर्ष तक प्रतिवर्ष अश्वमेध यज्ञ करने एवं मांस न खाने का पुण्यफल बराबर है।[५] इस प्रकार अहिंसा एवं मांसाहार-निषेध को परम्परा का विश्वास और शास्त्र की स्वीकृति, दोनो ही प्राप्त हैं।

दया-भाव को धर्म का विशिष्ट अंग मानने वाला कवि 'पुलाल्मरुत्तल्' के अन्तर्गत मांसाहार का विरोध करता है। किसी जीव के प्राणों का नाश कर उसके मांस का भोजन करने वाला मनुष्य दयारहित हो जाता है।[६] अपव्ययी के पास धन और मांसाहारी के पास दयाभाव शेष नहीं रहता,[७] इसी प्रकार संहारक-अस्त्र के धारण करने वाले के सदृश मांसाहारी दयारहित होता है।[८] मांसाहार अधर्म है, हिंसा क्रूरता है।[९] मांसभक्षण न करने से जीव-रक्षा होती है, मांसाहारी को नरक प्राप्त होगा और उस नरक से बाहर निकलने के मार्ग अवरुद्ध हो

---

१ अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परं तपः ।
अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते ॥—महा० अनु० ११५।२३।
अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परो दमः ।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः ॥
अहिंसा परमो यज्ञस्तथाहिंसा परं फलम् ।
अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम् ॥
सर्वयज्ञेषु वा दानं सर्वं तीर्थेषु वाऽऽप्लुतम् ।
सर्वदानफलं वापि नैतत्तुल्यमहिंसया ॥—वही, ११६।२८-३०।

२ अधृष्यः सर्वभूतानामायुष्मान्नीरुजः सुखी ॥
भवत्यभक्षयन्मांसं दयावान् प्राणिनामिह ॥—महा० अनु० ११५।४०।
और देखें अनुशासन पर्व, अध्याय ११४, ११५।

३ यो बन्धनवधक्लेशान्प्राणिनां न चिकीर्षति ।
स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते ॥—मनु० ५।४६।

४ नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् ।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥—मनु० ५।४८।

५ वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः ।
मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम् ॥—मनु० ५।५३।

६ कुरल २५१।

७ कुरल २५२, तुलनीय य इच्छेत्पुरुषोऽत्यन्तमात्मानं निरुपद्रवम् ।
स वर्जयेत मांसानि प्राणिनामिह सर्वशः ॥
महा० अनु० ११५।४८।

८ कुरल २५३।

९ कुरल २५४।

जाएंगे।[१] कुछ मनुष्य यह तर्क देते हैं कि वे तो हत्या नहीं करते, केवल विक्रय के लिए प्रस्तुत मांस का ही क्रय करते हैं, उनकी ओर संकेत करते हुए कवि का कथन है कि यदि लोग खाने के लिए मांस क्रय न करें तो कोई उसे विक्रय के लिए प्रस्तुत ही क्यों करे?[२] मनुष्य यदि एक बार भी अन्य जीव को प्राप्त घाव और यन्त्रणा का ज्ञान प्राप्त कर ले तो कभी भी मांस खाने की कामना न करे।[३] अतः विशुद्ध-बुद्धि मनुष्य जीव-हत्या से प्राप्त मांस कभी ग्रहण नहीं करते।[४] आहुतियां दे कर यज्ञ-कर्म से भी श्रेष्ठ है जीव-हत्या एवं मांसाहार में प्रवृत्त न होना।[५] अहिंसक मांसभक्षण न करने वाले व्यक्ति का सम्पूर्ण विश्व में आदर होता है।[६]

अहिंसा-धर्म से प्रभावित दृष्टि के कारण वल्लुवर मांसाहार एवं जीवहत्या का तीव्र विरोध करते हैं। दया-भाव को महत्त्व देने के फलस्वरूप हिंसा एवं मांसाहार का निषेध अनिवार्य रूप से धर्म के अंगों में समाविष्ट हो गया है। यही कारण है कि यज्ञादि कर्म करने से भी श्रेष्ठ कर्म मांस-भक्षण न करना स्वीकार किया गया है।

कबीर के मत में दूसरे जीवों को नष्ट कर अपने शरीर को वृद्धि देना अपने जन्म को व्यर्थ करना है।[७] हत्या चाहे 'जिबह' कही जाए या 'हलाल' हत्या ही है। इस प्रकार जीव की हत्या करने वाले से जब मुख्य-कार्यालय (दफ्तरि) में जीवन के कार्यों का लेखा मांगा जाएगा तब कोई भी रक्षा नहीं कर पाएगा।[८] जीव हत्या का उत्तर तो ईश्वर के सम्मुख देना पड़ेगा। जो इस कार्य में लिप्त हैं, उन्हें दण्ड का भी भागी बनना होगा।[९] कबीर 'हलाल' और 'हक्क' इत्यादि को घोर पाप मानते हैं क्योंकि यह जीवहत्या है, हिंसा है। चाहे बकरा हो, चाहे मुर्गा या अन्य कोई भी जीव, हत्या कर उसका मांस-भक्षण अधर्म है। यह पीड़ा देने वाला नृशंस

---

१ कुरल २५५।

२. कुरल—२५६, तुलनीय यदि चेत् खादको न स्यान्न तदा घातको भवेत्।
घातक खादकार्थाय तद् घातयति वै नर.॥
—महा० अनु० ११५।२९।

३ कुरल २५७।

४ कुरल २५८।

५. कुरल २५९, तुलनीय मनु० ५।५३।

६. कुरल २६०, तुलनीय न भक्षयति यो मांस न च हन्यान्न घातयेत्।
तन्मित्र सर्वभूताना मनु स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥
—महा० अनु० ११५।१०।

७ जीवहिं मारि जीव प्रतिपारै देखत जनम आपनौं हारै॥
—कबीर ग्रन्थावली (पा० ना० ति०), पृ० १२१।

८ जीअ जु मारहिं जोर करि कहते हैं जु हलाल।
जब दफतरि लेखा मागिहै तब होइगा कौन हवाल॥
—वही, पृ० २११।

९. जोर किया सो जुलुम है लेइ जवाब खुदाइ।
दफतरि लेखा नीकसै मारि मुहैंमुहि खाई॥—वही।

कार्य है, साईं को सभी जीव प्यारे हैं, उन्हें कष्ट देने वाला कभी भी मुक्त नहीं होता।[१] मांस क्रय करने वालों को इंगित करते हुए कबीर मांस के घर लाने, जीवित को मारने, दोनों कार्यों से दूर रहने का उपदेश देते हैं।[२] कबीर-काव्य में मांसाहार-निषेध विषयक कथन पर्याप्त मात्रा में आए हैं। निष्कर्ष यह है कि वल्लुवर और कबीर दोनो कवि अहिंसा मार्ग को अपनाने का आदेश देते हुए मांस-भक्षण का विरोध करते हैं।

सदाचार—धर्म के व्यापक रूप को निश्चित शीर्षकों में समाहित कर पाना अत्यन्त दुष्कर है। तिरुवल्लुवर और कबीर द्वारा निर्दिष्ट धर्म का आधार समाज है। व्यक्ति की कर्म-शृङ्खला समाज को प्रभावित करती है। अत. 'धर्म' के विश्लेषण में अनेक ऐसे विषय समाहित हो जाते हैं जो समाज के सदर्भ मे नवीन अर्थवत्ता ग्रहण करते हैं। यह उल्लेखनीय है कि दोनो कवियों द्वारा निर्दिष्ट 'धर्म' का मार्ग आज भी स्वीकार्य है क्योकि युग-परिवर्तन मूल मानवीय सिद्धान्तों में परिवर्तन नही करता।

'ओऴुक्कुमुटैमै' शीर्षक के अन्तर्गत चरित्र-रक्षा पर बल देते हुए, वल्लुवर ने, सदाचार के महत्त्व और दुराचरण के कुप्रभावो पर विचार किया है। आचरण की पवित्रता से यश प्राप्त होता है अत सदाचरण प्राणो से भी बढ़कर है।[३] सदाचरण के विकास एव उसकी रक्षा का जागरूक प्रयास आवश्यक है क्योकि इससे बढ़कर साथी कोई नही।[४] सदाचार से मनुष्य के परिवार को यश प्राप्त होता है, दुराचरण उसे निम्न वर्ग मे ले आता है।[५] ब्राह्मण को यदि ज्ञान विस्मृत हो जाए तो उसका पुन अध्ययन सम्भव है, पर एक बार चरित्र नाश होने पर उसकी प्रतिष्ठा सदा के लिए नष्ट हो जाती है।[६] ईर्ष्यालु मनुष्य सुख-समृद्धि प्राप्त नहीं करता, इसी प्रकार चरित्रहीन व्यक्ति को यश की प्राप्ति नही होती।[७] दृढ मस्तिष्क व्यक्ति सदाचार का त्याग नही करते क्योकि वे इससे होने वाले कष्टो से परिचित हैं।[८] समाज मे सदाचारी व्यक्ति सम्मानित होता है, दुराचारी अपयश और निन्दा का पात्र बनता है।[९] आचरण की पवित्रता धर्म का मूल है, इसके विपरीत दुराचरण कष्टो को जन्म देता है। सदाचारी व्यक्ति अनजाने मे भी अनुचित शब्दो का प्रयोग नही करता।[१०] जो व्यक्ति अनेक विद्याओ का अध्ययन

---

१ (क) सरजीव आनै देह बिनासै माटी बिसमिल कीआ।
जोति सरूपी हाथि न आया कहौ हलाल क्यू कीआ॥
(ख) कुकडी मारै बकरी मारै हक्क हक्क करि बोलै।
सबै जीव साईं के प्यारे उबरहुगे किस बोलै। —कबीर ग्रथावली (पा० ना० ति०), पृ० १०७।

२. जिअत न मारि मुवा मति लावै।
मास बिहूनां घरि मति आवै हो कता॥—वही, पृ० ७३।

३ कुरल १३१, तुलनीय साधूना पुनराचारो गरीयान् धर्म्मलक्षण.॥—महा०।

४ कुरल १३२।

५ कुरल १३३।

६ कुरल १३४।

७ कुरल १३५।

८ कुरल १३६।

९ कुरल १३७।

१०. कुरल १३८।

करके भी समाज के साथ[1] मिलकर उचित आचरण नही करते वे अज्ञानी ही कहे जाएगे।[2] वल्लुवर आचरण की शुद्धता के अन्तर्गत कटु वचनो के प्रयोग से बचने का उल्लेख करते हैं। उनके मतानुसार आचरण की शुद्धता से यश, सुख एव समृद्धि की आशा है पर यदि व्यक्ति सदाचार का त्याग कर दे तो पाप, कष्ट, अपयश, निन्दा, परिवार की निन्दा इत्यादि 'फल' उसे भोगने पडते हैं।

जीवन के विभिन्न पक्षो पर विचार करते समय कबीर ने मन की पवित्रता तथा सदाचरण को भी अपने काव्य का विषय बनाया है। विभिन्न उक्तियो मे उन्होने मन को पवित्र रखने तथा विकार त्यागने के लिए उपदेश दिया है। कुछ स्थलो पर कबीर ने इस बात का अनुभव किया है कि विषय-वासना के त्याग एव मन की निर्मलता के फलस्वरूप ईश्वर स्वयं ही प्राप्त हो जाते हैं। कबीर मानते हैं कि सच्चा मन होने पर 'साहिब' निकट रहता है परन्तु मन में यदि झूठ है तो वह ऐसे व्यक्ति से बहुत दूर हो जाता है।[3] यदि भक्त शील और सतोष रूपी दो कगन धारण कर ले तो उसका मार्ग निश्चय ही सरल हो जाता है,[4] पर मन पापी है, विकार तथा विषय-वासनाओ को त्यागने पर भी सफल नही हो सकता।[5] कबीर तो यह मानते हैं कि 'तेई जन सूचे जे हरि भजि तजहिं विकारा'[6] अत उनका सदेश यही है कि 'डगमग छाडि दे मन बौरा'।[7] ऐसा करने पर निश्चय ही जीवन का मार्ग सरल हो जाएगा। मन की निर्मलता ही तो सदाचार का मूल आधार है, जिसका मन निर्मल है उसे तो हरि स्वय ढूढते फिरते हैं।[8] सत्य का आस्वादन तो निर्मल मन अर्थात् सदाचरण के द्वारा ही सम्भव है। जो ऐसा करने मे असमर्थ है वे 'अनचीन्हे' रह जाते हैं और जो स्वय निर्मल हो जाते हैं वे 'सत्य' जान जाते हैं।[9] अत सज्जन व्यक्ति को सदाचार का त्याग नही करना चाहिए चाहे उसे अनेक असत ही क्यो न मिलें।[10]

सक्षेप मे कबीर ने सदाचरण एव मन की पवित्रता पर विशेष बल दिया है। शील तथा सतोष ग्रहण कर, मन को निर्मल रखने का सदेश दिया है। इस जीवन मे यह महत् कार्य कितना कठिन है इसका अनुमान भी उन्हे था अत उन्होने कहा—"हिरदै सुद्ध किया नहिं

---

१ कुरल १३९।

२. कुरल १४०।

३ साचै मन तै साहिब नेरै झूठै मन तै भागा।।—कबीर ग्रथावली (ना० प्र० स०), पृ० ११

४ सील सतोख पहिरि दोइ कगन होइ रही मगन दिवानी।।—वही, पृ० ११।

५ अजहु बिकार न छोडई पापी मनु मदा।
बिख बिखिया की बासना तजौं तजी न जाई।।—वही, पृ० २३।

६. वही, पृ० ११२।

७. वही, पृ० ३३।

८ कबीर मन निरमल भया जैसा गगा नीर,
तब पाछै लागा हरि फिरै कहत कबीर कबीर।।
—वही, पृ० २०७।

९. जिन चीन्हां ते निरमल अगा अनचीन्हें ते भए पतगा।।—वही, पृ० १२३।

१० सत न छाडै सतई, जौ कोटिक मिलहिं असत।।—वही, पृ० १५३।

बौरे कहत सुनत दिन बीता रे।'[1] इसी प्रकार के विचार अन्यत्र भी उपलब्ध हैं।[2]

धर्म का समाजगत रूप—लोकाचार

अपरिग्रह—जिस समाज में 'व्यक्ति' की सम्पत्ति को महत्त्व दिया जाता है, वहां यह एक अनिवार्य आवश्यकता है कि एक दूसरे की सम्पत्ति धोखे से हस्तगत करने का प्रयास न हो। वल्लुवर के समाज में अन्य की सम्पत्ति हस्तगत करने की घटनाए हुई हों और उन्हें इस विषय पर विचार करने की आवश्यकता प्रतीत हुई हो, इसकी पूर्ण सम्भावना है। मानवमात्र को अधर्मकार्य से परिचित करवाने के लिए ही कवि पराई सम्पत्ति का लोभ न करने का उपदेश देते हुए इससे सम्भव अनेक कष्टो एव हानियो का उल्लेख करता है।

धर्म-मार्ग का त्याग कर दूसरे की सम्पत्ति हस्तगत करने वाले व्यक्ति का परिवार नष्ट हो उसे अपयश की प्राप्ति होगी।[3] दुष्कर्मों से बचने वाले मनुष्य क्षणिक लाभ के लिए लोभ नहीं करते।[4] वास्तविक आनन्द-प्राप्ति के इच्छुक अन्य की सम्पत्ति कभी नहीं हथियाते।[5] इन्द्रिय-निग्रही, निष्कलक, विद्वान् अभावग्रस्त होने पर भी अन्य की सम्पत्ति की कामना नही करते।[6] यदि व्यक्ति लोभवश दूसरे की सम्पत्ति प्राप्त करने की मूर्खतापूर्ण चेष्टा करे तो उसका विस्तृत एव स्पष्ट ज्ञान व्यर्थ है।[7] ईश्वरीय कृपा प्राप्त करने का इच्छुक धर्म-मार्ग का पथिक यदि अर्थलोभ से पापकर्म मे प्रवृत्त होगा तो नष्ट हो जाएगा।[8] लोभवश प्राप्त धन के भोग से कभी भी आनन्द की प्राप्ति नही होती।[9] यदि व्यक्ति अपनी सम्पत्ति की रक्षा करना चाहता है तो उसे अन्य की सम्पत्ति का लोभ नही करना चाहिए।[10] धर्म के ज्ञाता, बुद्धिमान, निर्लोभी मनुष्य जीवन मे सफलता प्राप्त करेगे। लक्ष्मी स्वय चल कर उसके पास आएगी।[11] लोभ से दुर्गति होगी और निर्लोभी व्यक्ति जीवन मे अपने उद्देश्य को पूर्ण करने में सफल होगा।[12] स्पष्ट है कि वल्लुवर लोभ को अधर्म मानते हुए उसे मूर्खतापूर्ण चेष्टा कहते हैं। इससे प्राप्त सम्पत्ति से व्यक्ति आनन्दोपलब्धि नही कर सकता। वल्लुवर लोभ-विषयक अपने मत की पुष्टि में सभी सम्भव कष्टो का उल्लेख कर इसके फलस्वरूप प्राप्त सम्पत्ति को क्लेश और दु:ख का कारण मानते हैं।

कबीरदास लोभ के अन्तर्गत केवल सम्पत्ति एवं धन इत्यादि समाविष्ट नही करते,

---

१ वही, पृ० ५५।
२ छाड़ि कपट नित हरि भज बौरा ।।—वही, पृ० १००।
३. कुरल १७१।
४. कुरल १७२।
५ कुरल १७३।
६. कुरल १७४।
७. कुरल १७५।
८ कुरल १७६।
९ कुरल १७७।
१० कुरल १७८।
११ कुरल १७९।
१२. कुरल १८०।

है तो विश्व की प्रत्येक वस्तु को इसमे गिनते हैं। उनका मत है कि लोभ त्याग देने पर व्यक्ति का मन संशय-मुक्त हो जाता है।[1] यह जन्म रत्न के सदृश अमूल्य है पर प्राणी लोभवश उसे व्यर्थ ही खो देता है।[2] यह नश्वर शरीर कभी भी नष्ट हो सकता है पर मनुष्य लोभ में लिप्त है और लालच तथा माया के भ्रम मे भूल कर जन्म को व्यर्थ ही नष्ट कर देता है।[3] लोभ की लहर में फस कर व्यक्ति बिना जल ही डूब जाता है।[4] जो व्यक्ति राम-नाम का आधार प्राप्त कर लेता है, उसको लोभ और अहकार प्रभावित नही करते।[5] लोभ को कबीर पाप के अन्तर्गत मानते हैं।[6] इस आधार पर वे लोभ के त्याग का उपदेश देते हैं, सत्य-मार्ग की प्राप्ति का यही मार्ग है।[7]

तिरुवल्लुवर और कबीर द्वारा ग्रहण किए गए 'लोभ' के अर्थ मे अन्तर है। वल्लुवर 'वेह्कामै' के अन्तर्गत पराई सम्पत्ति पर दृष्टि रखने, उसे हस्तगत करने इत्यादि विषयो पर विचार करते हैं। कबीर के लिए ससार की प्रत्येक वस्तु के प्रति मोह 'लोभ' के अन्तर्गत है। वे निष्काम-कर्म के मार्ग पर अग्रसर होने का उपदेश देते हैं, उनके मत में किसी भी वस्तु के प्रति लोभ अनुचित है, अत त्याज्य है।

निन्दा न करना—किसी व्यक्ति की, सद्भाव से प्रेरित होकर की गई स्वस्थ आलोचना उसको अपने दोष सुधारने का अवसर देना है। मनुष्य शनै-शनै अपने अवगुणो का त्याग कर श्रेष्ठ मानव बनने के मार्ग पर अग्रसर होता है। परन्तु इसके विपरीत एक अन्य प्रवृत्ति है—किसी मनुष्य की उसकी अनुपस्थिति मे निन्दा करना। इस प्रकार की निन्दा मे मनुष्य प्राय ईर्ष्या अथवा द्वेषादि के कारण प्रवृत्त होता है। 'पुरङकूरामै' के अन्तर्गत इसी प्रकार की निन्दा के विभिन्न पक्षो पर विचार करते हुए तिरुवल्लुवर ने निन्दा को अनेक कष्टो का कारण माना है। वे निन्दा मे प्रवृत्त व्यक्ति को अधर्म मे प्रवृत्त मानते है। 'निन्दा' की कटु आलोचना का एक अन्य कारण जीवन के उचित मूल्यो की स्थापना का जागरूक प्रयास है। निन्दक प्राय विश्वास-पात्र होने का ढोंग रचकर स्वस्थ सामाजिक वातावरण मे विष-वमन करता है, अत ऐसे व्यक्ति की वास्तविकता का परिचय देना नीति एव धर्म का निर्धारण करने वाले कवि के लिए उचित ही है।

तिरुवल्लुवर का कथन है कि व्यक्ति धर्म वचन न बोले, अधार्मिक-कार्य करे, परन्तु

---

१ होइ निसक मगन होइ नाचै लोभ मोह भ्रम छाडै।
—कबीर ग्रथावली (पा० ना० ति०), पृ० ३३।

२ प्रानी काहे कै लोभ लागे रतन जनम खोयौ।।—वही, पृ० ३५।

३. पापी जियरा लोभ करता है आजु कालि उठि जाइगा।
लालच लागै जनम गवाया माया भरमि भुलाइगा।।
—वही, पृ० ४४।

४ आवैगी कोई लहरि लोभ की बूडैगा बिनु पानी।।—वही, पृ० ५४।

५ राम नाम निज पाया सारा लागे लोभ न और हकारा।।
—वही, पृ० १२८।

६ जहां लोभ तह पाप।।—वही, पृ० १६०।

७ (क) काम क्रोध लोभ मोह बिबरजित, हरिपद चीन्है सोई।।—वही, पृ० ११।
(ख) परिहरु लोभु अरु लोकाचारु।।—वही, पृ० ४६।

पीठ पीछे किसी की निन्दा का अधर्म न करे।[1] पीछे किसी की निन्दा और उसके समक्ष मधुर भाव से मुस्कुराना धर्म-विरोध करने और पाप में लिप्त होने से भी अधिक अनुचित है।[2] पर-निन्दा जैसा दुष्कर्म करते हुए असत्याश्रित जीवनयापन से अच्छा मार्ग तो दरिद्र रहकर मृत्यु प्राप्त करना है, इस प्रकार से परनिन्दा से विमुख मनुष्य सद्गति प्राप्त करेगा।[3] अपने सामने बैठे व्यक्ति की चाहे कितनी भी कटु आलोचना कर लो पर पीठ पीछे कभी कटु-वचन मत कहो।[4] धर्म का ढोंग करने वाले की एक पहचान है—उसका परनिन्दा के पाप मे प्रवृत्त होना।[5] अन्य व्यक्तियो के दोषो का वर्णन करने वाले मनुष्य के दोषो की आलोचना अन्य व्यक्ति करेंगे, परिणामत उसका निरादर होगा।[6] मधुर-वचनों से मैत्री की रक्षा करने में अस-मर्थ पीठ पीछे कटु-वचनो के प्रयोग द्वारा बन्धु-बांधवों से भी अलग हो जाएगे।[7] जो अपने निकट के मित्र की भी निन्दा करते हैं वे अन्य लोगों के प्रति न जाने क्या कर्म करेंगे?[8] धरती सम्भवत अपने धैर्य-धर्म की रक्षा के लिए ही ऐसे निन्दक व्यक्तियो को धारण करती है।[9] मनुष्य यदि दूसरो के दोषो का छिद्रान्वेषण न कर अपने दोषों को देखे तो उसे कष्ट ही क्यो हो?[10] इस प्रकार कवि ने परनिन्दा के पाप को स्पष्ट कर, इसमे प्रवृत्त मनुष्य को पृथ्वी का बोझ माना है। किसी की आलोचना उसके समक्ष करने की अनुमति दी है, पर किसी की अनु-पस्थिति मे दोष-विवेचन को कुकर्म माना है। अपने मित्र की निन्दा को अधर्म मान, ऐसे निन्दक से दूर रहने का सकेत है।

कबीर आत्मश्लाघा और परनिन्दा दोनों को त्याज्य मानते हैं क्योकि इस विश्व में कब क्या हो जाए, कोई नही जान सकता।[11] मनुष्य अन्य के दोषो को देखकर अत्यन्त प्रसन्न होता है पर उसके अपने दोषो का न आदि है, न अत, यह तथ्य उसकी दृष्टि से ओझल रहता है।[12] ससार की कोई भी वस्तु, चाहे वह कितनी ही निम्न क्यो न हो निन्दा के योग्य नहीं, क्योकि पावो तले रौदी जाने वाली तुच्छ घास, आख मे पड जाने पर क्या रग ला सकती है

---

१ कुरल १८१।
२ कुरल १८२।
३ कुरल १८३।
४ कुरल १८४।
५. कुरल १८५।
६ कुरल १८६।
७ कुरल १८७।
८ कुरल १८८।
९. कुरल १८९।
१० कुरल १९०।
११ आपनपौ न सराहिए, पर निंदिए न कोई।
अजहूं लबे धौहडे, ना जानौ क्या होइ।।
—कबीर ग्रथावली (पा० ना० ति०), पृ० २१८।
१२ दोख पराए देखि करि, चला हसंत हसत।
अपनैं चीति न आवई, जिनकी आदि न अंत।।—वही, पृ० २१७।

यह सर्वविदित है।[1] दूसरों की निन्दा और अपनों की प्रशंसा भी कबीर उचित नहीं समझते।[2] साधु की निन्दा करने वाले पर संकट आता है, वह नरक में गिरता है और कभी भी मुक्त नहीं होता।[3]

कबीर यद्यपि 'निन्दा' करना अनुचित मानते हैं, पर 'निन्दक' को अपने आगन में कुटी बनवाकर देने का विचार प्रकट करते हैं क्योंकि वह हमारे दोषों को दिखाकर हमारे स्वभाव को निर्मल करने का महान कार्य करता है।[4] निंदा-विषयक कबीर की एक और दृष्टि भी है। निन्दक हमारे हृदय को शुद्ध करता है, हमारे दोषों को प्रत्यक्ष कर देता है, यही कारण है कि कबीर 'निंदौ निंदौ मोकौ लोग निंदौ' की रट लगाते हैं। 'निंदा होय त बैकुंठ जाइये' इसलिए 'निंदा करै सुहृ भरा मीत'। निन्दक तो हमारा धोबी है, 'हमारे कपरे निन्दक धोइ' और इस प्रकार 'निन्दा हमारा करै उधार'। जिससे हमार उद्धार हो उसके प्रति आदरभाव होना स्वाभाविक है। निन्दक द्वारा हमारे दोषों का उद्घाटन होता है, हम उन दोषों के प्रति जागरूक हो उनका निराकरण करते हैं, इस प्रक्रिया में होता यह है कि 'निन्दक डूबा हम उतरे पार'।[5] एक अन्य स्थल पर भी कबीर ने इसी भाव को अभिव्यक्त किया है।[6] इस प्रकार के कथन कबीर की अपनी विशेषता है, जब सीधे कथन प्रभाव करने में असफल रहते हैं तो शैली व्यंग्य का आधार ग्रहण करती है।

अक्रोध—मनु ने धर्म के दस लक्षणों में अक्रोध को भी स्थान दिया है।[7] गीता में श्रीकृष्ण ने क्रोध को रजो-गुण से उत्पन्न मानते हुए इसे मनुष्य का शत्रु माना है।[8] महाभारत में

---

१ कबीर घास न निंदिए जौ पावा तलि होइ।
ऊडि पडै जब आंखि मैं, तौ खरा दुहेला होइ॥
—कबीर ग्रंथावली (पा० ना० ति०), पृ० २१८।

२ आपनपौ न सराहिये, और कहिए रंक॥
—वही

३ जो कोई निंदै साधु कौ संकटि आवै सोइ।
नरक माँहि जामै मरै मुकुति न कबहू होइ॥
—वही

४ निन्दक नेरै राखिए आंगनि कुटि बधाई।
बिन साबुन पानी बिना निरमल करै सुभाइ॥—वही

५ कबीर ग्रंथावली, पृ० २२९-३०।

६ जैसे धुबिया रज मल धोवै, हर तप रत सब निन्दक खोवै।
न्यदक मेरे माई बाप, जन्म जन्म के काटे पाप।
न्यदक मेरे प्रान अधार, बिन बेगारि चलावै भार।
कहै कबीर न्यदक बलिहारी, आप रहै जन पार उतारी॥
—वही, पृ० १५३।

७ मनु०, ६।९२।

८ काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भव।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥—गीता, ३।३७।
और देखें—गीता, ३।४१, ५।२३, ५।२६, १६।२१।

'अक्रोध' को धर्म के लक्षणों में से एक स्वीकार किया गया है।[1] इसी परम्परा में तिरुवल्लुवर और कबीर ने अक्रोध को यथेष्ठ महत्त्व प्रदान किया है। तिरुवल्लुवर क्रोध का वास्तविक दमन करने का उपदेश देते हैं। वास्तविक दमन से अभिप्राय है कि व्यक्ति क्रोध का वहां नियंत्रण करे जहां वह दूसरे को हानि पहुचाने मे समर्थ है, निर्बल व्यक्ति के क्रोध-नियत्रण का कोई अर्थ नहीं होता।[2] निर्बल का क्रोध अनुचित है, पर शक्तिशाली का क्रोध कुत्सित अपराध है।[3] क्रोध का परिहार होना चाहिए अन्यथा यह अनर्थ का कारण बनता है।[4] इससे अधिक भयंकर शत्रु नही क्योंकि यह मनुष्य के आनन्द और उल्लास को नष्ट करता है।[5] मनुष्य को क्रोध से अपनी रक्षा करनी चाहिए अन्यथा यह सर्वनाश कर देगा।[6] यही नहीं, क्रोध जीवनधारा मे नाव-सदृश सहायक इष्ट-बन्धुओं को भी नष्ट कर देता है।[7] पृथ्वी पर बलपूर्वक हाथ मारने का परिणाम है 'कष्ट', यही दशा क्रोध करने पर होगी।[8] यदि कोई अग्नि से जला डालने के सदृश अनर्थ भी करे तो भी क्रोध से यथासम्भव दूर ही रहना चाहिए।[9] क्रोध को हृदय में स्थान न देने वाले मनुष्य की मनोकामनाए शीघ्र ही पूर्ण हो जाएगी।[10] तिरुवल्लुवर के मत मे क्रोध के वशीभूत व्यक्ति मृतक समान है, क्रोध-त्याग करने मे समर्थ ऋषि समान हैं।[11] इस प्रकार तिरुवल्लुवर क्रोध से सम्भव मोह और भ्रान्ति, और उसके परिणामस्वरूप कर्त्तव्याकर्त्तव्य-विवेक-हीन स्थिति से बचने के लिए क्रोध से विमुख होने का उपदेश देते हैं।

कबीर का कथन है कि काम, क्रोध और तृष्णा के कारण मनुष्य बिना जल ही डूब जाता है।[12] यह काम और क्रोध देह पर काबू पाए हुए हैं।[13] जो मनुष्य इनसे बचना चाहे उसे जूझना पड़ेगा, सघर्ष करना होगा।[14] इससे बचना कठिन है क्योकि यह अपने दलबल सहित मन पर अधिकार किए हुए है।[15] मनुष्य को जान लेना चाहिए कि जहा क्रोध है वहा काल का

---

१ म० महा० १३।२।४०।

२ कुरल ३०१।

३ कुरल ३०२।

४ कुरल ३०३, तुलनीय क्रोधमूलो विनाशो हि प्रजानामिह दृश्यते।
—महा०, अरण्य० ३।३०।३।

५ कुरल ३०४।

६ कुरल ३०५।

७ कुरल ३०६।

८. कुरल ३०७।

९. कुरल ३०८।

१० कुरल ३०९।

११ कुरल ३१०।

१२ काम क्रोध तिसनां के मारे बूड़ि मुएहु बिनु पांनी।—कबीर ग्रथावली (पा० ना० ति०) पृ० ४।

१३ कांम क्रोध मल भरि रहा देहु पसारै।।—वही, पृ० ४।

१४ कांम क्रोध सौं जूझना चौड़े मांड़ा खेत।।—वही, पृ० १८०।

१५ क्रोध प्रधांन लोभ बड दुदर मनु मैंवासी राजा।।—वही, पृ० १६।

निवास है,[1] इसका त्याग कर देने का सतत प्रयास करते रहना चाहिए।[2] इसके छूटे बिना माया नहीं छूटेगी।[3] पर जो हरि-पद-प्राप्ति के इच्छुक हैं, वे इसका त्याग कर देंगे।[4] वल्लुवर और कबीर दोनों ही कवि क्रोध का त्याग करने का उपदेश देते हैं और मानसिक-शान्ति तथा परम-सत्य की उपलब्धि मे इसे बाधा स्वीकार करते हैं।

पर-स्त्री वर्जन—सामाजिक वातावरण में स्थैर्य लाने के लिए एव उसे दुराचरण से मुक्त रखने के लिए पारिवारिक जीवन की पवित्रता अनिवार्य आवश्यकता है। मनु ने पर-स्त्री-गमन को पुरुष की आयु क्षीण करने वाला कर्म कहा है।[5] हारीत स्मृति में परस्त्री गमन से विरत हो अपनी स्त्री से ही प्रेम करने का सदेश है।[6] वेद-व्यास स्मृति में भी परस्त्री-भोग को ऐसा पाप माना गया है जो तीर्थ-स्नान से भी नष्ट नही होता।[7] वल्लुवर इस सत्य से परिचित हैं कि यदि पत्नी का चरित्र श्रेष्ठ हो, वह सतीत्व-युक्त हो, पति की आज्ञा का उल्लंघन न कर प्रेम और सद्भाव से गृहस्थ चलाए तो परिवार कलह एव क्लेश से मुक्त रहेगा। यह विचार उन्होने 'वाऴ्क्कै-त्तुणैनलम्'—'सहधर्मिणी के गुण' शीर्षक अध्याय मे व्यक्त किए हैं।[8] यदि पत्नी का चरित्र उज्ज्वल न हो तो गृहस्थ-जीवन की आधार-शिला ही हिल जाती है। पत्नी के चरित्र की रक्षा के लिए समाज के पुरुष-वर्ग का भी यह कर्त्तव्य हो जाता है कि अपने काम-सम्बन्ध अपनी पत्नी तक ही सीमित रखे। 'पिऱ्ऩिल् विऴैयामै'—'परस्त्री-वर्जन' शीर्षक के अन्तर्गत पुरुष-मात्र को इस अधर्म कार्य से विमुख रहने का आदेश देते हुए वल्लुवर व्यभिचार एव सीमोल्लघन के लिए पुरुष को दोषी ठहराते हैं।

वल्लुवर का मत है कि धर्म और सम्पत्ति के नियमो से परिचित व्यक्ति पर-स्त्री को प्रेम करने की मूर्खता नही करते।[9] धर्म-कार्यों से विमुख व्यक्तियो मे निकृष्ट वह है जो पडोसी की स्त्री की कामना करता है।[10] पडोसी से कवि का अभिप्राय अन्य व्यक्ति से है। उसके अनुसार विश्वास करने वाले मित्र की पत्नी की कामना करने वाला तो मृत हो गया है।[11] मनुष्य

---

१. . जहा क्रोध तह काल है ।।—कबीर ग्रथावली (पा० ना० ति०), पृ० ११० ।
२ काम क्रोध हकार बिआपै ना छूटै माया ।।—वही, पृ० २२ ।
३ परिहरु कामु क्रोधु हकारु ।—वही, पृ०, ४६ ।
४ . काम कोध लोभ मोह बिबरजित हरिपद चीन्हैं सोई ।।—वही, पृ० १६ ।
५. न हीशमानायुष्य लोके किंचन विद्यते ।
यादृश पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ।।—मनु०, ४।१३४ ।
६ स्वदारनिरतो नित्य परदार विवर्जित ।।—हारीत स्मृति, १।२७ ।
७. परदारान् परद्रव्य हरते यो दिने दिने ।
सर्व्वतीर्थाभिषेकेण पाप तस्य न नश्यति ।।—व्यासस्मृति, ४।५ ।
८ कुरल क्रम स० ५१ से ६० तक ।
९. कुरल १४१, तुलनीय परदारा न गन्तव्या सर्ववर्णेषु कर्हिचित् ।
नहीदृशमनायुष्य लोके किंचन विद्यते ।।—महा० ।
१० कुरल १४२ ।
११ कुरल १४३, तुलनीय य स्वदारान् परित्यज्य पारक्या सेवते स्त्रियम् ।
निरयान्नैव मुच्यते यावदाभूतसम्प्लवम् ।।—महा० ।

चाहे कितना ही महान् क्यों न हो, यदि वह व्यभिचार को लज्जा का ध्यान न कर परस्त्री-गमन करता है तो वह किस काम का?[१] परस्त्री-गमन को साधारण बात समझ कर जो व्यक्ति यह पापकर्म करता है, वह इसके पाप के प्रभाव से सदैव कलंकित रहेगा।[२] व्यभिचारी की शत्रुता पाप और भय तथा निन्दा से कभी मुक्ति नहीं मिलेगी।[३] किसी अन्य की पत्नी की कामना न करना धर्माचरण मात्र ही नहीं, प्रत्युत मूल सदाचार है।[४] सद्‌गृहस्थ का यह लक्षण है कि वह अन्य की पत्नी की कामना न करे।[५] समुद्रावृत्त पृथ्वी के विभिन्न वैभवों का अधिकारी वही व्यक्ति है जो अन्य पुरुष की स्त्री के स्कधो को अपने बाहुपाश में आबद्ध नहीं करता।[६] मनुष्य चाहे धर्मकार्य न करे, चाहे समस्त पापकर्म करे पर दूसरे की पत्नी की कामना न करे।[७]

उपर्युक्त कथनो के आधार पर तिरुवल्लुवर द्वारा समाज में सामान्य गृहस्थ-जीवन के लिए स्त्री के सतीत्व को दिया गया महत्त्व स्पष्ट है। व्यभिचारी व्यक्ति न केवल अपनी हानि करता है अपितु सामाजिक व्यवस्था का उल्लघन कर अविश्वास और अधर्म के बीज बोता है। अत यह आवश्यक हो गया कि इस प्रकार के मार्ग का अनुसरण करने वाले व्यक्ति के लिए नीति का निर्धारण हो तथा इस कार्य की स्पष्ट एव तीव्र निन्दा की जाए। कवि को अपने इस सद्‌प्रयास मे अद्‌भुत सफलता प्राप्त हुई है।

पर-स्त्री के साथ अनुचित सम्बन्धो को आधार बना कर सत कबीर ने व्यभिचार की निन्दा की है। कबीर ने यह कार्य दो प्रकार से किया है। प्रथम तो साधारण मानव-जीवन मे इस प्रकार के सम्बन्धो की निन्दा और द्वितीय 'आत्मा' को नारी मान, उसका इस जगत् के भोग-विलास मे लिप्त हो जाना भी 'व्यभिचार' के अन्तर्गत लिया है। कबीर की दृष्टि वल्लुवर से तनिक भिन्न है। उन्होने साधारणत इन सम्बन्धो के लिए नारी को दोषी ठहराया है। इसके लिए नारी की निन्दा की है, पुरुष-वर्ग पर विशेष आक्षेप नही किया। सम्भवत यह 'नारी' और 'माया' को परस्पर सम्बद्ध करने के कारण हुआ है। लहसुन किसी भी कोने मे बैठ कर खाया जाए, उसकी गन्ध आ ही जाती है। पराई स्त्री का सम्बन्ध भी चाहे कितना ही सावधानी से एव छिपा कर किया जाए, अन्तत प्रगट हो ही जाता है।[८] पर-नारी प्रत्यक्ष छुरी के समान है, इससे मनुष्य को अपनी रक्षा करनी चाहिए।[९] "हरि" और सब अवगुण क्षमा कर

---

१. कुरल १४४।
२ कुरल १४५।
३. कुरल १४६।
४ कुरल १४७।
५. कुरल १४८।
६ कुरल १४९।
७ कुरल १५०।
८. परनारी को राचनौं, जस लहसुन की खानि।
कौनैं बैठे खाइए, परगट होइ निदानि ॥
—कबीर ग्रथावली (पा० ना० लि०), पृ० २३१।
९ परनारी परतखि छुरी, बिरला बांचै कोइ ॥—वही, पृ० २३२।

देता है, व्यभिचार को क्षमा नही करता, किन्तु मनुष्य अधा है, सावधान नहीं होता।[१] पर-नारी में अनुरक्त व्यक्ति कुछ दिवस चाहे आनन्द कर ले, अन्त मे समूल नष्ट हो जाता है।[२] मनुष्य चाहे कितना ही ज्ञानवान क्यो न हो, यदि इन्द्रियो के वशीभूत हो जाए तो निश्चय ही नष्ट हो जाता है।[३] यदि 'नारी' अपने 'पति' के अतिरिक्त किसी अन्य के साथ काम-सम्बन्ध स्थापित करती है तो पति के आदर की अधिकारिणी कैसे हो सकती है?[४] किसी स्त्री का अन्य के साथ व्यभिचार उसे पति की दृष्टि मे हीन बना देगा, उसका आदर नष्ट हो जाएगा।[५] 'पर नारी पर सुन्दरी, बिरला बचै कोइ',[६] 'पर-नारी कै राचणं, औगुण है गुण नाहि'[७] के मूल में कबीर का यही सदेश है कि 'खाता मीठी खाड-सी, अति काल विष होइ'। 'नर नारी सब नरक है, जब लग देह सकाम' के आधार पर चलने वाले कबीर सामाजिक मर्यादा को भग करने वाली इस प्रवृत्ति को पूर्णतया अस्वीकृत करते हैं। सामाजिक जीवन मे स्थिरता लाने, वातावरण को निष्कलक बनाने और गृहस्थ जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिए कबीर सच्चरित्रता का सदेश देते हैं। इस दृष्टि से दोनो कवि पूर्णरूपेण एकमत है।

बाह्य-आडम्बर-विरोध—गीता मे कृष्ण सन्यास और कर्मयोग दोनो को मनुष्य मात्र का कल्याण करने वाला मानते हैं।[८] ससार में दो प्रकार की प्रवृत्ति वाले मनुष्य होते हैं। प्रवृत्ति मार्ग पर अग्रसर और निवृत्ति मार्ग पर अग्रसर। दोनो ही सत् मार्ग हैं, पर जो वेषधारी नाम-मात्र के सन्यासी हैं, जो सन्यास ग्रहण करने के पश्चात भी विविध भोगादि के साधनो मे लिप्त रहते हैं, ऐसे लोग इस मार्ग के अधिकारी नही हैं। केवल वेष से सन्यासी समाज मे अनर्थ का कारण बनता है। तपस्वी के सदर्भ मे आचरण की पवित्रता का महत्त्व स्वप्रमाणित है। समाज में सत् और असत्, उचित एव अनुचित तथा तपस्वी एव ढोगी का अतर जान लेना कठिन है। इस दृष्टि से तिरुवल्लुर तवम्' के पश्चात् 'कूटर ओळुक्कुम्' अथवा 'पाखण्ड' शीर्षक के अन्तर्गत दुराचारी, ढोगी तपस्वियो का उल्लेख करते हुए प्रकारान्तर से तपस्वी के लिए निषिद्ध कार्यों का भी

---

१ अन्धा नर चेतै नही, कटै न ससै सूल।
और गुनह हरि बकसिहै कामी डाल न मूल॥
—कबीर ग्रथावली (पा० ना० ति०), पृ० २३३

२ पर नारी राता फिरै, चोरी बिढ़ता खाहि।
दिवस चारि सरसा रहै, अन्ति समूला जाहि॥—वही, पृ० २३४।

३ ग्यानी तौ नीडर भया मानै नाही सक।
इन्द्री केरै बसि पड़ा, भूजै बिखै निसक॥—वही

४ नारि कहावै पीव की, रहै और सग सोइ।
जार मीत हृदया बसै, खसम खुसी क्यौं होइ॥—वही, पृ० १७५।

५ कबीर जे कोइ सुदरी, जानि करै बिभिचारि।
ताहि न कबहु आदरै, परम पुरिख भरतार॥—वही, पृ० १७७।

६ कबीर ग्रथावली, पृ० ३०।

७ वही, पृ० ३१।

८ सन्यास कर्मयोगश्च नि श्रेयसकरावुभौ॥—गीता ५।२।

संकेत देते हैं। गीता में वर्णित संन्यासी के लक्षणों से वल्लुवर का दृष्टिकोण अभिन्न है।[१]

मनुष्य के दुराचरण को अन्य कोई जाने या न जाने, उसके शरीर के पाँचों तत्त्व उससे परिचित रहते हैं; तपस्वी के वेश में ढोंगी के पांचों तत्त्व अन्दर ही अन्दर उस पर हंसते हैं।[२] तपस्वी वेश आकाश के समान है। यदि उसे धारण करने पर भी मनुष्य पाप-कर्म में लिप्त रहे तो उसका क्या लाभ ?[३] तपस्वी के लिए इन्द्रिय-निग्रह प्रथम आवश्यकता है, इसमें असमर्थ व्यक्ति शेर की खाल में घास चरने वाली गाय से सदृश है।[४] तपस्वी वेश में पापाचार करने वाला मनुष्य पाखण्ड कर रहा है, वह छिपकर पक्षी पकड़ने वाले बहेलिए के समान वञ्चक है।[५] स्वयं को 'विरक्त' कहने वाला मनुष्य यदि दुराचरण करेगा तो उसे कठोर यन्त्रणा का भोग करना होगा।[६] 'विरक्त' कहलाने से पूर्व मनुष्य को हृदय से मुक्त होना आवश्यक है।[७] ढोंगी व्यक्ति का बाह्य रूप तो घुंघुची के समान सुन्दर होता है, पर उसका हृदय उसके काले दाग के सदृश होता है।[८] वल्लुवर का कथन है कि तीर्थस्थानों में अनेक ढोंगी तापस-वेश धारण कर कुकर्मों में लिप्त रहते हैं।[९] मानव की पहचान उसके कर्मों से होनी चाहिए; बाह्य रूप, वेश आदि से नहीं। क्योंकि तीर सीधा होता है पर घाव करता है, याळ् (वीणा) टेढी होने पर भी मधुर ध्वनि देती है।[१०] यदि मनुष्य का हृदय शुद्ध है तो सिर मुड़वाने या जटा रखवाने की क्या आवश्यकता है।[११]

बाह्य-आडम्बर एवं ढोंग के विषय में कबीरदास विशेष सजग हैं। उनके काव्य में व्रत, तप, तीर्थ, केश कटवाना, जटा रखना, माला फेरना, मूर्ति-पूजा, मुल्ला का बांग देना, यती या सन्यासी का विभिन्न वेश धारण करना, इत्यादि अनेक कार्यों को व्यर्थ मान, बाह्य-आडम्बर एवं ढोंग की कटु निन्दा की गई है। धर्म के बाह्य ढोंग से धर्म का पालन नहीं होता, उसके लिए तो सतत प्रयास की आवश्यकता है।[१२] विभिन्न प्रकार के पाखण्ड रचकर जनता को मूर्ख बनाना कबीर पूर्णतः अनुचित मानते हैं।[१३] जब तक अन्तस् शुद्ध नहीं होता,

---

१ ज्ञेय स नित्यसन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ।। —गीता, ५।३।

२ कुरल २७१।

३. कुरल २७२।

४ कुरल २७३।

५ कुरल २७४।

६ कुरल २७५।

७ कुरल २७६।

८. कुरल २७७।

९. कुरल २७८।

१० कुरल २७९।

११ कुरल २८०।

१२ कुरल तुलनीय फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम्।
न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति ।।—मनु० ६।६७।

१३. छह दरसन पाखंड छयांनवैं, आकुल किनहु न जाना ।।
—कबीर ग्रंथावली (पा० ना० ति०), पृ० ३९।

तब तक तीर्थ-स्नानादि सब व्यर्थ हैं। इससे मुक्ति प्राप्त नही होगी।[१] बाह्य वेश आदि के विषय मे उनका कथन है कि 'ब्रह्मा नहिं जब टोपी दीन्हा, बिस्नु नही जब टीका' तो फिर बाह्य-आडम्बर की क्या आवश्यकता है?[२] उस परम सत्य को जान पाने में अनेक योगी, जटाधारी असमर्थ रहे हैं।[३] मूर्तिपूजा करते हुए हिन्दू, हज करते हुए तुर्क, जटा धारण करने वाले योगी सब नष्ट हो गए, पर उस प्रभु की शक्ति को कोई न जान पाया।[४] योगी, यती, तपस्वी, संन्यासी विभिन्न तीर्थों का भ्रमण करते हैं, वे चाहे लम्बी जटाए धारण कर लें, चाहे केश कटवा डालें, जब तक सत्यमार्ग का अनुसरण नही करेंगे, ये सब व्यर्थ हैं।[५] उचित मार्ग तो भ्रम से मुक्ति प्राप्त कर लेना है, व्यक्ति चाहे असख्य वेश धारण करे हृदय के पवित्र हुए बिना सत्य ज्ञान प्राप्त करने में सफलता नही मिलेगी।[६]

अनेक तथ्यो का एक तथ्य यह है कि ढोग अथवा 'चतुराई' के मार्ग से हरि की प्राप्ति नहीं होगी।[७] यदि मन चचल है तो तीर्थ-यात्रा करना व्यर्थ है, सत्य की प्राप्ति तो होगी नहीं, पापों का बोझ और भी बढ जाएगा।[८] तन से योगी तो सब हो सकते हैं, पर वास्तविक योगी तो मन का होता है। यदि मनुष्य मन से योगी हो जाए तो सब प्रकार की सिद्धिया सहज ही प्राप्त हो जाएगी।[९] बाह्य-आडम्बर और ढोग की कटु आलोचना करते हुए कबीर ने अनेक उक्तिया कही हैं। इनमे मन को पवित्र करने का निर्देश करते हुए सत्य-मार्ग का अवलम्बन करने का सदेश है।[१०] कबीर-काव्य मे बाह्य-आडम्बर-विरोध विषयक समस्त कथन एक स्वतन्त्र

---

१ अतरि मैल जे तीरथ न्हावै तिन बैकुठ न जाना ॥
—कबीर ग्रन्थावली (पा० ना० ति०), पृ० ४६।

२. वही, पृ० ८४।

३ कवि जन जोगी जटा धारि, सम आपन औसर चलै हारि ॥—वही, पृ० २६।

४ बुत पूजि पूजि हिन्दू मूए, तुरुक मुए हज जाई।
जटा धारि धारि जोगी मूए, तेरी गति किनहु न पाई ॥—वही, पृ० ५०।

५ जोगी जती तपी सन्यासी बहु तीरथ भ्रमना।
लुंचित मुंडित मोनि जटाधर अति तऊ मरना ॥—वही, पृ० ५६।

६ भरम न भागा जीव का अनतहि धरिया भेख।
सतगुर परचै बाहिरा अंतरि रहि गई रेख ॥—वही, पृ० २२२।

७ चतुराई हरि ना मिलै यह बाता की बात ॥—वही, पृ० २२३।

८ तीरथ चाले दुइजना चित चचल मन चोर।
एकौ पाप न काटिया लादा मन दस और ॥—वही, पृ० २२५।

९ तन कौ जोगी सब करै मन कौं बिरला कोइ।
सब सिधि सहजै पाइए जो मन जोगी होइ ॥—वही, पृ० २२२।

१० (क) साई सेती साँच चलि औरा सौ सुध भाइ।
भावै लाबे केस करि भावै घुरडि मुडाइ ॥—वही, पृ० २२१।

(ख) मन मैवासी मूडि ले केसौं मूडै कांइ।
जो किछु किया सु मन किया, केसौं कीया नाहिं ॥—वही, पृ० २२१।

(ग) माला फेरै मनमुखी तातै कछू न होइ।
मन माला कौं फेरतां घट उजियारा होइ ॥—वही, पृ० २२२।

अध्ययन का विषय बन सकता है। यहां अत्यन्त सीमित रूप में इस अंश को ग्रहण किया है। प्रस्तुत विवेचन से तिरुवल्लुवर और कबीर के विचारों के एक होने का प्रमाण स्वतः प्रस्तुत हो गया है। दोनों कवि मन की पवित्रता पर बल देते हैं, ढोंग की कटु आलोचना करते हैं एवं सत्य मार्ग के अवलम्बन का संदेश देते हैं। इन कवियों द्वारा दिया गया यह संदेश सामाजिक सुधार का एक शक्तिशाली माध्यम रहा है।

परोपकार

तिरुवल्लुवर ने 'ओप्पुरवरितल्'[1] अर्थात् परोपकार को धर्म के अन्तर्गत समाहित करते हुए इसे विशेष महत्त्व प्रदान किया है। पूर्व-वर्णित धर्म-कार्यों के समान परोपकार के दो निश्चित प्रभाव हैं—(क) प्रत्येक व्यक्ति परोपकार करे तो मानव समाज का कल्याण सुगम हो जाता है। (ख) सामाजिक स्तर पर उच्चतर मूल्यों की स्थापना सम्भव हो जाती है। विभिन्न धर्मों मे सह-अस्तित्व की भावना की स्वीकृति का आधार यही है कि अन्य मनुष्य भी हमारे ही समान महत्त्वपूर्ण हैं। 'स्व' का विस्तार कर अन्य को सुखी बनाने की भावना का सदेश कामायनीकार ने भी दिया है। औरो को सुखी बनाकर ही अपना सुख विस्तृत होता है।[2] परोपकार-सम्बद्ध परम्परागत भावो का मनुष्य की नैतिक प्रवृत्ति पर निश्चित प्रभाव पडता है। जब मनुष्य सर्वाधिक स्वमूलक (Self-regarding) होता है वही समय उसके 'स्व' से दूर होने का होता है अर्थात् जब 'व्यक्तिगत' भावनाओ का त्याग कर, स्व-अस्तित्व को भुला समाज के अन्य मनुष्यो के साथ सम्बद्ध होता है उस समय वह अपने वास्तविक रूप का परिचय प्राप्त कर 'आत्म' का ज्ञान प्राप्त करता है। इस प्रकार मानव भावनाओ के उच्चतर सोपान पर परोपकार का भाव स्वत जागृत एव विकसित होता है। विद्वानो ने परोपकार को आत्मा के शक्ति-तत्त्व के रूप मे स्वीकार किया है। यह तो धर्म ही है एव इसका आधार प्रेम

(घ) कर पकरें अगुरी गिनै मन धावै चहु ओर।
जाहि फिराया हरि मिलै सो भया काठ की ठौर ॥—वही, पृ० २२२।

(ङ) कबीर माला मन की और ससारी भेख।
माला पहिरे हरि मिलै तो अरहट कै गलि देखि ॥—वही।

(च) कबीर हरि की भगति का मन मे बहुत हुलास।
मनमनसा भाजै नही होन चहत है दास ॥—वही, पृ० २२३ इत्यादि।

१ "ओप्पुरवरितल्" शब्द का अर्थ तमिल लेक्सिकन, पृ० ५६६ के आधार पर 'परोपकार' उचित ठहरता है। वहां उपलब्ध अर्थ है—'दान, इत्यादि से सम्बद्ध विषयो में समाजानुमोदित उचित मार्ग का परिचय अथवा ज्ञान।' पर कुछ विद्वानो ने इसका अर्थ शिष्टाचार भी किया है। सम्भवत दोनो मे भेद न करने के कारण ऐसा हुआ है।

२. औरो को हँसते देख मनु
हँसो और सुख पाओ,
अपने सुख को विस्तृत कर लो
सब को सुखी बनाओ।—कामायनी, प्रसाद, पृ० १३२।

तत्त्व है।[1]

तिरुवल्लुवर का मत है कि परोपकार के बदले में किसी प्रकार की आशा नहीं करनी चाहिए क्योंकि वर्षा प्रदान करने वाले बादलो को क्या पुरस्कार मिलता है ?[2] मनुष्य जीवन में परिश्रम से धन अर्जित करता है, उसका उद्देश्य यही है कि सत्पात्र की सहायता की जाए।[3] परोपकार से श्रेष्ठ धर्म-कार्य इहलोक में अथवा देवलोक मे नही है।[4] परोपकारी ही जीवित है, शेष सब तो मृतक ही हैं।[5] समृद्ध परोपकारी मनुष्य सदा जल से पूर्ण सरोवर के समान है।[6] इस प्रकार का मनुष्य गाव के मध्य मे लगे फलयुक्त वृक्ष के सदृश है।[7] परोपकारी का धन, मनुष्यों को, औषधि के लिए प्रयुक्त होने वाले वृक्ष के समान कष्टो से मुक्त करता है।[8] उचित कर्त्तव्य के ज्ञाता दारिद्रय मे भी परोपकार से विमुख नही होते।[9] जब वे सहायतापेक्षी की सहायता करने मे असमर्थ होते हैं तो स्वय को दरिद्र समझते हैं।[10] परोपकार से यदि नैर्धन्य प्राप्त हो तो भी श्रेयस्कर है, स्वय को बेचकर भी परोपकार उचित है।[11] कबीर-काव्य मे 'परोपकार' पर विशेष बल दिया गया है। 'स्व' और 'पर' के अभेद की स्वीकृति निष्काम परोपकार का आधार है। जब तक 'मोर-तोर' और 'ऊच-नीच' की स्थिति रहेगी भेद विद्यमान रहेगा। अन्य प्राणियो के प्रति सद्भाव से प्रेरित परहित-सलग्न मनुष्य ही जीवन मे सफलता-श्री को प्राप्त करता है। यह ससार 'धूवरि मेह' के समान है और 'तन धन जोबन अँजुरी कौ पानीं', इस रहस्य को जानने वाले 'स्व' के स्थान पर 'पर' के कल्याण को प्राथमिकता देंगे। कबीर परोपकार को लौकिक एव पारलौकिक सफलता के लिए आवश्यक मानते हुए कहते है—'आपा पर सब एक समान, तब हम पाया पद निरबाण।'[12]

अतिथि सत्कार

अतिथि सेवा प्राचीन काल से ही समाज मे स्वीकृत है। गृहस्थ के कर्त्तव्य-कर्मों मे

---

१ It (benevolence) is the very energy of the soul, according to its highest excellence, in a perfect life Man is no longer viewed as a mass of tendencies, among which benevolence may be enumerated He is living being, a true organism of 'unity in difference' when man is most self-regarding, he is least himelf

—*Encyclopaedia of Religion and Ethics*, Vol II, p 477

२ कुरल २११।

३ कुरल २१२।

४ कुरल २१३।

५ कुरल २१४।

६. कुरल २१५।

७ कुरल २१६।

८ कुरल २१७।

९. कुरल २१८।

१०. कुरल २१९।

११ कुरल २२०।

१२ कबीर ग्रथावली, पृ० २०८।

अतिथि-सत्कार सर्वस्वीकृत है। तिरुवल्लुवर के अनुसार गृहस्थ का निर्माण ही अतिथि-सेवा के उद्देश्य से होता है।[१] अतिथि को घर से संतुष्ट किए बिना लौटा देना अनुचित है। अनिच्चम् (शिरीष) का पुष्प सूंघने से मुर्झा जाता है, अतिथि की ओर से मुंह फेर लेने पर उसके हृदय की भी यही दशा होती है।[२] मनुष्य चाहे अमरत्व प्रदान करने वाले अमृत का ही पान क्यों न कर रहा हो, उस समय भी अतिथि का सहर्ष स्वागत करना चाहिए।[३] यथोचित अतिथि-सत्कार के फलस्वरूप निर्धनता और दैन्य से रक्षा होती है।[४] प्रसन्न मुख से अतिथि का सत्कार करने वाले मनुष्य के घर मे लक्ष्मी का सानन्द निवास होता है।[५] ऐसे व्यक्ति को, जो अतिथि को खिलाने के पश्चात शेष बचा पदार्थ ग्रहण करता है, खेत बोने की भी आवश्यकता नहीं।[६] घर आए अतिथि की सेवा करने के उपरान्त आने वाले अतिथि की प्रतीक्षा करने वाला व्यक्ति देवलोक का प्रिय अतिथि बनेगा।[७] अतिथि-सत्कार नामक यज्ञ के परिणामस्वरूप मिलने वाला फल अतिथि द्वारा प्राप्त संतुष्टि पर निर्भर करता है।[८] आतिथ्य यज्ञ के अभाव मे धन-ऐश्वर्य सचित करना व्यर्थ है, वास्तविक लक्ष्य तो अतिथि-सत्कार है।[९] इसके बिना धनी अपने धन के मध्य भी निर्धन है, यह मूर्खतापूर्ण स्थिति है।[१०] कबीर ने अतिथि-सत्कार में सज्जन साधु की सेवा को विशेष महत्त्व दिया है। जिस घर मे साधु की सेवा नहीं होती, उस घर को उन्होंने 'मरहट' सदृश मान कर उसमे निवास करने वालो को 'भूत' माना है।[११] कबीर तो इस जगत् को भी अतिथिगृह मानते हैं और स्वय को 'चारि दिवस के पाहुने',[१२] पर यह एक अन्य दृष्टिकोण है। सत की सेवा का कारण यह है कि वह 'राम' का नाम जपने का मार्ग दर्शाता है। तिरुवल्लुवर और कबीर दोनों कवियों ने अतिथि-सत्कार को दो भिन्न रूपो में समझा है। तिरुवल्लुवर ने इसे परम्परा से स्वीकृत गृहस्थ के धर्म के रूप में ग्रहण किया और कबीर ने इसे

---

१ कुरल ८१।

२. कुरल ९०।

३ कुरल ८२ तुलनीय न वै स्वय तदश्नीयादतिथिं यन्न भोजयेत्।
धन्य यशस्यमायुष्य स्वर्ग्यं वातिथिपूजनम् ॥—मनु० ३।१०६

४ कुरल ८३।

५. कुरल ८४, तुलनीय सुमुख सुप्रसन्नात्मा धीमानतिथिमागतम्।
स्वागतेनासनेनादिभिरन्नाद्येन च पूजयेत्॥—महा०।

६ कुरल ८५, तुलनीय अतो मृष्टतर नान्यत् पूत किञ्चिच्छतक्रतो।
दत्त्वा यस्त्वतिथिभ्यो वै भुङ्क्ते तेनैव नित्यश ॥
—महा० वन० १९३।३४।

७. कुरल ८६।

८ कुरल ८७।

९ कुरल ८८।

१० कुरल ८९।

११ जा घर साध न सेवियहि हरि की सेवा नाहि।
ते घर मरहट सारखे भूत बसहि तिन माहि॥—कबीर ग्रंथावली, पृ० १९४।

१२. वही, पृ० १९५।

साधु-सेवा के परिप्रेक्ष्य में ग्रहण किया। वह साधु संगति को 'बैकुंठ' का आनन्द प्रदान करने वाली मानते हैं।[1]

दान

परोपकार एवं अतिथि-सत्कार के ही समान 'दान' का भी सामूहिक जीवन के लिए विशेष महत्त्व है। वास्तव मे इनकी मूल भावना मे अन्तर नही। भारतीय जीवन में 'दान' धर्म का एक अभिन्न अग है। दयाभाव या त्यागभाव मे प्रेरित होकर दान देना धर्म में स्पष्टत: मान्य है। वैदिक साहित्य एवं धर्म-शास्त्रो मे गृहस्थ के प्रमुख कर्त्तव्य के रूप में दान का उल्लेख हुआ है।

मनु ब्राह्मण,[2] क्षत्रिय[3] एवं वैश्य[4] के कर्मों का उल्लेख करते समय 'दान' का उल्लेख करते हैं। ब्राह्मण के लिए दान देने और लेने का विधान है पर क्षत्रिय एवं वैश्य के लिए दान देने मात्र का उल्लेख है। ब्राह्मण को दान देने के फलस्वरूप मृत्यु उपरान्त स्वर्ग प्राप्ति का भी मनु ने वर्णन किया है।[5] राजा के कर्त्तव्य-कर्मों का निर्देश करते समय मनु ने दान को बहुत महत्त्व दिया है।[6] यहा भी मनु मानते हैं कि मनुष्य सत्पात्र को दिए गए दान के फल को परलोक मे प्राप्त करता है।[7]

तिरुवल्लुवर ने 'ईकै' अर्थात् 'दान' शीर्षक अध्याय मे दान से सम्बद्ध विभिन्न पक्षो पर विचार किया है। दान का अर्थ स्पष्ट कर उसका महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। तिरुवल्लुवर के मत में दान का अर्थ है—निर्धन अथवा अभाव-पीडित को दी गई सहायता।[8] अन्य सब उपहारो मे तो बदले मे कुछ प्राप्त करने की आशा रहती है, पर दान मे यह भाव नही रहता।[9] दान देने से यदि स्वर्ग भी छिनता हो तो भी दान देना उचित है, पर दान लेने से यदि स्वर्ग भी मिलता हो तो भी दान लेना अनुचित है।[10] पीडित, निर्धन, व्यक्ति को मांगने से भी पहले दान देना सदवशीय मनुष्य का लक्षण है।[11] याचित व्यक्ति जब तक याचक को पूर्णत

---

१. कबीर ग्रथावली, पृ० २२३।
२ "दान प्रतिग्रह चैव"—मनु०, १।८९।
३ 'दानमिज्याध्ययनमेव'—मनु०, १।८९।
४. मनु०, १।९०।
५ "धनानि तु यथाशक्ति विप्रेषु प्रतिपादयेत् . स्वर्गं समश्नुते।"—मनु० ११।६।
६. (अ) "धर्मार्थं चैव विप्रेभ्यो दद्याद्भोगान्धनानि च"—मनु०, ७।७९।
(आ) न स्कन्दते न व्यथते न विनश्यति कर्हिचित्।
वरिष्ठमग्निहोत्रेभ्यो ब्राह्मणस्य मुखे हुतम्।—मनु०, ७।८४।
(इ) सममब्राह्मणे दान द्विगुण ब्राह्मणब्रुवे।
प्राधीते शतसाहस्रमनन्त वेदपारगे॥—मनु०, ७।८७।
७. " अल्प वा बहु वा प्रेत्य दानस्य फलमश्नुते।"—मनु०, ७।८६।
८ कुरल २२१।
९. कुरल २२१।
१०. कुरल २२२।
११ कुरल २२३, तुलनीय · कलित्तोहै, ४३।२६-१७, पुरनानूरु, २२।३१-३३,
एव ३।२५-२६, ३७६।१६-१८, परिपाडल् १०।८७-८८,

संतुष्ट नहीं कर लेता, उसे कष्ट होता है।[1] गृहस्थ और तपस्वी के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कवि का कथन है कि तपस्वी बुभुक्षा नियंत्रित करता है पर गृहस्थ दान द्वारा अन्य की क्षुधा का निवारण करता है, अतः गृहस्थ की शक्ति अधिक है।[2] भविष्य के लिए संग्रह करने का श्रेष्ठ मार्ग है—दरिद्र की क्षुधा का निवारण।[3] जो मनुष्य अन्य के साथ बांट कर भोजन करता है उसे दारिद्रय कभी कष्ट नहीं देता।[4] दान से आनन्द की प्राप्ति होती है पर संचय करने वाला निर्दयी समृद्ध उस आनन्द से अपरिचित ही रह जाता है।[5] भिक्षावृत्ति को वल्लुवर प्रोत्साहन नहीं देते, पर बचत के लोभ से अकेले भोजन कर लेना भी अनुचित मानते हैं। उनका कथन है कि 'भिक्षावृत्ति नीच कर्म है पर बचत के लोभ से अतिथियों के बिना ही अकेले भोजन करना उससे भी निम्न है।'[6] उनके मत मे मृत्यु से प्राप्त यंत्रणा सबसे भयंकर है, पर याचक को दान देने मे असमर्थ व्यक्ति के लिए वह यंत्रणा भी मधुर हो जाती है।[7]

कृतज्ञता एव समदृष्टि

अरितल् अर्थात् उपकार[8] को स्वीकार करना, अथवा अपने प्रति किए गए उपकार के लिए कृतज्ञ होना एक श्रेष्ठ मानवीय गुण है। वल्लुवर ने इस प्रसग मे कृतज्ञता के महत्व को स्पष्ट कर, कृतज्ञता की आवश्यकता पर बल दिया है। इसके साथ ही कृतघ्न व्यक्ति को नीच मानते हुए उसके पाप को अक्षम्य बताया है।

जो सहायता बदले मे कुछ प्राप्त करने की भावना से मुक्त होती है उसका मूल्य पृथ्वी और स्वर्ग के उपहार भी नही चुका सकते।[9] आवश्यकता के समय दी गई 'क्षुद्र' सहायता भी सम्पूर्ण विश्व से बढकर है।[10] इस प्रकार की भलाई सागर से अधिक विशाल है,[11] वह चाहे राई के समान ही क्यो न हो, विद्वान् मनुष्य की दृष्टि मे ताडवृक्ष के समान है।[12] कृतज्ञता उपकार की मात्रा पर नही, उपकृत व्यक्ति की गुण-गरिमा पर निर्भर है।[13] निष्कलंक चरित्र व्यक्ति द्वारा प्रदत्त सहायता को विस्मृत मत करो।[14] श्रेष्ठ व्यक्ति आपत्ति मे काम आने वाले

---

१ कुरल २२४।
२. कुरल २२५।
३ कुरल २२६, तुलनीय यो दद्यादपरिक्लिष्टमन्नमध्वनि वर्तते।
आर्तायादृष्टपूर्वाय समृद्धमर्माप्नुयात्॥—महा०।
४ कुरल २२७।
५ कुरल २२८।
६ कुरल २२९।
७. कुरल २३०।
८ कुरल अध्याय ११।
९. कुरल १०१।
१०. कुरल १०२।
११. कुरल १०३।
१२. कुरल १०४।
१३ कुरल १०५।
१४. कुरल १०६।

मित्रों को सातों जन्मों में कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करते हैं।[१] अपकार को तत्क्षण विस्मृत कर देना महानता है।[२] किसी मनुष्य द्वारा किया गया हत्या-समान अपकार उसके द्वारा किए गए एक पूर्व-उपकार की तुलना में क्षम्य हो जाता है।[३] उपकार को भुला देना नीच वृत्ति है। अन्य सभी प्रकार के पापकर्मों से मुक्ति सम्भव है पर कृतघ्न के लिए उद्धार का कोई मार्ग नहीं है।[४]

"नडुवुनिलैमै" शीर्षक से वल्लुवर ने न्यायोचित व्यवहार को धर्म का अग स्वीकार करते हुए पक्षपात के मार्ग से विरत रहने का उपदेश दिया है। धर्म-निष्ठ मार्ग पर चलते हुए मनुष्य को निर्धन ही क्यो न रहना पड़े, उसके लिए यही मार्ग श्रेयस्कर है। विपत्ति एव कष्ट में भी इस समदृष्टि मे बाधा नही पड़नी चाहिए।

वल्लुवर के मन मे मित्र, शत्रु तथा अपरिचित, सभी के साथ निष्पक्ष व्यवहार ही न्यायोचित एव न्यायसगत है।[५] इसके फलस्वरूप न्यायनिष्ठ व्यक्ति की सम्पत्ति नष्ट नही होती।[६] ऐसे मनुष्य के उत्तराधिकारियो को भी सुख एव समृद्धि प्राप्त होती है।[७] अनुचित साधनों से प्राप्त सम्पत्ति से चाहे कितने ही लाभ की आशा क्यो न हो, उसका त्याग कर दो।[८] मनुष्य के धर्म और अधर्म का पता उसकी सतति के चरित्र से चलता है।[९] यदि मनुष्य पक्षपात रहित न्यायपूर्ण मार्ग का अनुसरण करे तो उसकी सतति सत्कर्म मे प्रवृत्त होती है अन्यथा नही। जीवन में सुख और दु ख तो सभी को प्राप्त होते है पर सभी परिस्थितियो मे सतुलित मस्तिष्क बनाए रखना बुद्धिमानो का आभूषण है।[१०] यदि मानव-मन पक्षपात की ओर आकृष्ट होने लगे तो सर्वनाश निकट ही समझना चाहिए।[११] धर्मनिष्ठ व्यक्ति की निर्धनता को बुद्धिमान हेय दृष्टि से नही देखते।[१२] समदृष्टि रखने वाले न्यायनिष्ठ व्यक्ति का मानसिक सतुलन तुला के समान

---

१ कुरल १०७।

२ कुरल १०८।

३ कुरल १०९, तुलनीय पूर्वोपकारी यस्ते स्यादपराधे गरीयसी।
उपकारेण तत्तस्य क्षन्तव्यमपराधिन ॥ —महा०।

४. कुरल ११०, तुलनीय (क) ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा।
निष्कृतिर्विहिता सद्भि कृतघ्ने नास्ति निष्कृति ॥
(ख) कुत कृतघ्नस्य यश कुत स्थान कुत सुखम्।
अश्रद्धेय कृतघ्नो हि कृतघ्ने नास्ति निष्कृति ॥—महा०।

५ कुरल १११।

६ कुरल ११२।

७. कुरल ११३।

८ कुरल ११४।

९ वही।

१० कुरल ११५, तुलनीय य सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठता ॥—गीता, २।५७।
एव शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् य स मे प्रिय।—वही, १२।१७।

११ कुरल ११६।

१२ कुरल ११७।

होता है।[१] वास्तविक समदृष्टि का अर्थ है—मनुष्य के वचन तथा मन मे तनिक भी वक्रता न हो।[२] अन्य व्यक्तियों की वस्तुओं को अपनी वस्तुओं के समान मानकर समबुद्धि से व्यापार करना वणिक् का कर्त्तव्य है।[३] तिरुवल्लुवर की समदृष्टि अथवा 'मध्यस्थिति'[४] का गीता के 'स्थितप्रज्ञ' से पर्याप्त साम्य है। कवि ने सम्पूर्ण मनोगत कामनाओं के त्याग के सदेश मे लौकिक व्यवहार को प्रमुख रखा है, आध्यात्मिक विकास को यहा गौण स्थान मिला है। यहा निष्काम भाव से दु ख और सुख में लिप्त हुए बिना ('दु.खेष्वनुद्विग्नमना ' एवं 'सुखेषु विगतस्पृह·')[५] के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भी लौकिक जीवन की आवश्यकताओ पर कवि की दृष्टि रही है।

क्षमा-भाव

क्षमा करने की शक्ति मानव-समाज मे सद्भाव एव मैत्री-भाव को विकसित करती है। इसी दृष्टि से कवि ने प्रस्तुत विषय पर विचार किया है। धरती इस बात का प्रमाण है कि वह अपने खोदने वालो को भी धारण करती है। इसी भान्ति निन्दा करने वाले व्यक्ति के कटु-वचन सहन कर लेना महान धर्म है।[६] किसी व्यक्ति द्वारा पहुचाई गई हानि को क्षमा कर देना उचित है, पर उसके इस कार्य को भुला देना महानता है।[७] निकृष्टतम निर्धनता अतिथि को खाली हाथ लौटाना है और सर्वोत्तम वीरता है मूर्खों के कार्यों को क्षमा कर देना।[८] श्रेष्ठ मानवीय आचरण की रक्षा के लिए क्षमा की अनिवार्य आवश्यकता है।[९] विद्वत्समाज मे बुराई का बदला बुराई से लेने वालो का आदर नही होता, पर शत्रु को क्षमा कर देने वाला स्वर्ण-तुल्य महत्त्व प्राप्त करता है।[१०] शत्रु को दण्ड देने से प्राप्त आनन्द क्षणिक है जबकि क्षमा से प्राप्त आनन्द प्रलय-काल तक स्थायी है।[११] अपने प्रति अन्याय करने वाले व्यक्ति से दु खित होकर बदला लेने मे धर्महीन कार्य करना उचित नही।[१२] अहकार के कारण कोई तुम पर अत्याचार करे तो उसे क्षमा-भाव से जीतना चाहिए।[१३] जो गृहस्थ मूर्खों द्वारा किए गए अपमान को धैर्य

---

१ कुरल ११८।
२ कुरल ११९।
३ कुरल १२०।
४ तिरुक्कुरल, डा० सु० शकरराजू नायुडू, पृ० ४७।
५ गीता, २।५६।
६ कुरल १५१।
७ कुरल १५२।
८. कुरल १५३।
९ कुरल १५४।
१० कुरल १५५।
११ कुरल १५६।
१२ कुरल १५७।
१३ कुरल १५८, तुलनीय अक्रोधेन जयेत् क्रोधमसाधु साधुना जयेत्।
जयेत् कदर्यं दानेन जयेत् सत्येन चानृतम्॥ —महा०।

से क्षमा कर देता है वह संन्यासी से भी महान है ।[1] व्रत, तप इत्यादि से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है—अपमान-सूचक शब्दों को धैर्यपूर्वक सहन कर क्षमा कर देना ।[2]

तिरुवल्लुवर ने सन्यासी को अपने काव्य मे विशेष स्थान प्रदान किया है पर क्षमा-युक्त गृहस्थ को वे उससे भी श्रेष्ठ मानते हैं । यह इस बात का प्रमाण है कि उन्होंने क्षमा को तप, व्रत इत्यादि से अधिक महत्त्व प्रदान किया है । उनका मत है कि व्यक्ति शत्रु को, अथवा अपराधी को सद्व्यवहार एव प्रेम द्वारा विजित कर सकता है । दण्ड देने से प्राप्त आनन्द बदले की भावना की सतुष्टि-मात्र का आनन्द है, अत क्षणिक् है, क्षमा कर देने से प्राप्त आनन्द व्यक्ति की शक्ति एव हृदय की विशालता का द्योतक होने के कारण स्थायी है । क्षमा करने वाला समाज मे आदर, सम्मान प्राप्त करता है, परिणामत उसके शत्रुओ की सख्या कम होती जाती है । इन तथ्यो के आधार पर सामाजिक शान्ति और पारस्परिक स्नेह के लिए क्षमा का महत्त्व स्वत स्पष्ट है ।

कबीर क्षमा को महान् व्यक्तियो का गुण मानते हैं । उनका मत है 'छिमा बड़ेन को चाहिए, छोटन को उतपात,' और इस मत की पुष्टि के लिए पौराणिक घटना का उल्लेख करते हैं—'कहा बिस्नु को घटि गया जो भृगु मारी लात ।' वल्लुवर के पद मे धरती की सहन शक्ति का उल्लेख हुआ है, कबीर भी धरती एव वन का उदाहरण लेते हुए कहते हैं कि धरती अपना खोदा जाना, वन अपना काटा जाना सहन करते हैं । इसी प्रकार साधु प्रवृत्ति मनुष्य कुटिल वचनों को सहन करता है, क्षमा कर देता है ।[3] क्षमा-धर्म मे प्रवृत्त होने वाले मनुष्य कभी भी संकट प्राप्त नही करते अपितु अक्षय-पद प्राप्त करने मे सफल होते हैं । कबीर ने क्षमा को दया, लोभ, अक्रोध से अधिक महत्त्वपूर्ण माना है । दया के अभाव मे धर्म नही होगा, जहा लोभ होगा वहा पाप भी विद्यमान होगा, और क्रोध तो साक्षात् काल ही है, पर जहा क्षमा है वहा तो प्रभु स्वय विद्यमान हैं ।[4] स्पष्ट है कि दोनो कवियो मे इस विषय मे पूर्ण भाव-साम्य है ।

●

---

१ कुरल १५६ ।

२ कुरल १६० ।

३ खोद खाद धरती सहै, काट कूट बनराई ।
कुटिल बचन साधू सहै, दूजै सहा न जाइ ॥

—कबीर ग्रथावली (पा० ना० ति०), पृ० १५६ ।

४ जहां दया तह धर्म है, जहा लोभ तह पाप ।
जहां क्रोध तह काल है, जहा छिमा तहं आप ॥ वही, पृ० १६० ।

खण्ड 'ख' : धर्म और दर्शन

तत्त्व-ज्ञान

इस नाम-रूपात्मक जगत् को ही सत्य समझने वाले इसके वास्तविक रूप का ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं, वे भौतिक ज्ञान में ही उलझ जाते हैं। कुछ लोग भौतिक पदार्थों के अन्तर्गत तथा इससे भिन्न किसी प्रकार की आधि-दैविक भावना से युक्त हो पूजा-पाठ का मार्ग अपनाते हैं। अनेक विचारक इस नाम-रूपात्मक जगत् के मूल में एक चैतन्य-सत्ता की खोज करते हैं और अनुभव-जन्य ज्ञान के आधार पर अध्यात्म-ज्ञान अथवा तत्त्व-ज्ञान के मार्ग पर अग्रसर होते हैं। माया, अज्ञान, मोह, तृष्णा आदि जीव के नित्य मुक्त-स्वरूप को आच्छादित कर लेते हैं जिसके फलस्वरूप जीव इस अनित्य, नश्वर, नाम-रूपात्मक जगत् को ही सत्य मान लेता है। वह स्वयं को कर्त्ता और भोक्ता मान लेता है फलत दु ख और सुख का भोग करता है। यह मिथ्याज्ञान है। इसके फलस्वरूप प्राप्त दु ख से मुक्ति पाने के मार्ग का विवेचन तत्त्व-ज्ञान के अन्तर्गत है।

कठोपनिषद् मे तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करने के लिए मार्ग का निर्देशन करते हुए कहा गया है—"जो सदा विवेकशील, बुद्धि से युक्त सयत चित्त और पवित्र रहता है, वह उस परम-पद को प्राप्त कर लेता है जहां से पुन जन्म नही होता।[1] श्वेताश्वतरोपनिषद् मे उल्लेख है कि जीवात्मा इस प्रकृति के अधीन असमर्थ हो उसमे बध जाता है और उस परम देव को जानकर सब प्रकार के बन्धनो से मुक्त हो जाता है।[2] "एक ही सत्ता समस्त प्राणियो मे विद्यमान है।"[3] जो धीर पुरुष हृदय-स्थित उस सत्ता को निरन्तर देखते रहते हैं उन्ही को शाश्वत-सुख प्राप्त होता है, अन्य को नही।[4] इस प्रकार सर्वभूतो मे विशुद्ध चेतन-स्वरूप परमतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करने पर व्यक्तिपरक कर्मों और उनके समाजपरक रूप मे कल्मष का अन्त होना स्वाभाविक है।

तिरुवल्लुवर के मत में तत्त्व-ज्ञान का अभिप्राय है—भ्रम से मुक्ति, अज्ञान के पर्दे का हट जाना एव स्पष्ट-दृष्टि।[5] ससार के विभिन्न आकर्षण मनुष्य के मार्ग मे बाधा हैं, वास्तव में

---

१ यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्क सदा शुचि ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥ —कठोपनिषद्, १।३।८।

२ अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपाशै. ॥
—श्वेताश्वतरोपनिषद्, १।८।

३. "एको देव सर्वभूतेषु . . ."—वही, ६।११।

४ तमात्मस्थ येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषा सुख शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ —वही, ६।१२।

५. कुरल ३५२।

बाह्य नामरूपात्मक जगत् एक भ्रम है। जो मनुष्य इसके वास्तविक रूप से परिचय प्राप्त कर लेता है वही तत्त्वज्ञानी है, वही मोक्ष की उपलब्धि कर सकता है। भव-पीडा का कारण है—'अज्ञान' अत अज्ञान को दूर कर 'ज्ञान' प्राप्त कर लेना ही इस पीडा से मुक्ति का मार्ग है।

तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करने के लिए वल्लुवर अध्ययन और आत्मचिन्तन का उल्लेख करते हैं। 'तवम्' शीर्षक से 'तप' इत्यादि का उल्लेख भी हुआ है पर उसके अन्तर्गत भी 'आत्म ज्ञान' को महत्त्व मिला है। कवि के मतानुसार 'अन्य को कष्ट न देना' ही तपस्या है। यज्ञ, व्रत, पूजा इत्यादि किसी प्रकार के मार्ग का उल्लेख नही हुआ है। तत्त्व-प्राप्ति के मार्ग मे अग्रसर होने वाले मनुष्य के लिए प्रेमभाव की आवश्यकता का प्रतिपादन हुआ है। स्नेह को धर्म के मार्ग का सहायक तत्त्व स्वीकार किया गया है। तत्त्वज्ञान के इच्छुक मनुष्य के लिए निष्काम-कर्म करने का विधान है क्योकि कामनायुक्त कर्म बन्धन मे आबद्ध करता है, और कामना ही जीव को निरन्तर जीवन-मरण के चक्र मे डालती है। निष्काम अवस्था ही पवित्र अवस्था है। परम-सत्य की अभिलाषा करने पर निष्काम और अतृष्णा की अवस्था की स्वत उपलब्धि होती है। विश्व के मूल आधार का ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य यदि निर्लिप्त हो जाए तो उसे भावी दु खो और कर्म-बन्धन से मुक्ति मिल जाएगी। काम, क्रोध और भ्रम का नाश होने से समस्त कर्म-फल नष्ट हो जाएगे और मुक्ति की प्राप्ति होगी।[1]

कबीर ने सत्य को तत्त्व-ज्ञान के अर्थ मे ब्रह्म का रूप स्वीकार किया है। वे सत्य को सब प्रकार के तप से श्रेष्ठ मानते हुए सत्य और परमतत्त्व को एक ही मानते हैं।[2] तत्त्वज्ञान की प्राप्ति सत्यमार्ग पर अग्रसर होने पर ही होगी। मन सत्य-युक्त हो तो 'साहिब' निकट ही रहते हैं पर यदि असत्य का आश्रय ग्रहण किया जाए तो दूर हो जाते हैं।[3] कबीर के स्वामी तो 'सत्यज्ञानी' हैं, वे अन्तर्यामी हैं और सबके हृदय की बात समझते हैं।[4] उसको प्राप्त करने के लिए विषयो का त्याग करना पडता है। जिसने 'तत्त्व' जान लिया है उसे माया प्रभावित नही करती।[5] तत्त्वज्ञान रत्न और हीरे के सदृश है, पर 'काम' रूपी चोर उसे चुरा लेता है।[6] इस

---

१. कुरल, अध्याय ३६।

२. साच बरोबरि तप नही, झूठ बरोबरि पाप।
जाके हिरदै साच है, ताके हिरदै आप॥
—कबीर ग्रन्थावली (पा० ना० ति०), पृ० १८७।
तुलनीय—साचे का सुमिरन करो, झूठा दियो जजाल।
साचा साहिब आप है, झूठ कपट सब काल॥
—सतवाणी सग्रह, भाग १, पृ० २०३।

३. साचै मन ते साहिब नेरै, झूठे मन तै भागा॥
—कबीर ग्रन्थावली (पा० ना० ति०), पृ० ११।

४ पिया मोरा मिलिया सत्त गियानी।
सब मैं व्यापक सब की जानै जैसा अतरजामी॥ —वही, पृ० ११।

५ बारबार बरजि बिखया तै लै नर जौ मन तोलै।
जह जह जाइ तही सचु पावै माया तासु न झोलै॥ —वही, पृ० १६।

६. इसु तन मन मद्धे मदन चोर। जिन ग्यान रतनु हरिलीन मोर॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८०।

संसार से मुक्ति पाने इत्यादि के विचार तभी तक हैं जब तक मनुष्य 'तत्त्व' नहीं जानता।[1] इस सत्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिए कबीर का मत है कि यदि कुछ करना ही है तो तत्त्व-युक्त कार्य करो, व्यर्थ के कार्यों में लिप्त न हो अन्यथा बाद में पछताना पड़ेगा और भवसागर के चक्र से मुक्ति प्राप्त नही होगी।[2] ज्ञान-विचार को कबीर इतना महत्त्व देते हैं कि जिसने इसे प्राप्त नहीं किया 'वाकी विधवा कस न भई महतारी।'[3] वास्तव में सम्पूर्ण सत्ता एक ही है, पवन, जल, सब दिशाओं मे व्याप्त ज्योति और सब मनुष्यों एवं जीवों के निर्माण में एक ही शक्ति कार्य कर रही है,[4] सकल घट में एक ही ज्योति व्याप्त है अन्य कोई तत्त्व नहीं है।[5] जो इस तत्त्व को नही जानते वे कष्ट भोगते हैं.[6] अत मनुष्य को तत्त्वज्ञान का निरन्तर जागरूक प्रयास करते रहना चाहिए।

कबीर के मतानुसार ज्ञान-प्राप्ति का प्रथम प्रभाव माया एव भ्रम पर होता है। ज्ञान की आंधी इनके आवरण को समाप्त कर देती है।[7] कबीर सच्चा ज्ञानी उसे मानते हैं जो साधना के द्वारा अपने शुद्ध स्वरूप को पहचान लेता है।[8] सात्त्विक-ज्ञान के विषय में गीता में कहा गया है—'ज्ञानी पुरुष जिस अन्त करण परिणाम द्वारा एक-दूसरे से भिन्न समस्त भूतों में एक अविनाशी और विभागशून्य भाव को देखता है, उस ज्ञान को सात्त्विक समझो।'[9] कबीर का मत इससे बहुत मेल खाता है। उनका मत है—

आपा पर सब एक समान, तब हम पाया पद निरबाण।
कहै कबीर मन्य भया सतोष, मिलै भगवत गया दुख दोष।।[10]

तत्त्व-प्राप्ति होने पर सब दु ख और दोष नष्ट हो जाते हैं और मन को सतोष मिलता है। कबीर जगत् के मूल रूप मे स्थित परमतत्त्व को प्राप्त करने के इस मार्ग मे सशय को बहुत बाधा मानते हैं, सशय मिट जाने पर तत्त्व की प्राप्ति हो जाती है—'कहै कबीर ससा गया मिला सारंग-पानीं।'[11] उस ज्योति को अपने मन में स्थिर कर लेने के पश्चात प्राणी संसार के कष्टों से मुक्त

---

१ तारन तरनु तबै लगि कहिए, जब लगि तत्त न जाना।। —कबीर ग्रथावली, पृ० ८०।

२ जे कुछ करहि सोइ तत सार। फिरि पछितहु न पावहु पार।। वही, पृ० ३७।

३ जिहि कुल पूत न ग्यान विचारी।। वही, पृ० ३७।

४. एकै पवन एक ही पानी एकै जोति समाना।
एकै खाक गढ़े सब भांडै, एकै कोहरा साना।। —वही, पृ० ४५।

५ एकहिं जोति सकल घट व्यापक दूजा तत्त न होई।। —वही, पृ० ६१।

६ जौ तत्त नांऊ न जांनिया गल मे परिया फद।। —वही, पृ० २४२।

७ सतो भाई आई ग्यांन की आधी रे।
भ्रम की टाटी सबै उडाणी माया रहै न बाधी रे।।
—वही, पृ० ९३।

८ कथता बकता सुरता सोई, आप बिचारै सो ग्यानी होई।। —वही, पृ० १०२।

९ सर्वभूतेषु येनैक भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्त विभक्तेषु तज्ज्ञान विद्धि सात्त्विकम्।।—गीता, १८।२०।

१०. कबीर ग्रंथावली, पृ० १०८।

११. कबीर ग्रथावली (पा० ना० ति०), पृ० ६६।

हो जाता है।[1] इस परमतत्त्व की प्राप्ति के पश्चात 'कालकराल निकटि नहिं आवै कांम क्रोध मद लोभ जरै'[2] की उपलब्धि तो स्वत ही हो जाती है, जीव अमर होकर जन्म-चक्र से मुक्त हो जाता है।[3] इस प्रकार तत्त्व-वेत्ता जीवन-मुक्त हो जाता है।[4]

तिरुवल्लुवर और कबीर के 'तत्त्वज्ञान' विषयक कथनो पर विचार करने पर अद्भुत समानता दिखाई देती है। 'सत्य का ज्ञान प्राप्त करना' दोनो के मार्ग का लक्ष्य है। ससार के विषयों के त्याग, निष्काम कर्म और प्रेम द्वारा ही इसकी उपलब्धि सम्भव है। यह सासारिक बधनों से मुक्ति का मार्ग है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए धारणा और मनन के मार्ग को दोनों कवि स्वीकार करते हैं। अनुभव द्वारा ही सत्य की उपलब्धि हो सकती है। कबीर के काव्य के अन्तर्गत इस विषय को विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ है। कबीर-काव्य का एक महत्त्वपूर्ण अश परम-सत्य, परम-तत्त्व, तत्त्व-ज्ञान इत्यादि से सम्बद्ध है। इस सम्बन्ध मे उनका अध्ययन अपेक्षाकृत विस्तृत है। वल्लुवर के इस विषय पर कथन सक्षिप्त एव स्पष्ट हैं, उन्होने इस विषय पर सामान्य दृष्टि से विचार किया है, किसी दार्शनिक पृष्ठभूमि के आधार पर नहीं, परन्तु धर्म एव दर्शन-विषयक सिद्धान्तों को काव्य-सौंदर्य से परिपूर्ण करने मे कवि ने निश्चय ही महान् सफलता प्राप्त की है।[5] विज्ञान-दृष्टि से सचालित इस युग मे इस आध्यात्मिकता की आवश्यकता विद्वान् अब पुन अनुभव कर रहे हैं, इस दृष्टि से 'स्व' का ज्ञान, सत्य-तत्त्व की खोज और भी महत्त्वपूर्ण हो गई है।

ईश्वर

वैदिक ऋषि ने सम्पूर्ण जगत् को एक रूप मे अनुभव किया। ऋग्वेद के नारदीय सूक्त में वर्णित ब्रह्म निर्गुण है। वह सर्वव्याप्त है, उससे ही सब कुछ उत्पन्न हुआ है, उसे न सत् कहा जा सकता है और न असत्। उपनिषद् मे समस्त विश्व की उत्पत्ति, गति, पालन और स्थिति तथा इस समस्त जगत् के भय के कारण को ब्रह्म कहा गया है।[6] यह ब्रह्म सब प्रकार से पूर्ण है, यह जगत् भी पूर्ण है, उस पूर्ण से उत्पन्न हुआ है, पूर्ण से पूर्ण को निकाल देने पर भी पूर्ण ही शेष रहता है।[7] ब्रह्म एक ही है, अन्य नही है।[8] उपनिषद् मे ब्रह्म को निर्गुण, निराकार, अजन्मा, अकर्ता, आदि रूपों में वर्णित किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता मे ब्रह्म के व्यक्त, अव्यक्त तथा

१ जोति माहिं मन असथिर करै। कहै कबीर सो प्रानी तरै ॥—वही, पृ० ७७।

२ वही, पृ० ८५।

३ कहै कबीर सुनौं भाई साधौ अमर होइ कबहू न मरै ॥—वही, पृ० ८५।

४ कबीर काव्य मे दार्शनिक सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन यहा लक्ष्य नही रहा। इसके लिए कबीर व्यक्तित्व, कृतित्व एव सिद्धान्त—डा० सरनामसिंह शर्मा एव कबीर-दर्शन डा० रामजीलाल 'सहायक' इत्यादि ग्रंथ महत्त्वपूर्ण हैं।

५ उलहम्—बाळुम्, डॉ० के० अरुमुहम्।

६ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रत्यन्त्यभिसविशन्ति। तद्वि-जिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति ॥—तै० उप०, ३।१।

७ ॐ पूर्णमद पूर्णमिद पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥—ई० उप०।

८ ब्रह्म एकमेवाद्वितीयम् ॥ छा० उप० ३।२।१ और देखें ई० उप० १, गीता ६।४, १०।३६, १०।४२, २।६४, १६।४६ इत्यादि।

व्यक्ताव्यक्त इत्यादि स्वरूपों का वर्णन है। योग दर्शन अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश इन पांच क्लेशों से, पुण्य एवं पाप कर्मों से, कर्मों से उत्पन्न जाति, आयु तथा भोग रूप फलों से, उनसे उत्पन्न वासनाओं से असंस्पृष्ट, एक विशेष प्रकार के 'पुरुष' को 'ईश्वर' कहता है।[1] योग के ईश्वर 'ऐश्वर्य-सम्पन्न' हैं तथा 'सदैव मुक्त' हैं। यह सर्वज्ञ हैं।[2] अद्वैत दर्शन के अन्तर्गत समस्त अज्ञानो से अविच्छिन्न 'चैतन्य' 'ईश्वर' है।[3] यहां ईश्वर 'सर्वज्ञ' है, 'सर्वेश्वर' है, 'सर्वनियन्ता' है, 'अन्तर्यामी' है एव 'जगत्' का कारण है।

श्रीमद्भागवत मे यही परमात्मा ब्रह्मा, विष्णु, शिव के रूप धारण करता है। "सत्व, रज और तम के तीन गुण परमात्मा की प्रकृति के हैं। इन गुणो से युक्त होने के कारण एक ही परात्पर पुरुष ब्रह्मा, विष्णु और शिव ये तीन सज्ञाए धारण करके उत्पत्ति, स्थिति और लय करता है और सम्पूर्ण मानवो का कल्याण करता है।"[4] कठोपनिषद् मे यही कल्पना है—"जिस प्रकार सम्पूर्ण भुवन मे प्रविष्ट हुआ एक ही अग्नि प्रत्येक रूप के अनुरूप हो गया' ' उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतो का एक ही अन्तरात्मा, प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है और उनसे बाहर भी है।[5] बृहदारण्यक के 'आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविध'[6] के मूल मे भी यही सत्य है। छान्दोग्योपनिषद् मे इसकी व्याख्या इस प्रकार हुई—'वह जो यह अणिमा है एतद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो! वही तू है।'[7], बृहदारण्यक में ब्रह्म के मूर्त और अमूर्त रूपो का भी उल्लेख हुआ है।[8] ऋग्वेद के 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृत दिवि'[9] से विश्व परमात्मा का अल्पांश सिद्ध होता है। गीता में "मैं सबकी उत्पत्ति हू, मुझसे सब होता है"[10] के मूल मे 'विश्वरूप' का विस्तृत विवरण है।[11] ब्रह्म एव ईश्वर के सम्बन्ध में विभिन्न दार्शनिक धारणाओ के विकास-क्रम पर विचार करने से स्पष्ट है कि ब्रह्म और ईश्वर के रूप मे निश्चित भेद है। इस भेद-निरूपण के मूल मे मुख्य धारणा 'परमसत्तातत्व' की है। परन्तु

---

१ भारतीय दर्शन—उमेश मिश्र, पृ० ३४०।

२ वही, पृ० ३४१।

३ वही, पृ० ३५९।

४ सत्व रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तै।
युक्त पर पुरुष एक इहास्य धत्ते।
स्थित्यादयो हरिविरञ्चि हरेति सज्ञा।
श्रेयांसि तत्र खलु सत्वतनोर्नृणां स्यु॥ —श्रीमद्भागवत् १।२।२३

५ अग्निर्यथैको भुवन प्रविष्टो
रूप रूप प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूप रूप प्रतिरूपो बहिश्च॥—कठोपनिषद्, २।२।९, और देखें—२।२।१०।

६ बृहदारण्यक उपनिषद्, १।४।१।

७ स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिद ˘ सर्वंतत्सत्य ˘ स आत्मा तत्वमसि श्वेतकेतो' '॥ ६।८।७।

८ 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च '', बृहदारण्यक २।३।१।

९ ऋग्वेद, १०।९०।

१०. अहं सर्वस्य प्रभवो मत्त सर्वं प्रवर्तते॥ १०।८।

११ अध्याय—११।

प्राय: यह स्थान ब्रह्म के ही साथ सम्बद्ध हुआ है। ब्रह्म अथवा परमसत्ता के उपरान्त 'ईश्वर' का उल्लेख हुआ है। तिरुवल्लुवर ने साधारण रूप से ईश्वर(भगवन्)की वन्दना की है। ईश्वर-विषयक विवेचन से पूर्व तिरुवल्लुवर के मत का उल्लेख समीचीन है।

'कडवुल वाळ्त्तु' अर्थात् 'ईश्वर-वन्दना' अध्याय में तिरुवल्लुवर ईश्वर के स्वरूप एवं उनके कार्यों का उल्लेख करते हुए मानव-मात्र को उसके चरणों का आश्रय ग्रहण करने का उपदेश देते हैं।

ईश्वर सर्वज्ञ[१] तथा निष्काम[२] है। वह सत्य-ज्ञान-रूप[३] है। उसके चरण अद्वितीय हैं।[४] वह सर्वेश है, भक्तों के हृदय-कमल में निवास करने वाला है।[५] उसकी प्राप्ति का मार्ग सत्य का मार्ग है। वह अनुपम है, सृष्टि का आदि कारण (आदि भगवन्) है। वह इन्द्रियों के बन्धन से मुक्त है,[६] परम दयालु है।[७]

ईश्वर के स्वरूप से सम्बद्ध इन विशेषणों के आधार पर यह स्वत स्पष्ट हो जाता है कि कुरल किसी विशिष्ट धर्म अथवा सम्प्रदाय के नियमों से आबद्ध नहीं। परमसत्ता के लिए 'भगवन्' (आदि भगवन्) 'सर्वेश' (पयनेनकोल्) एव 'ईश्वर' इत्यादि शब्दों का प्रयोग हुआ है।

वल्लुवर ने ईश्वर को ससार का आदि कारण माना है। जिस प्रकार वर्णमाला का प्रथम अक्षर 'अ' होता है (अहर मुदल एळुत्तेलाम् आदि भगवन्,) उसी प्रकार विश्व का प्रारम्भ ईश्वर से होता है।[८] वह मानव के हृदय-कमल को प्रफुल्लित करने वाला है।[९] उसके चरणों का आश्रय ग्रहण करने वाला पाप से मुक्त रहेगा।[१०] भौतिक तत्त्व नाशवान् है, उनका सम्बन्ध अनश्वर आत्मा से है, इस सम्बन्ध के फलस्वरूप दु ख उत्पन्न होते हैं, ईश्वर उन दु:खों का नाश करने वाला है।[११] जगत् पापमय है, इस भव-सागर को पार करना अत्यधिक दुष्कर कार्य है, परन्तु भगवान् के चरणों की सहायता से इस कार्य को भी सम्पन्न किया जा सकता है, प्राणी भवसागर पार कर लेता है।[१२]

---

१ कुरल २।
२ कुरल ६।
३ कुरल २।
४ कुरल ७।
५ तुलनीय 'सदा जनाना हृदये सनिविष्ट'—श्वेताश्वतर, ४।१७।
६ कुरल ६।
७ कुरल ८।
८ कुरल १, तुलनीय (क) 'अक्षराणामकारोऽस्मि'। गीता, १०। ३३।
(ख) अक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ।।मुण्डक उप०, १।१।७।
९. कुरल ३।
१० कुरल ७।
११ कुरल ४, तुलनीय (क) मामुपेत्य पुनर्जन्म दु खालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मान संसिद्धि परमा गता ।।—गीता, ८।१५।
१२. कुरल १०।

श्री वैयापुरी पिल्लै 'मलरमिचै एहिनान्', 'अरावली य अन्तानन' एवं 'एन गुनतन्' इत्यादि उक्तियों का सम्बन्ध जैन मतावलम्बियों के 'अर्हत' से मानना अधिक उपयुक्त समझते हैं। परन्तु श्लेष द्वारा 'हृदय कमल में निवास करने वाले' 'धर्म सिन्धु' तथा 'अष्टगुण-सम्पन्न' अर्थ लिए जाएं तो इस मत का आधार ही समाप्त हो जाता है।[१] श्री पिल्लै ने वल्लुवर को जैन-मतावलम्बी मानने का दूसरा कारण दिया है कि कवि की कृति पर प्रारम्भिक टीकाओं के रचयिता जैन थे।[२] यह ठीक है कि जैन मतावलंबियों ने इस पर टीकाएं कीं क्योंकि वल्लुवर के अपरिग्रह, अस्तेय आदि सिद्धान्त उन्हें मान्य थे, पर टीकाकारों में मुकुटमणि परिमेलहर वैष्णव थे। उन्होंने इसकी टीका अपने ढंग से की है। किसी प्रसिद्ध ग्रन्थ को, विशेषतः जहां मतैक्य हो, विशिष्ट-धर्म के अनुसार प्रस्तुत कर देना कोई नवीन बात नहीं। वेदों की व्याख्या, भाष्य, टीका सब दर्शनशास्त्रियों ने अपने-अपने ढंग से करने का प्रयास किया है।

वल्लुवर के मतानुसार उस 'अष्टगुणसम्पन्न' के चरणों की वन्दना न करने वाला सम्वेदनशक्ति से रहित इन्द्रिय के समान है।[३] ईश्वर-प्रशंसा में अनुरक्त व्यक्ति अज्ञान के कारण होने वाले बन्धनों में आबद्ध नहीं होते।[४] उस ज्ञान प्राप्त करने का क्या लाभ यदि परम सत्य-युक्त ईश्वर के चरणों की वन्दना न की ? सच्चा ज्ञान तो यही है कि उस परम ज्ञानमय के चरणों की वन्दना की जाए।[५]

वल्लुवर ने ईश्वर के लिए 'अष्टगुणसम्पन्न' (एनगुनत्तन्) विशेषण का प्रयोग किया है। इस विषय में विभिन्न विद्वानों में मतभेद है। अष्ट-गुणों का अभिप्राय श्री वैयापुरी पिल्लै तथा श्री ए० चक्रवर्ती जैन-दर्शन में स्वीकृत चार घातीय-कर्मों (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एवं अन्तराय) तथा चार अघातीय कर्मों (आयु, नाम, गोत्र एवं वेदनीय) से 'मुक्त' लेते हैं। पर कुछ विद्वान् यथा श्री वी० वी० एस० एय्यर इसका सम्बन्ध शैव-दर्शन द्वारा स्वीकृत अष्टगुणों से जोडते हैं। इन आठ गुणों का सम्बन्ध गीता में वर्णित 'अपरा प्रकृति' के साथ भी जोडा गया है। "पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार इस प्रकार यह मेरी आठ प्रकार के भेदों से युक्त प्रकृति है।"[६] सांख्य द्वारा स्वीकृत पंचतन्मात्र,

---

१ The epithets 'Malar-misai-y-ekinan' (literally he who walked on the lotus flowers), 'aravali-y-antanan' (lit the Brahmin who had the wheel of dharma) and 'engunthan' (lit he of the eight-fold qualities) which Valluvar gives to his God clinch the question once for all, all the three epithets are jointly and severally applicable to 'arhat' alone and to none else

—*History of Tamil Language and Literature*—Prof S.V Pillai, P. 81

२ *Ibid*, p 81

३ कुरल ९, तुलनीय . अणिमा महिमा चैव प्राप्तिः प्राकाम्यमेव च।
ईशित्वं च वशित्वं च यत्र कामावसायिता ॥
एतानष्टगुणान् प्राप्य कथंचिद्योगिना वरा।
ईशा. सर्वस्य लोकस्य देवानप्यतिशेरते ॥—महा०।

४. कुरल ५।

५ कुरल २।

६. भूमिरापोऽनलो वायु खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥—गीता, ७।४।

अहंकार, महत्तत्त्व और अव्यक्त से भी 'अष्टगुणसम्पन्न' का सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। 'सर्वज्ञ' का सम्बन्ध भी गीता के ईश्वर से सयुक्त करने का प्रयास हुआ है। श्रीकृष्ण का कथन है—"अर्जुन! मेरे अतिरिक्त कोई और वस्तु परमार्थत सत्य नही है। जिस प्रकार सूत मे धाने पिरोये रहते हैं, उसी प्रकार मुझमें यह सारा जगत् ओतप्रोत है।"[1] वल्लुवर के सर्वज्ञ की सत्ता इस "सर्वमिद प्रोत" से भिन्न नही। इस मत की पुष्टि वल्लुवर के ईश्वर को 'आदि-कारण' और 'परमसत्यमय' मानने से हो जाती है। इसी प्रसग में गीता मे वर्णन है—"पार्थ! तुम मुझे समस्त भूतो का सनातन बीज जानो। मैं बुद्धिमानो की बुद्धि हू और तेजस्वियो का तेज हू।"[2]

वल्लुवर के 'सर्वज्ञ', 'अष्टगुणसम्पन्न', 'आदि भगवन्', 'सर्वज्ञानमय परमसत्यरूप' ईश्वर का रूप उपनिषद् एवं गीता की परम्परा तथा कवि के युग मे विभिन्न मतो द्वारा मान्य ईश्वर का सम्मिलित रूप प्रतीत होता है। वह रूप वेदान्त और योग मे मान्य ईश्वर से अधिक भिन्न नही है। इस प्रकार तिरुवल्लुवर के ईश्वर निर्गुण और सगुण दोनो से परे हैं। कवि एक ओर उन्हे ससार का आदि-कारण स्वीकार करता है तो दूसरी ओर उसके चरणो की वन्दना द्वारा मुक्ति के मार्ग का उल्लेख करता है। कवि के युग का प्रभाव इसका मूल कारण है। वैष्णव-परम्परा और जैन तथा बौद्ध परम्परा के समन्वय के परिणाम-स्वरूप ईश्वर का स्वरूप ऐसा निर्मित हुआ है जो दोनो को ग्राह्य हो सके। परमदयालु, भक्तो के हृदय कमल मे निवास करने वाला प्रभु वैष्णवो को ग्राह्य है तो ससार का आदिकरण, निष्काम, सत्यज्ञानरूप, सर्वज्ञ (ईश्वर) शक्ति को जैन और बौद्ध मतानुयायियो ने स्वीकार किया।

कबीर के ईश्वर मानव-मात्र को बन्धन-मुक्त करने वाले और ज्ञान-प्रदान करने वाले हैं—

बध तै निबध कीया तोरि मब लगी।
कहै कबीर अगम किया गम रांम रग रगी।।[3]

वह तीनो लोको एवं ब्रह्माण्ड मे सबका स्वामी है[4]। वह सर्वव्यापक है, परम दयालु है।[5] वह स्रष्टा है, मृत्यु को प्राप्त नही होता, आवागमन के बन्धन से मुक्त है—

एक न मुवा जो सिरजनहारा।।
कहै कबीर मुवा नही सोई जाकै आवागवन न होई।।[6]

---

१ मत्त परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिद प्रोत सूत्रे मणिगणा इव।।—गीता, ७।७।

२ बीज मा सर्वभूताना विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।।—गीता, ७।१०।

३. कबीर ग्रथावली (पा० ना० ति०), पृ० ३।

४. तीनि लोक ब्रहमड मैं सबके भरतारा।।—वही, पृ० ४।

५ कहै कबीर मेरे माधवा तू सरब बिआपी।
तुम्ह समसरि नाही दयालु मोहि समसरि पापी।।—वही, पृ० २३।

६ वही, पृ० ६०।

वह अविनाशी है, संसार के नष्ट हो जाने पर भी विद्यमान रहता है।[1] वह अपरम्पार है, ज्ञानरूप से सब स्थानों में विद्यमान है, अद्वितीय है। रमैनी में कबीर का कथन है —

अविगत अपरपार ब्रह्म, ग्यान रूप सब ठांम।
बहु विचार करि देखिया, कोइ न सारिख रांम ॥[2]

वह पूर्ण परमात्मा है, उसकी गति कोई बिरला ही समझ सकता है।

कहै कबीर प्रभु पूरन की गति बूझै बिरला कोई ॥[3]

कबीर का ईश्वर सृष्टि का मूल तत्त्व है। वह देश, काल और अवस्था से परे सकल अतीत है।[4] ससार के सभी पदार्थ परिवर्तनशील हैं, क्षणभगुर हैं; यह शरीर भी नश्वर है, परन्तु ईश्वर नित्य और अविनाशी है।[5] उस परम सत्य को समझना सरल कार्य नहीं, वह 'अविगत' है, उसके क्रियाकलापो का ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है।[6] चार वेद, स्मृति, पुराण तथा व्याकरण ग्रन्थो द्वारा भी उसका 'मर्म' नहीं पहचाना जा सका। कबीर का ईश्वर जन्म और मृत्यु, सुख और दु ख से परे है, 'जाको माई न बाप रे' ऐसा वह 'निरजन' है।[7] वह 'हरि' सर्वान्तिर्यामी है, सर्वव्यापक है।[8] वह आवागमन के चक्र से मुक्त एव सभी तत्त्वों का कर्त्ता है, उसी का ध्यान करने का कबीर संदेश देते हैं।[9]

प्रभु के चरणो की सेवा एव उनके महत्त्व का उल्लेख कबीर में स्थान-स्थान पर है यथा—

चरनन लागि करौं सेवकाई।[10]
चरन कवल चित लाइए रांम नाम गुन गाई।[11]
चरन कमल चितु रह्यौ समाई।[12]

---

१ कहै कबीर सबै जग बिनसै रहै राम अबिनासी रे॥
—कबीर ग्रथावली (पा० ना० ति०), पृ० ६०।

२ वही, पृ० ११८।

३. वही, पृ० ६१।

४ बरन अबरन कथ्यौ नही जाई, सकल अतीत घट रह्यौ समाई॥
—कबीर ग्रथावली, पृ० १७५।

५ पच पदारथ भरिहै खेहा, जरि बरि जायगी कचन देहा।
कहत कबीर सुनहु रे लोई, राम नाम बिन और न कोई ॥—वही, पृ० १५९।

६ अबिगत की गति लखि न जाई।
चारि बेद अरु सुम्रित पुराना। नौ ब्याकरना मरम न जानां॥—वही, पृ० ८९।

७. जनमैं मरै न सकटि आवै नाव निरजन जाको रे।
दास कबीर को ठाकुर ऐसौ जाको माई न बापो रे॥—वही, पृ० ९०।

८ हरि मंहि तनु है तन मंहि हरि है, सरब निरतरि सोइ रे॥—वही, पृ० ९१।

९ आवै न जाइ मरै नहि जनमैं ताका करो बिचारा॥
—कबीर ग्रथावली, (पा० ना० ति०), पृ० ९२।

१०. वही, पृ० ६।

११. वही, पृ० ८।

१२. वही, पृ० १५।

राम चरन जाकै हृदै बसत है, ताको मन क्यों डोलै।[१]
राम चरन मनि भाए रे।[२]
कहै कबीर साहेब का बन्दा पहुंचा हरिपद माही।[३]
तजि बावै दाहिनै बिकारा हरिपद दिढ़ कर गहिए।[४]
...कहै कबीर भजि चरन मुरारि।[५]
कहै कबीर जिनि हरि पद चीन्हा, मलिन प्यड थै निरमल कीन्हां।[६]

इत्यादि अनेक स्थानो पर कवि ने प्रभु-चरणो की महिमा का उल्लेख किया है। ईश्वर के चरणो का आश्रय वही ग्रहण कर सकता है जो काम, क्रोध, लोभ, और मोह का त्याग करे।[७] हरि का भजन करने पर तथा उसके चरणो का आश्रय ग्रहण करने पर भक्तों की कोई भी हानि सम्भव नही।[८] कबीर ने विचार कर सम्पूर्ण विश्व को देखा तो उन्हे ज्ञात हो गया कि इस सागर से पार जाना असम्भव है, अत. वह प्रभु की शरण गये है। यह शरणागति समझ बूझ कर प्राप्त किया गया मार्ग है। कवि ने स्वीकार किया है—

सोचि विचारि सबै जग देखा कहू न ऊबरना।
कहै कबीर सरनाई आयौ भेटि जनम भरना॥

जीवन की नश्वरता एव असारता पर विचार कर समाज को उचित मार्ग की ओर उन्मुख करने का प्रयास दोनो कवि कर रहे है। अत दृष्टि-वैभिन्य के अवसर साधारणत कम ही हैं। कबीर ने चरण-वन्दना तथा शरणागति को स्वीकार कर, भव-सागर पार करने के लिए 'राम' अथवा 'हरि' का सहारा ग्रहण करने का उपदेश दिया है। तिरुवल्लुवर ने भी शरणागति मे आस्था प्रकट की है। वह सर्वेश के चरण-ग्रहण करने का निर्देश करते हैं। कबीर के इस विषय से सम्बद्ध कथन सख्या मे अधिक हैं तथा भाव के प्रस्तुतीकरण मे अधिक स्पष्टता है क्योकि वहा 'ईश्वर' भक्ति एव ज्ञान का विषय है। वल्लुवर का मुख्य उद्देश्य प्रारम्भ के कुछ पद्यो मे ईश्वर-वन्दना कर, विभिन्न विषयो पर व्यवस्थित कथन प्रस्तुत करना है। अत ये पद्य मात्रा मे कम हैं तथा इस विषय पर विस्तृत विचार भी नही हुआ है। यह अन्तर उद्देश्य-वैभिन्य का परिणाम है।

जगत् एव उसकी नश्वरता

'निलैयामै' शीर्षक से तिरुवल्लुवर ने भौतिक पदार्थों की नश्वरता का उल्लेख करते

---

१. कबीर-ग्रथावली (पा० ना० ति०), पृ० १६।
२ वही, पृ० ७७।
३ वही, पृ० ११४।
४ वही, पृ० ११६।
५. कबीर ग्रथावली, पृ० ६७।
६ वही, पृ० १२०।
७. कांम क्रोध लोभ मोह बिबरजित हरि पद चीन्है सोई॥
—कबीर ग्रथावली (पा० ना० ति०), पृ० १६।
८. भगति आउ पर भाव न जइयो हरि के चरन निवासा।
जो जन जानि भजहिं अबिगत कौं तिनका कछु न नासा॥—वही, पृ० ५२।

हुए मनुष्य को धर्म-कार्यों में प्रवृत्त होने का मार्ग दर्शाया है। सत्य, अहिंसा, तप, इत्यादि को जीवन में ग्रहण कर लेने के पश्चात जब मन की शुद्धि हो गई तो शनैः-शनैः इस बात का अनुभव होता है कि यह बाह्य संसार नश्वर है, इसके निवासस्थान स्थायी नहीं। नश्वरता (निलैयामै) का ज्ञान हो जाने पर मनुष्य परम-सत्य (मेय्युणर्तल्) की प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर होता है। परम-सत्य का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर कामनाएं समाप्त हो जाती हैं, ससार से सम्पर्क छूट जाता है। निष्काम (अवाअरुत्तल) हो जाने की स्थिति ही मुक्ति है, यह दु ख की आत्यन्तिक निवृत्ति की स्थिति है। तिरुवल्लुवर का विचार है कि ससार के समस्त पदार्थ नश्वर हैं परन्तु मनुष्य भ्रमवश उसे अनश्वर मान लेता है।[1] भौतिक समृद्धि नाटक देखने के लिए रगभूमि में आने वाले जनसमूह के सदृश है। नाटक के पश्चात दर्शकों का विशाल समूह जिस प्रकार अति-शीघ्र रगभूमि से चला जाता है, वैसे ही लौकिक पदार्थ भी नष्ट हो जाते हैं।[2] अत मनुष्य को जैसे ही धन प्राप्त हो उसे अनश्वर धर्म-कार्य तुरन्त ही कर लेने चाहिए। समय आरे के समान जीवन को धीरे-धीरे काट रहा है अत पूर्व इसके कि अतिम हिचकी आए, वाणी बन्द हो जाए, मनुष्य को सत्यकर्म मे प्रवृत्त होना चाहिए।[4] इस विश्व की महिमा ही यह है कि जो कल था वह आज नही है।[5] मूर्ख मनुष्य इसको न समझ अनेकानेक योजनाए बनाता है।[6] आत्मा और शरीर का सम्बन्ध अस्थायी है। पख निकलने पर पक्षी अण्डे के खोल को त्याग देता है, इसी प्रकार आत्मा शरीर का बन्धन त्याग देता है।[7] मृत्यु का अर्थ नाश नहीं है, यह तो एक गहरी निद्रा के सदृश है, पुनर्जन्म निद्रा से जागने के समान है।[8] वल्लुवर का विचार है कि आत्मा को सम्भवत निश्चित आवास प्राप्त नही हुआ, इसीलिए वह शरीर मे अस्थायी निवास करता है।[9]

धर्म के मार्ग पर अग्रसर होने का उपदेश देते हुए वल्लुवर विश्व की नश्वरता, एवं असारता पर विशेष बल देते हैं। वे मनुष्य को इस विश्व की अस्थिरता एव नश्वरता का परिचय देकर चिरस्थायी, अनश्वर धर्म-कार्य के लिए प्रेरित करते हैं।

यह ससार नश्वर है, अन्य सब पदार्थ नश्वर हैं, इस भावना से सम्बद्ध कबीर के अनेक कथन उपलब्ध हैं। वे अन्य विषयों की अपेक्षा विश्व की अस्थिरता एवं 'काल' की सबलता पर अधिक बल देते हैं। उनका मत है कि यह शरीर कच्चे घड़े के समान है, किसी भी समय फूट सकता है।[10] ससार सेंवल फूल के सदृश है, बाहर के व्यवहार और झूठे रग देख मनुष्य को

---

१ कुरल ३३१।
२. कुरल ३३२।
३. कुरल ३३३।
४. कुरल ३३४।
५. कुरल ३३५।
६ कुरल ३३६।
७. कुरल ३३८।
८. कुरल ३३९।
९. कुरल ३४०।
१०. यहु तन काचा कुभ है लिया फिरै था साथि।
ढबका लागा फुटि गया कछू न आया हाथि॥
—कबीर ग्रथावली, (पा० ना० ति०), पृ० १९३।

पथभ्रष्ट नहीं होना चाहिए।[१] काल का चक्र चल रहा है, चक्की के समान सब को पीस रहा है, कोई भी इससे बच नहीं सकता।[२] इस त्रिभुवन में देह धारण करने वाला कोई भी स्थिर नहीं रहा,[३] सभी चार दिन अपनी नौबत बजाकर चले जाते हैं।[४] यहा कोई भी अपना नहीं, रात्रि के स्वप्न के समान यह जीवन नष्ट हो जाता है।[५] यह तो मेला है, इसमें स्थैर्य का अभाव है।[६]

जहां सब कुछ 'मृत' होना है वह तो मुर्दों का गांव ही कहलाएगा। यहा कोई भी सदा जीवित शेष नहीं रहा। पीर, पैगम्बर, योगी, राजा, प्रजा, वैद्य, रोगी, चन्द्र, सूर्य, धरती, आकाश सब नष्ट हो जाते हैं।[७] यह सब जानते हुए भी मनुष्य इसके साथ मोह बनाए हुए है। अन्त में उसे कुछ भी प्राप्त नहीं होता,[८] कोई उसका नाम भी नही लेता।[९] मृत्यु तो सिरहाने खडी है, पर मनुष्य निश्चिन्त सो रहा है।[१०] इसकी दशा पानी के बुलबुले अथवा रात्रि के तारों के समान है। पानी के बुलबुले का अस्तित्व क्षणिक है, वे पानी मे ही समा जाएगे, और तारे तो प्रभात होने के साथ ही छिप जाएगे।[११] काल का आक्रमण अचानक होता है जैसे बाज तीतर पर आक्रमण कर उसे नष्ट कर देता है।[१२] नश्वरता के विषय मे कबीर-काव्य मे प्रचुर मात्रा मे

---

१. ऐसा यहु ससार है जैसा सैंबल फूल।
दिन दस के ब्यौहार हैं झूठै रगि न भूल ॥—कबीर ग्रथावली, (पा० ना० ति०) पृ० १९२।

२. चाकी चलती देखि के, दिया कबीरा रोइ।
दोइ पट भीतर आइकै, सालिम गया न कोइ ॥—वही, पृ० १९८।

३. जिन जिन देह धरी त्रिभुवन मैं थिर न रहा है कोई ॥—वही, पृ० ९१।

४ चारि दिन अपनी नौबति चले बजाइ।
उतानै खटिया गडिले मटिया सग न कछु लै जाइ ॥—वही, पृ० ५८।

५. यहु जियरा चलि जाइगा जस रैनि का सपना रे ॥—वही, पृ० ५६।

६. यहु जु दुनिया सिहरु मेला कोइ दस्तगीरी नाहिं ॥—वही, पृ० ५१।

७. सतौ ई मुरदन कै गाउ।
तन धरि कोइ रहन न पावै काकौ लीजै नाउ ॥
पीर मुवा पैगबर मूवा मूवा जिंदा जोगी।
राजा मूवा परजा मूवा मूवा बैद और रोगी ॥
चदौ मरिहै सुरजौ मरिहै मरिहै धरनि अकासा।
चौदह भुवन चौधरी मरिहै काकी धरिअै आसा ॥—वही, पृ० ६१।

८ लाज न मरहु कहहु घरु मेरा।
अत की बार नही कछु तेरा ॥—वही, पृ० ४६।

९. मरैगे मरि जाहिंगे, कोइ न लेगा नाऊ ॥—वही, पृ० १९४।

१० काल सिरहानै है खडा, जागि पियारे मित।
रांम सनेही बाहिरा, तू क्यो सोवै निंचित ॥—वही, पृ० १८५।

११ पानी केरा बुदबुदा अस मानुस की जाति।
देखत ही छिपि जाइगे ज्यौ तारे परभाति ॥—वही, पृ० २००।

१२. काल अचानक मारिहै ज्यौं तीतर कौं बाज ॥—वही, पृ० १८५।

उक्तियां उपलब्ध हैं।[1] इस नश्वरता से परिचित होते हुए भी हम झूठे सुख को सुख मान बैठे हैं।[2] इस धन को, जिसे न कोई लाया है, न कोई ले जाएगा, हम बहुत महत्त्व देते हैं। कबीर का संदेश है कि मनुष्य जन्म बड़े भाग्य से प्राप्त होता है।[3] अत. मनुष्य को इसका लाभ उठाकर सत्य मार्ग का आश्रय ग्रहण करना चाहिए। यदि वह ऐसा नहीं करता तो भवचक्र में फंस कर निरन्तर कष्ट पाएगा, अत 'राम' का स्मरण कर 'काल' के क्रूर पजों से छूटने का प्रयास करना होगा।[4]

कर्म-सिद्धात

धर्म-खण्ड (अरत्तुपाल) के एक अलग खण्ड 'ऊळियल्' के अन्तर्गत वल्लुवर ने केवल एक विषय 'ऊळ्' को विचार का विषय बनाया है। 'ऊळ्' शब्द का अर्थ पूर्व-कर्म से लिया गया है। इसका अनुवाद 'भाग्य', 'दैव' इत्यादि शब्दों मे किया गया है। इस विषय में

---

१ (क) कबीर गरब न कीजिअे, काल गहै कर केस।
ना जानौं कह मारिहै, कै घर कै परदेस॥
—कबीर ग्रथावली (ना० प्रा० सि०), पृ० १११।

(ख) कबीर पाच पखेरुवा, राखै पोख लगाइ।
एक जु आयौ पारधी, लै गयो सभी उडाइ॥—वही, पृ० २०२।

(ग) सब जग सूता नीद भरि, मोहि न आवै नीद।
काल खडा सिर ऊपरै, ज्यौं तोरणि आया बीद॥—वही, पृ० २०१।

(घ) काल अहेरी साझ सकारा। सावज ससा सकल ससारा॥—वही, पृ० १२१।

(ङ) मृत्युकाल किनहू नहि देखा। दुख कौं सुख करि सबहि लेखा॥
सुखकर मूल न चीन्हसि अभागी, चीन्हे बिना रहै दुख लागी॥—वही, पृ० १२४।

(च) कोटि जतन करि यहु तन राखहु अत अवस्था धूरी।
बालू के घरवा महि बैसे चेतत नाहि अयाना॥—वही, पृ० ४१।

(छ) ना कोऊ लै आयो यहु धन ना कोऊ लै जात।
रावन हू तै अधिक छत्रपति खिन महि गए बिलात॥—वही, पृ० ४३।

(ज) मात पिता बनिता सुत सपति अति न चले सगात॥—वही, पृ० ४४।

(झ) जब जम आइ केस गहि पटकै ता दिन कछु न बसाइगा॥

. .

धरमराज जब लेखा मागै क्या मुख लै कै जाइगा॥—वही।

(ञ) दिना चारि के सुरग फूल। तेहि लखि भवरा रह्यौ भूल॥—वही, पृ० ४५।

इसके अतिरिक्त देखें—वही, पृ० ५८, पद सख्या ९९,१००। वही, पृ० ५९, पद सख्या १०१,१०२। वही, पृ० ६०, पद सख्या १०३,१०४। वही, पृ० ६२, पद सख्या १०६,१०७। वही, पृ० ६६, पद सख्या ११३। वही, पृ० २६, पद सख्या ४४। वही, पृ० ३६, पद सख्या २२। वही, पृ० ४०, पद सख्या ३८ इत्यादि।

२ मानुख जनमहि पाइ कै चूकै अब की घात।
जाइ परै भव चक्र मैं सहै घनेरी लात॥—वही, पृ० १८५।

३. वही।

४ सुमिरन करहु राम का काल गहै कर केस॥—वही पृ० १२४।

श्री वी० वी० एस० ऐय्यर का मत है कि ऊळ् से अभिप्राय मनुष्य के संचित कर्मों की उस शक्ति से है जिसका अभी व्यय नहीं हुआ। यह एक शक्तिशाली तत्त्व है और इसका प्रभाव जन्म से ही मनुष्य के चरित्र और प्रवृत्तियों पर होता है।[१] इस अध्याय की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए श्री ऐय्यर का कथन है कि कवि जिन नियमों का प्रतिपादन कर रहा है उनका पालन करवाने के लिए उसके पास कोई मार्ग नही है। कर्म के मार्ग पर मनुष्यों को अग्रसर करने के लिए किसी न किसी बन्धन की आवश्यकता का अनुभव कवि ने किया। यदि लोग यह समझ लें कि पाप कर्म करने पर उनका बोझ उनके सिर पर चढ़ेगा और उसका फल अगले जन्मों मे भी दु ख और कष्टो के रूप मे प्राप्त होगा तथा पुण्य-कर्म एक कोष के समान है जो अनेक जन्मो तक आनन्द की प्राप्ति मे सहायक होगे तो कवि के जनता के धर्ममार्ग पर अग्रसर करने के उद्देश्य की पूर्ति अत्यन्त सरल हो जाती है। सम्भव है कि कर्म-फल-सिद्धान्त की मान्यता के साथ-साथ इसे विशेष महत्त्व प्रदान करने का यह भी एक कारण रहा हो।[२]

'मनुष्य का भाग्य अच्छा हो तो वह प्रयत्न कर धन-सचय करता है। यदि भाग्य विपरीत हो तो वह आलस्यवश धन-नाश करता है।'[३] वल्लुवर इस प्रकार कर्मफल का सम्बन्ध सामाजिक स्थिति के साथ करते हैं। भाग्य यदि विपरीत है तो बुद्धि मन्द हो जाएगी, पर यदि भाग्य पक्ष मे है तो वही बुद्धि विशाल एव निर्मल बनेगी।[४] भाग्य के अनुकूल न होने पर गहन शास्त्रीय अध्ययन करने पर भी मनुष्य उचित मार्ग का अनुसरण न कर पाएगा।[५] भाग्य के कारण विश्व मे दो प्रकार की प्रवृत्ति है एक तो धन-सम्पत्ति की और दूसरी इसके विपरीत उचित ज्ञान-प्राप्ति की।[६] मनुष्य अपने कर्मों के वश हो धन-सग्रह मे प्रवृत्त होता है और असत्य को सत्य तथा सत्य को असत्य मान बैठता है।[७] जो भाग्य मे नही है, उसकी रक्षा करने पर भी वह नही रहेगा, पर जो भाग्य मे है उसका त्याग कर देने पर भी वह मनुष्य के पास ही रहेगा।[८] मनुष्य चाहे अतुल धन-वैभव का सग्रह कर ले, उसका उपभोग वह भाग्यानुसार ही प्राप्त करेगा।[९] दु खभोग कर्मफल के अधीन है अन्यथा सभी दरिद्र मनुष्य कामना का त्याग कर संन्यासी हो जाए।[१०] मनुष्य को जब भाग्यवश सुख प्राप्त होता है तो वह प्रसन्न होता है तब

---

१ The idea underlying the word is the accumulated unspent force of man's actions in all his past lives It is this energy waiting to materialise itself in the new life of the soul that our philosophical writers call by the name of 'Karma' or Uj

— *The Kural*, V V S Aiyar, p XVIII

२. कुरल १६।
३. कुरल ३७१।
४. कुरल ३७२।
५. कुरल ३७३।
६ कुरल ३७४।
७. कुरल ३७५।
८. कुरल ३७६।
९. कुरल ३७७।
१०. कुरल ३७८।

दुःख प्राप्त होने पर दुःखी क्यों होता है ?[१] भाग्य से बढ़कर कोई शक्ति नहीं, ज्यों ही कोई भाग्य को नीचा दिखाने का प्रयास करता है, भाग्य अपने प्रभाव द्वारा उसे असफल कर देता है।[२]

कबीर की कर्म सिद्धान्त में आस्था है। कर्मों को 'शुभ' एव 'अशुभ' रूप में स्वीकार किया है । 'करम करीमां लिष रह्या अब कछू लिख्या न जाइ'[३] के मूल में इसी भाग्य अथवा कर्म-फल-सिद्धान्त की स्वीकृति है ।कबीर का कथन है कि कर्मों का फल तो अनिवार्य रूप से भोगना पड़ेगा।[४] 'कबीर ने जगत् में रहते हुए ऐसे परम सत को श्रेष्ठ कहा है जो निष्काम कर्म करते हुए, जगत्-व्यवहारो से जूझते हुए, जगत् के विकारो से लोहा लेते हुए, भगवद्भक्ति मे मन को लगाता है।'[५] कबीर अपने इष्ट का भरोसा करते हुए निश्चिन्त होना जानते हैं और और कहते हैं—

कबीर का तू चितबै, का तेरा च्यत्या होइ।
अण च्यत्या हरिजी करै, जो तोहि च्यत न होइ ॥[६]

---

१. कुरल ३७६ ।

२. कुरल ३७० ।

३. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ४५ ।

४. (क) मासा घटै न तिल बधै, जो कोटिक करै उपाइ ।—वही, पृ० ४५।
   (ख) जाको जेता निरमया, ताकौं तेता होइ ।
   रती घटै न तिल बधै, जो सिर कूटै कोइ ॥—वही, पृ० ४५।
   (ग) च्यंता न करि अच्यत रहु, साइ है सम्रथ ॥—वही ।

५ कबीर दर्शन, डा० रामजीलाल 'सहायक' पृ० ३९७ ।

६ कबीर ग्रंथावली, पृ० ४५।

३

तिरुवल्लुवर एवं कबीर के काव्य में अर्थ (पोरुल्) का तुलनात्मक अध्ययन

भारतीय परम्परा मे 'अर्थ', 'अर्थ' (पोरुल्) का अर्थ, 'अर्थ' का सक्षिप्त विकास, तिरुक्कुरल् मे पोरुल्-खण्ड का वर्ण्य-विषय, वर्गीकरण।

(क) **प्रशासन अथवा अधिकारी-वर्ग विषयक विवेचन** . राज्य, राजा, अमात्य, दूत एव गुप्तचर, कोष, सैन्य, मैत्री, दुर्ग (राजधानी), निष्कर्ष।

(ख) **वर्गीकरण के आधार का स्पष्टीकरण** · (अ) **मानव के विकास की प्रक्रिया** (शिक्षा, अशिक्षा, श्रवण-ज्ञान, बुद्धिमत्ता, ज्ञान का विस्तार, सभा)। (आ) **सामाजिक सम्बन्धों के विभिन्न रूप** : सज्जन-मैत्री, कुसग-त्याग, विश्वासपात्र का चुनाव, बधुओ के प्रति सद्भाव, सद्व्यवहार। (इ) **कर्म की विधि** : बोधयुक्त कर्म, शक्ति, काल एव स्थल का बोध। (ई) **सामाजिक जीवन का दुर्बल पक्ष** : १. मानवस्वभावगत दुर्बलता (मूढता, अहंकार, नीचता) २ सामाजिक सगठन के फलस्वरूप उत्पन्न दोष (सपत्ति संग्रह, दरिद्रता, याचना)। निष्कर्ष।

भारतीय परम्परा मे अर्थ

प्राचीन भारतीय जीवन के विषय में विद्वानों की प्राय धारणा रही है कि आत्मिक विकास और आध्यात्म-आधृत धार्मिक जीवन को अत्यधिक महत्त्व दिये जाने के फलस्वरूप इस देश का अर्थ-पक्ष अपेक्षाकृत पिछड़ा रहा। इस प्रकार का मत मैक्समूलर, श्री अरविन्द, महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सर्वपल्ली राधाकृष्णन इत्यादि विद्वानों ने अभिव्यक्त किया है।[1] इस प्रकार के कथनों मे इस महत्त्वपूर्ण तथ्य का उल्लेख है कि भारतीय जीवन में धर्म, आस्था, आत्मिक विकास इत्यादि को जीवन के आदर्श रूप में सदा प्रमुख स्थान प्राप्त था, पर यह कहना कि इस कारण जीवन को नकारा गया, जीवन से पलायन किया गया, सत्य पर आधृत नहीं। आध्यात्मिकता जीवन-दृष्टि थी, जीवनादर्श था, जीवन के कर्मों को नियन्त्रित करने की एक पद्धति थी। आध्यात्मिकता के ही साथ सजोयी हुई अर्थ और काम को महत्त्व प्रदान करने वाली विचारधारा का प्रवाह निरन्तर बना रहा।

हमारी सास्कृतिक परम्परा में 'अर्थ' और 'काम' धर्म पर आधृत माने गये हैं। 'अर्थ' जीवन की वास्तविकता है, जीवन का यथार्थ है, और इसी कारण जीवन का कठोर पक्ष है। 'काम' इच्छा से अनुप्रेरित है, यह जीवन का मधुर, कोमल पक्ष है। दूसरे शब्दो मे अर्थ और काम जीवन का श्रेय है, इसको धर्म नियमित, नियन्त्रित एव सचालित करता है, धर्म प्रेय है, जीवन का आधार-तत्त्व है। रघुवश मे राजा के गुणो का वर्णन करते समय यही सत्य कवि के समक्ष रहा है।[2]

धर्म और अर्थ भारतीय विचारधारा मे दो साथ चलने वाली धाराएं हैं। यह भारतीय विचारधारा के दो कार्य-स्थल हैं। अर्थ जीवन की व्यावहारिक आवश्यकताओ एव धर्म जीवन के आदर्श का आधार है। वास्तविक जीवन मे दोनो अन्योन्याश्रित हैं, परस्पर सम्बद्ध हैं एव आर्थिक विकास तथा सामाजिक उन्नति के लिए इनका कार्य-क्षेत्र भिन्न दिखाई देने पर भी मूलत एक ही है। भारतीय जीवन में धर्म, अर्थ, काम एव मोक्ष का उल्लेख प्राय साथ ही साथ हुआ है। जीवन-यात्रा में इनके महत्त्व की स्वीकृति निरन्तर रही है। प्रस्तुत अध्याय का विषय 'अर्थ' का अध्ययन करना है।

जीवन में धन-सम्पदा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। धर्म की प्राप्ति एवं धार्मिक कृत्यो की पूर्ति के लिए धन का आधार अपेक्षित है। सामाजिक सुख-प्राप्ति के दो रूप हैं—व्यष्टिगत एव समष्टिगत। इन दोनों की उपलब्धि अर्थ की प्राप्ति एव उसके सम्यक् उपयोग आदि से सम्बद्ध है। अर्थ के अभाव मे न तो व्यक्ति-जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकती है और न ही समाज समृद्ध हो सकता है।

---

१ *Indian Thought Through the Ages* p 49-50

२. अप्यर्थकामौ तस्यास्तां धर्म एव मनीषिण'॥—रघुवंश, कालिदास १।२५।

अर्थ—मोनियर विलियम्ज के शब्दकोश में अर्थ को 'उद्देश्य', 'लक्ष्य' का पर्याय माना गया है। 'सार', 'धन-सम्पदा' इत्यादि का सकेत भी इस शब्द से मिलता है।[१] अर्थ के अनेकानेक अर्थों मे सांसारिक वैभव की प्राप्ति का सकेत निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है।[२] हेनरिच ज़िमर के अनुसार अर्थ से साधारणत समृद्धि, सासारिक वैभव, सुविधा, लाभ, धन, व्यापारिक जीवन का परिणाम, व्यापारिक विषयवस्तु तथा कार्य, क्रिया, एव मूल्य का तात्पर्य ग्रहण किया जाता है।[३]

'अर्थ' का विकास—वेद के अनेक मन्त्रो मे अर्थ (धन) उपलब्ध करने की कामनाए प्रकट की गई हैं। हम धन के अधिपति बनें, ऐश्वर्य प्राप्ति के लिए प्रभु हमें सत्पथ पर ले जायें, जो रत्नो का धारण करने वाला, धनवान तथा दानी है, मैं त्यागी पुरुष को धन देता हू। जो द्वेषों से पार हो गया, धन उसी के पास जाता है। जो ऋत के पथ का अनुसरण करते हैं, उनके पास घी की नहरें बहती रहती हैं। देव मुझे धन दें, मुझे अन्न और धन के बीच मे रखें, वह आशीर्वाद के साथ धन की भी इच्छा करता है, जो व्यक्ति उद्योगशील है, पीछे पैर नही रखता, वह वैयक्तिक एव सामूहिक धनो पर विजय प्राप्त करता है, सतति तथा धन से तृप्त होते हुए तुम शुद्ध और पवित्र हो जाओ। तुम याज्ञिक जीवन व्यतीत करते हुए, जो धन मिल जाए, उसको बहुत समझ कर प्रसन्न रहो।' इत्यादि अनेकानेक उक्तिया धन की वाछनीयता एव आवश्यकता के साथ ही धर्म-आवृत दृष्टिकोण को भी स्पष्ट करती हैं।[४]

ऋग्वेद के अनुसार पुरुषार्थ के सन्दर्भ मे 'अर्थ' का तात्पर्य उन पार्थिव वस्तुओ से है जिनकी आवश्यकता गृहस्थ चलाने तथा तत्सम्बन्धी धार्मिक कृत्यो का सम्पादन करने मे पडती है। पी० एच० प्रभू का कथन है कि पुरुषार्थ के सन्दर्भ मे 'अर्थ' से उन सभी उपकरणो का तात्पर्य लिया जा सकता है जो सासारिक समृद्धि को प्राप्त करने के लिये आवश्यक हैं। धन और सत्ता सासारिक समृद्धि के प्रतीक हैं।[५] महाभारतकार ने 'अर्थ' से धर्म, काम और स्वर्ग

---

१ अर्थ – aim, purpose, generally named with Kama and Dharma – Trivarga, substance, wealth, prosperity, opulence, money
A Sanskrit English Dictionary, Sir Monier Williams, p 90

२. *Sanskrit English Dictionary*, Vol I, P K Gode and C G Karve, p. 224.

३. The word 'artha' thus connotes "the attainment of riches and worldly prosperity, advantage, profit, wealth" also "result", in commercial life "business matter, business affair, work price" ...
—*Philosophies of India*, Heinrich Zimmer, p 35

४ 'अग्ने नय सुपथा राये', 'वय स्याम पतयो रयीणाम्', 'यो रत्नधा वसुविद्य सुदत्र', 'अहं दधामि द्रविण हविष्मते', 'येन विश्वा परिद्विषो वृणक्ति विन्दते वसु', 'घृतस्य कुल्या उप ऋतस्य पथ्या अनु', 'मयि देवा द्रविणमायजन्ताम्', 'इषे च राये धेहि', 'स आशिषा द्रविणमिच्छमान', 'अप्रतीतो जयति सन्धनानि। प्रति जन्यानि उतवासजन्या', 'आप्यायमाना प्रजया धनेन शुद्धा पूता भवत यज्ञियास।', 'वित्तेरमस्व बहुमन्यमान', इत्यादि। डा० मुशीराम शर्मा—वैदिक सस्कृति और सभ्यता, पृ० १८०।

५. *Hindu Social Organisation*, p 79-80.

की सिद्धि मानी है। लोक-जीवन की यात्रा मे धन का महत्त्व सर्वज्ञात है।[1]

कौटिल्य का अभिमत है कि धर्म, अर्थ और काम इन तीनों में अर्थ प्रधान है, धर्म और काम अर्थ पर निर्भर हैं।[2] शासन का कर्त्तव्य है कि नीति द्वारा अप्राप्त वस्तुओ को प्राप्त करवाए (उत्पादन), प्राप्त वस्तुओ की रक्षा करे, रक्षित वस्तुओं की वृद्धि और संवर्द्धित वस्तुओं को समुचित कार्यों मे लगाए (वितरण)।[3] कौटिल्य मनुष्यों से युक्त भूमि को भी 'अर्थ' के अन्तर्गत समाहित करते हैं। इस प्रकार की भूमि को प्राप्त करने और उसकी रक्षा करने वाले उपायों का निरूपण करने वाला शास्त्र अर्थशास्त्र कहलाता है।[4] अर्थ के इस विस्तृत अर्थ मे धन-उत्पादन, वितरण एव उपभोग सम्बन्धी कार्यों का विवेचन, तथा मनुष्यो से युक्त भूमि की सुव्यवस्था के सदर्भ से शासन-व्यवस्था का विवेचन भी इसके अन्तर्गत आ जाता है।

वर्ण्य-विषय

पोरुल् (अर्थ) के अन्तर्गत वल्लुवर ने जिन विषयो को काव्य का आधार बनाया है उनकी सूची इस प्रकार है—

(१) नरेश के गुण कर्म (इरैमाट्चि)
(२) शिक्षा (कल्वि)
(३) अशिक्षा (कल्लामै)
(४) श्रवण से प्राप्त ज्ञान (केल्वि)
(५) बुद्धिमत्ता (अरिवुडैमै)
(६) दोष-निरोध (कुट्रम् कडिदल्)
(७) श्रेष्ठो का साहचर्य (पेरियारै तुणैक्कोडल्)
(८) कुसग का त्याग (सिट्रिनम् चेरामै)
(९) बोधयुक्त कर्म (तेरिन्दु सेयल्वहै)
(१०) शक्ति का बोध (वलियरिदल्)
(११) समय का बोध (कालमरिदल्)
(१२) स्थल का बोध (इडनरिदल्)
(१३) विचारपूर्ण चुनाव (तेरिन्दु तेलिदल्)
(१४) समझ कर कर्म करना (तेरिन्दु विनैयाडल्)
(१५) बन्धुओं की उपेक्षा न करना (सूट्रम् तळाल्)
(१६) अविस्मरण (पोच्चावामै)

---

१ अर्थाद् धर्मश्च कामश्च स्वर्गश्चैव नराधिप।
प्राणयात्रापि लोकस्य विना ह्यर्थं न सिद्ध्यति॥—महा॰ शान्ति॰ ८।१७।

२. अर्थ एव प्रधान इति कौटिल्य ; अर्थ मूलौ हि धर्मकामाविति।
—कौटिलीय-अर्थशास्त्रम्, अनु॰ वाचस्पति गैरोला, १।३।६।२।

३. अलब्धलाभार्था, लब्धपरिरक्षणी, रक्षितविवर्धनी, वृद्धस्य तीर्थेषु प्रतिपादनी च।
—वही, १।१।३।१।

४ मनुष्याणां वृत्तिरर्थ, मनुष्यवती भूमिरित्यर्थः, तस्या पृथिव्या लाभ-पालनोपाय शास्त्रमर्थशास्त्रमिति॥—वही, १५।१८०।१।१।

(१७) सुशासन (सेंगोन्मै)
(१८) कुशासन (कोड्डुगोन्मै)
(१९) भयकम्पित न करना (वेरुवन्द सेय्यामै)
(२०) दयार्द्रता (कण्णोट्टम्)
(२१) गुप्तचर (ओट्राडल)
(२२) उत्साह (ऊक्कम् उडैमै)
(२३) निरालस्य (मडियिनमै)
(२४) कार्य-कुशलता (आल्विनै उडैमै)
(२५) दुःख में अधीर न होना (इडुक्कण अळियामै)
(२६) मन्त्रित्व (अमैच्चु)
(२७) वाक्-शक्ति (सोल् वनमै)
(२८) व्यवहार-विशुद्धि (विनैत्तूयमै)
(२९) कर्म की दृढता (विनै त्तिट्पम्)
(३०) कर्म की रीति (विनै सेयल्वहै)
(३१) दूत (तूदु)
(३२) सम्राट से सहयोग (मन्नरै चेर्न्दु ओळुहल्)
(३३) भावज्ञता (कुरिप्पु अरिदल्)
(३४) सभा को समझना (अवै अरिदल्)
(३५) सभा मे निर्भीकता (अवै अञ्जामै)
(३६) राज्य (नाडु)
(३७) दुर्ग (अरण्)
(३८) धन-बल निरूपण (पोरुल् सेयल्वहै)
(३९) सैन्य-सौष्ठव (पडै माट्चि)
(४०) सैन्य-शौर्य (पडैच्चेरुक्कु)
(४१) मैत्री (नट्पु)
(४२) मित्रता का विवेचन (नट्पु आरायदल्)
(४३) चिर-परिचय (पळैमै)
(४४) निकृष्ट मैत्री (तीनट्पु)
(४५) झूठी मित्रता (कूडानट्पु)
(४६) मूढता (पेदैमै)
(४७) अहंकार-युक्त तुच्छ बुद्धि (पल्लरि वाणमै)
(४८) विरोध (इहल्)
(४९) शत्रुता की उग्रता (पहैमाट्चि)
(५०) शत्रु-बल का बोध (पहैत्तिरम् तेरिदल्)
(५१) अंत-वैर (उट्पहै)
(५२) महान् का अपमान करना (पेरियारै पिळैयामै)
(५३) स्त्री का अनुसरण न करना (पेण्वळि चेरल्)
(५४) वेश्या (तरैविन् महलिर्)

(५५) मद्य-निषेध (कल्लुणाँमै)
(५६) जुआ (सूदु)
(५७) औषधि (मरुन्दु)
(५८) कुलीनता (कुडिमै)
(५९) सम्मान (मानम्)
(६०) महानता (पेरुमै)
(६१) सर्वगुण सम्पन्नता (सान्राण्मै)
(६२) शिष्टाचार (पण्बुडैमै)
(६३) प्रयोजनहीन सम्पत्ति (नन्रियिल् सेल्वम्)
(६४) लज्जाशीलता (नाणुडैमै)
(६५) वंश चलाने की रीति (कुडिसेयल्वहै)
(६६) कृषि (उळवु)
(६७) दरिद्रता (नल्हुरवु)
(६८) याचना (इरवु)
(६९) याचना की भयकरता (इरवच्चम्)
(७०) नीचता (कयमै)

स्पष्ट है कि वल्लुवर ने अर्थ का विस्तृत तात्पर्य ग्रहण किया है। इसके अन्तर्गत राज्य-सत्ता के विभिन्न उपकरणो—यथा राजा, मत्री, दूत, सैन्य, खाद्य पर विचार करने के अतिरिक्त सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक नीति का भी विधान किया है। समाज मे सम्मान-योग्य व्यक्ति के गुणो का विवेचन एव धनाभाव से उत्पन्न दोषों का भी सकेत कवि ने दिया है। तिरुक्कुरल के 'अर्थ' (पोरुल्) के अन्तर्गत विवेचित विषयों को अध्ययन की सुविधा के लिए निम्न रूप मे वर्गीकृत किया जा सकता है—

(क) प्रशासन अथवा अधिकारी-वर्ग विषयक विवेचन इसके अन्तर्गत राजा, सामन्त, दुर्ग, सैन्य, खाद्य, राजदूत, गुप्तचर, मित्र एव इनसे सम्बद्ध विषयो का विवेचन है।

(ख) सामान्य-समाज सम्बन्धी विवेचन इसमें सम्मान, महानता, शिष्टाचार इत्यादि गुणों के अतिरिक्त सामान्य व्यक्ति के जीवन के विधि-निषेध का मार्ग स्पष्ट करने के लिए विभिन्न विषयो पर विवेचन है।

(क) प्रशासन अथवा अधिकारी वर्ग विषयक विवेचन

राज्य—डा० पाण्डुरग वामन काणे के अनुसार "प्राय सभी राजनीति शास्त्रों ने राज्य के सात अग बतलाए हैं। यथा—स्वामी, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोश, दण्ड एवं मित्र।"[1] तिरुवल्लुवर द्वारा स्वीकृत राष्ट्र के इन्हीं सात अंगों की स्वीकृति कौटिल्य[2], मनु[3] एवं

---

१ धर्म-शास्त्र का इतिहास, भाग २, पृ० ५८५।

२ स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोशदण्डमित्राणि प्रकृतयः ॥

—कौ० अर्थ०, ९६।१।१।

३ स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा।
सप्त प्रकृतयो ह्येता सप्तांग राज्यमुच्यते ॥—मनु० ९।२९४।

याज्ञवल्क्य[1] ने दी है। कालिदास ने भी राज्य के सात अगो का ही उल्लेख किया है। "शिव सप्तस्वंगेषु यस्य मे"[2] द्वारा राज्य के इन्ही सात अगो का उल्लेख रघुवश मे दिलीप ने किया है। स्पष्ट है कि भारतीय अर्थ-सम्बन्धी विचारधारा की परम्परा के अनुसार ही वल्लुवर ने अपने आदर्श राज्य ने कल्पना की, पर उल्लेखनीय यह है कि गौण गुणो का जिस प्रकार का उल्लेख वल्लुवर ने किया, वह मौलिक है। इसके अन्तर्गत प्रजा एव राजा का सम्बन्ध अत्यन्त मधुर एव पारस्परिक सहयोग पर आश्रित माना गया है। मूलत कृषि-प्रधान अर्थ-व्यवस्था के कारण वल्लुवर उपज एव उसके आवश्यक 'जल के उभय स्रोत'[3] (वर्षा, नदी इत्यादि) का उल्लेख राज्य के अनिवार्य अगो मे करते हैं। तिरुवल्लुवर ने अनेक विरोधी सघ-सभाओ, विनाशकारी अत -कलह तथा राजा के लिए दु खप्रद हत्यारे भूस्वामी से रहित राज्य को आदर्श माना है।[4] वे ऐसे राज्य को आदर्श मानते हैं जो इतना प्रबल हो कि दूसरो के लिए आकर्षण का केन्द्र हो परन्तु अपनी अत -शक्ति के कारण बाह्य आक्रमणो से मुक्त हो।[5]

तिरुवल्लुवर ने राज्य (नाडु) के अन्तर्गत अक्षय उपज, योग्य विद्वान् एव क्षतिहीन धनाढ्य की आवश्यकता पर बल दिया है। विशाल सम्पत्ति, जल के प्रचुर स्रोत, यथानुकूल पर्वत, प्रवाहपूर्ण नदी एव सुदृढ दुर्ग राज्य के अनिवार्य अग माने गए है। वल्लुवर के अनुसार सैन्य, प्रजा, धन, अमात्य, मित्र एव दुर्ग जिसके पास हो वह राजाओ मे पुरुष-सिंह सदृश होता है।[6] राज्य के अलकारो मे व्याधि रहित अवस्था, सम्पत्ति, उपज-समृद्धि, आनन्दमय जीवन एव सुरक्षा का उल्लेख हुआ है। जहा प्रजावर्ग कठिन अवस्था मे भी यथानुसार समस्त कर चुकाता रहे, जो निरन्तर व्याधि, बाह्य आक्रमणो से मुक्त हो, एव जिसका एक श्रेष्ठ राजा हो, वही राज्य कहलाने योग्य है।

तिरुवल्लुवर के आधार पर प्रस्तुत उपर्युक्त राज्य की रूप-रेखा मे दो प्रकार के गुणो का उल्लेख है—

(क) अनिवार्य।

(ख) गुण अभिवृद्धि करने वाले (गौण)।

अनिवार्य गुणो मे दुर्ग, प्रजा अमात्य, सैन्य, धन, मित्र एव राजा का उल्लेख किया गया है। अक्षय उपज, विशाल सम्पत्ति एव जल के स्रोत धन के अन्तर्गत, योग्य विद्वान् 'मित्र' अथवा 'अमात्य' के अन्तर्गत समाहित हो जाते हैं। बाह्य आक्रमणो से रक्षा दृढ दुर्ग एव सैन्य-शक्ति पर निर्भर करती है।

गौण गुणो मे व्याधि रहित सानन्द जीवन, प्रजा के द्वारा कर चुकाना, विनाश-काल मे भी समृद्धि न रुकने देना, राजा-प्रजा की सयुक्त शक्ति एव पारस्परिक सहयोग भावना का

---

१ स्वाम्यमात्यौ जनो दुर्ग कोशो दण्डस्तथैव च।
मित्राण्येता प्रकृतयो राज्य सप्तागमुच्यते॥—याज्ञवल्क्य०, १।३५३।

२ रघुवश, १।६०।

३. कुरल ७३७।

४. कुरल ७३५।

५. कुरल ७३२, ७३४।

६ कुरल ३८१।

उल्लेख हुआ है।

राजा—भारत में व्यवस्थित शासन का प्राचीनतम रूप राजतन्त्र ही था। ऋग्वेद के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसमें राजतन्त्र को ही प्रचलित शासन-व्यवस्था माना गया है। राजा का पद सबसे अधिक सम्मानित और सर्वोच्च था। महाभारत शांति-पर्व में उल्लेख आता है कि सब प्राणी धर्म में स्थित रहते हैं और धर्म राजा में निवास करता है, उस धर्म की उत्तम रीति से रक्षा करने वाले राजा ही पृथ्वी के स्वामी होते हैं।

राजा की आवश्यकता का अनुभव सामाजिक जीवन को नियमित करने, एव मात्स्य-न्याय की स्थिति से बचने के लिए हुआ होगा। ऐतरेय ब्राह्मण मे आया है कि देवों ने राजा के न रहने पर अपनी दुर्दशा देखी और तभी एक मत से उसका चुनाव किया।[1] यहां सामरिक आवश्यकता से नृपत्व का जन्म हुआ। मनु ने लिखा है—जब सभी भयाकुल होकर इधर-उधर दौडने लगे और विश्व मे कोई स्वामी नही था तो विधाता ने इस विश्व की रक्षा के लिए राजा का प्रणयन किया।[2] कौटिल्य का कहना है—जब दण्ड का प्रयोग नहीं होता तो मात्स्यन्याय की दशा उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि दण्डधर के अभाव मे बलवान दुर्बल को खा डालता है।[3] कौटिल्य के अनुसार इस मात्स्यन्याय से अभिभूत होकर लोगो ने मनु वैवस्वत को अपना राजा बनाया।[4] यही कथन वाल्मीकि रामायण,[5] महाभारत,[6] कामन्दक,[7] इत्यादि मे भी उपलब्ध है। राजा को प्राय दण्डधर की उपाधि दी गयी है।[8] मत्स्यपुराण, अग्निपुराण तथा महाभारत, शान्तिपर्व मे आया है कि 'दण्ड' नाम इसलिए पड़ा है कि यह अनियन्त्रित लोगो को दबाता है और अभद्र तथा अनीतिमान को दण्डित करता है।[9] दण्ड सब पर राज्य करता है, सबकी रक्षा करता है, यह न्याय के रक्षको के सो जाने पर भी जगा रहता है, बुद्धिमान लोग इसे धर्म कहते हैं।[10] यहा दण्ड और राजा के एक ही अर्थ मे प्रयोग किए जाने का उल्लेख एक विशेष उद्देश्य से किया गया है। राजा के लिए वल्लुवर ने 'इरैमाट्चि' अध्याय मे 'इरै' शब्द का प्रयोग किया है। ईश्वर के लिए भी इरैवन् शब्द का प्रयोग हुआ है। यह राजा के दैवी रूप की स्वीकृति है। राजा की शक्ति एव न्याय के लिए 'कोल' शब्द प्रयुक्त हुआ है। गडरिये के समान ही

---

१ १।१४ (धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० ५८६)।

२ अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभु ॥—मनु० ७।३, शुक्रनीति १।७१।

३ (दण्ड,) अप्रणीतो हि मात्स्यन्यायमुद्भावयति।
बलीयानबल हि ग्रसते दण्डधराभावे ॥—कौ० अर्थ० १।४।

४ मात्स्यन्यायाभिभूता प्रजा मनु वैवस्वत राजान चक्रिरे ॥—वही, १।१३।

५ मत्स्या इव जना नित्य भक्षयन्ति परस्परम्।—वा० रा० अयो० ६७।३१।

६ दण्डश्चेन्न भवेल्लोके विनश्येयुरिमा' प्रजा।
जले मत्स्यानिवाभक्ष्यन्दुर्बलान्बलवत्तरा ॥—महा० शान्ति०, १५।३०।
और देखें, वही, १५।३, १५।१२, १५।४०, १५।४३ इत्यादि।

७ दण्डाभावे परिध्वसी मात्स्यो न्यायः प्रवर्तते ॥—कामन्दक०, २।४०।

८ महाभारत शान्ति०, ६७।१६, कामन्दक०, १।१, गौतम०, ११।२८।

९. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० ५८७।

१० मनु० ७।१८, महा० शान्ति०, १५।२, मत्स्य० ५२३।१४-१५।

राजा अपने हाथों मे दण्ड धारण करता है। गडरिये के दण्ड को भी 'कोल' कहा जाता है। राजा और प्रजा का सम्बन्ध गडरिये और भेडो के सम्बन्ध से भिन्न नही था। दोनों स्थितियों मे अव्यवस्था रोकने, नियन्त्रण करने एव समूह के हित के लिए 'दण्ड' (कोल) का उपयोग होता है।[१]

राजा के गुण—निरुक्त (२।३) मे राजन् शब्द 'राज्' धातु से निष्पन्न माना गया है जिसका अर्थ है 'चमकना' परन्तु महाभारत (शान्ति ५९।१२५)[२] ने राजा को 'रञ्ज्' धातु से निष्पन्न बताया है जिसका अर्थ है 'प्रसन्न करना'। राजा वही है जो प्रजा को प्रसन्न एव सुखी रखता है।[३] सभी राजनीति विषयक ग्रथो मे श्रेष्ठ राजा के गुणो की चर्चा हुई है। आत्मसम्पन्न राजा के गुणो का विस्तृत व्याख्यान कौटिल्य ने किया है। जन समाज के हृदय को जीतने की क्षमता के लिए कुलीनता, धर्मपरायणता, धैर्य सम्पन्नता, बडे-बूढो से सम्मति लेने की प्रवृत्ति, सत्यवादिता, सदाचारिता, कृतज्ञता, उत्साह, अप्रमाद, सामन्तो को वश मे रखने की क्षमता, दृढ़-सकल्प इत्यादि गुण राजा मे आवश्यक माने गये हैं। इन्हे अभिगामिक गुण कहा गया है।[४] राजा के बुद्धि-विषयक गुणो मे सीखने की विशेष आकाक्षा, अध्ययन एव समझने की प्रवृत्ति तथा धारण करने की शक्ति, सुविचारणा, वाद विवाद के उपरान्त निर्णय के प्रति आस्था का उल्लेख है।[५] उत्साह सम्बन्धी गुणो मे शौर्य, अमर्ष, क्षिप्रकारिता एव दक्षता का समावेश है।[६]

तिरुवल्लुवर ने राजा के गुणो मे निर्भयता, दान, बुद्धिमत्ता, उत्साह, सतर्कता, विद्या, निर्भीक प्रकृति, मधुर भाषण, दया, धर्मनीति एव नीति-दृढ़ता, प्रजा-सरक्षण का समावेश किया है।[७] इसके अतिरिक्त श्रेष्ठ व्यक्तियो का साहचर्य,[८] सज्जनो की मैत्री,[९] सोच विचार कर

---

१ "The analogy is appropriate for the King's sceptre and the Shepherd's staff are both called 'Kol in Tamil The King was the shepherd and the people were the sheep, and the relationship between the ruler and the ruled was not unlike that between the shepherd and the sheep" *Sangam Polity*—N Subrahmanian, p 71

२. रजितास्च प्रजा सर्वास्तेन राजेति शब्द्यते ॥

३ धर्मशास्त्र का इतिहास—डा० काणे, पृ० ५९०।

४ तत्र स्वामिसम्पत्-महाकुलीनो दैवबुद्धिसत्वसम्पन्नो वृद्धदर्शी धार्मिक सत्यवागविसंवादिक कृतज्ञ स्थूललक्षो महोत्साहोऽदीर्घसूत्र. शक्य सामन्तोदृढबुद्धिरक्षुद्र परिषत्को विनयकाम इत्याभिगामिका गुणा ॥—कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, ६।९६।१।२।

५. शुश्रूषाश्रवणग्रहणविज्ञानोहापोहतत्वाभिनिवेशा प्रज्ञागुणा ॥—वही ६।९६।१।३।

६. शौर्यममर्ष शीघ्रता दाक्ष्य चोत्साहगुणा ॥—वही, ६।९६।१।४।

७ कुरल ३८४, ३८६, ३८७, ३८८, ३९०।
तुलनीय—सङ्ग्रह सर्वभूतानां दानं च मधुरा च वाक् ॥ महा०।
एवं, अप्रमादेन शिक्षेथा क्षमां बुद्धिं धृतिं मतिम्।
भूतानां सत्वजिज्ञासां साध्वसाधु च सर्वदा ॥—वही, शान्ति०।

८ कुरल ४४८।

९ कुरल ४५०।

कर्म में प्रवृत्त होना,[१] लोकानुकूल कर्म,[२] समयानुकूल कार्यरत होना[३] इत्यादि अनेकानेक गुणों का होना राजा में आवश्यक माना है। तिरुवल्लुवर के अनुसार दीर्घसूत्रता, विस्मरण, आलस्य एवं निद्रा का किसी राजा में होना विनाश की ओर अग्रसर करने वाली नाव के सदृश है।[४]

तिरुवल्लुवर एव कौटिल्य के राजा के गुणों मे अदभुत साम्य है। इसका कारण है—वल्लुवर धर्म, अर्थ और काम में यद्यपि प्राथमिकता आदर्श को देते हैं, पर अर्थ-खण्ड में उनकी व्यावहारिक दृष्टि निरतर बनी रही है। राजा के आदर्श-रूप को कौटिल्य तथा अन्य विद्वानों ने जिस प्रकार समझा, वल्लुवर की दृष्टि उससे भिन्न नहीं। हा, वल्लुवर ने अपने आदर्श राजा मे दया, मधुर-भाषण इत्यादि का समावेश अवश्य कर दिया है।

कबीर मूलत सन्यासी थे। उनकी रुचि समाज की व्यवस्था में, अथवा संसार के भौतिक पक्ष में अत्यल्प थी। जिस राज्य का राजा क्रूर, अन्यायी, विलासी हो, उस युग का कवि यदि व्यवस्था के प्रति विद्रोह नही कर सकता तो अपनी दृष्टि आध्यात्म की ओर प्रेरित करता है। इसी हेतु समकालीन राजा से निराश होकर कबीर ने राजाओ के राजा, राजाधिराज 'राम' के गुणो का वर्णन किया है जो समकालीन राजाओ को अप्रत्यक्ष आदर्श की शिक्षा माना जा सकता है। यही कारण है कि कबीर ने राजा को दो रूपों मे प्रस्तुत किया है—आदर्श राजा की कल्पना एव समाज मे राजा का वास्तविक रूप। राम को आदर्श राजा के रूप मे कल्पित कर कबीर आदर्श रूप की प्रतिष्ठा करते हैं।

ये सासारिक राजा तो धन-सम्पत्ति के लोभी हैं, कचन के प्रति इनका मोह, इनको नष्ट कर देता है।[५] धन पर गर्व करना व्यर्थ है क्योंकि 'दिवस चारि की है पतिसाही ज्यूं बनि हरियल पात।'[६] इसके लिए तो प्रत्यक्ष प्रमाण भी उपलब्ध है। रावण लका का छत्रपति था परन्तु उसकी सत्ता क्षण मे ही नष्ट हो गई, माता, पिता सासारिक सपदा, पुत्र, पत्नी कोई भी तो उसके साथ नही गया।[७] कबीर के समक्ष जो राजा हैं, वे राज्य, सिंहासन, सुन्दर नारी-रमण एव चदन, वस्त्र तथा कर्पूरादि का सेवन करने वाले हैं, कबीर उन्हें भी ससार की असारता एव नश्वरता का सकेत देकर सद्कर्म मे प्रवृत्त करने का प्रयास कर रहे हैं।[८]

राजा समाज का पालन-पोषण करने वाला है, इस अर्थ मे वह स्वामी है। परन्तु कबीर के युग मे राजा अपने कर्त्तव्य से च्युत ऐश्वर्य-भोग मे लिप्त हैं, अपने सामाजिक दायित्व से विमुख हैं। अपनी धारणा को स्पष्ट करने एव आदर्श रूप को प्रस्तुत करने के लिए कबीर

---

१ कुरल ४६७, ४६७।
२. कुरल ४७०।
३ कुरल ४८२।
४ कुरल ६०५।
५. धन सचते राजा मूये, अरु ले कचन भारी॥—कबीर ग्रंथावली, पृ० १४६।
६. वही, पृ० १६७।
७ रावन होत लक कौ छत्रपति, पल में गई बिहात।
माता पिता लोक सुत बनिता, अति न चले सगात॥—वही, पृ० १६७।
८ राज पाट स्यघासण आसण, बहु सुन्दरि रमणां।
चदन चीर कपूर बिराजत, अति तऊ मरणां॥—वही, पृ० १२८।

राम का आश्रय लेते हैं। राजा राम जन-जन की पीडा को समझने वाले हैं,[१] राम न्यायशील हैं, जो जैसा कर्म करता है उसे उसके अनुसार ही फल प्रदान करते हैं।[२] राम अपनी प्रजा की स्थिति का पूरा समाचार रखते हैं और उनके होते हुए किसी अन्य को अपनी पुकार सुनाने की आवश्यकता नही पडती।[३] राजा राम समाज की गतिविधियो को नियन्त्रित एव सचालित करते हैं।[४] राम की कल्पना एक विशाल साम्राज्य के अधिपति के रूप में की गई है। उनके यहाँ करोडो सूर्य प्रकाश करते हैं, उनके यहा कोटि ब्रह्मा वेद पढते हैं, उनकी आज्ञा से कोटि दुर्गा दुष्टो का मर्दन करती है, कोटि चन्द्र दीपक का कार्य करते हैं, तैंतीसो देव उनके यहा भोजन पाते हैं, कोटि नवग्रह उनके दरबार मे रहते हैं, धर्मराज उनके प्रतिहार हैं, करोडो कुबेर उनके भडार भरते हैं, कोटि इन्द्र उनकी सेवा करते है, उनके दरबार मे यज्ञ होते हैं, करोडो गन्धर्वों की जयजयकार ध्वनि गूजती है, कोटि विद्याएँ उनका गुण कथन करती हैं, परन्तु उनके गुणो का पार नही पाती। यह राम ऐसे शक्तिशाली हैं कि उनसे रावण की सेना परास्त हुई, दुर्योधन मानहीन होकर मारा गया। उनके कोतवाल भी बावन करोड हैं, प्रत्येक नगर मे उनके क्षेत्रपाल व्यवस्था करते हैं, उनकी छुटी लटें विकराल नृत्य करती हैं, ये अनन्त कलाओ के स्वामी 'नटवर-गोपाल' हैं। इनके सौन्दर्य का निर्माण कोटि कोटि कामदेव करते हैं और घट घट मे मन का हरण करने वाले है।[५] इस प्रकार का विशाल चित्र जिसके समक्ष हो, परम शक्तिमान राम (ईश्वर) का रूप जिसने मन मे निहारा हो उसके समक्ष यदि लोभ-मोह से लिप्त ये सासारिक राजा कोई महत्त्व नही रखते तो अनुचित क्या है? निश्चय ही कबीर का दृष्टिकोण आदर्श से प्रेरित है और इसी कारण लोक-व्यवहार मे आने वाली साधारण भूलों को वे स्वीकार नही कर पाते। उनका कथन है कि जो कहने की बात है वह मैं अवश्य कहूगा। परन्तु समाज की स्थिति यह है कि यद्यपि कोई जानता नही है, फिर भी मानने की इच्छा का अभाव है, इसलिए आश्चर्य होता है।[६] राजा राम इतने दयालु है कि जन-जन की बात को सुनते है, अपनी शरण मे आने वाले को तनिक भी कष्ट नही होने देते, उसके अपराधो को क्षमा कर देते हैं।[७] इसी प्रकार अनेक अन्य स्थलो पर कबीर ने आदर्श राजा की कल्पना की है।

इस स्थल पर एक स्पष्टीकरण देना उपयुक्त होगा। तिरुवल्लुवर एव कबीर दोनो के काव्य का लक्ष्य लोक कल्याण है, परन्तु दोनो की कार्यविधि मे निश्चित अन्तर है। कबीर के युग का सामाजिक एव राज्य सगठन लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित नही था, वह एक

---

१. जन की पीर हो
राजा राम भल जानै ॥—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १३८।

२ जो जस करिहै सो तस पइहै राजा राम नियाई ॥—वही, पृ० ११७।

३ राम राइ कासनि करौ पुकारा,
ऐसे तुम साहिब जाननिहारा ॥—वही, पृ० ११४।

४ राजा राम करै सो होई ॥—वही पृ० १३३।

५. वही, पृ० ११२, और देखे पृ० २११।

६. कहू रे जे कहिबे की होइ।
नां को जानै ना को मानै, तायैं अचिरज मोहि ॥—वही, पृ० १४६।

७. राम राइ मेरा कह्या सुनीजै, पहले बकसि अब लेखा लीजै ॥—वही, पृ० १५६।

विदेशी सत्ता का आधिपत्य था। वल्लुवर के समाज मे ऐसी कोई जटिल स्थिति नहीं थी। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि कबीर के काव्य में राज्य का उल्लेख अपने युग की जटिलता को ग्रहण किए हुए है। जहा ऐसा नही है वहा आदर्श राजा की कल्पना राम के सन्दर्भ मे की गई है। वल्लुवर का लक्ष्य राज्य के विभिन्न अगो के गठन, कार्यविधि एव सामाजिक जीवन मे उसके प्रभावादि का क्रमबद्ध विवेचन रहा है। उन्होने आदर्श और व्यवहार का अद्‌भुत सम्मिश्रण प्रस्तुत किया है। यही स्थिति राज्य के अन्य अगो का अध्ययन करते समय हमारे समक्ष आती है। अमात्य, सेना, कोष इत्यादि राज्य के अगो के विषय में कबीर और तिरुवल्लुवर काव्य मे युग और समाज के भेद के कारण दृष्टि-भेद उत्पन्न हुआ है। कबीर मे दुर्दशा का चित्रण और आदर्श की कल्पना प्रमुख है, वल्लुवर मे आदर्श का विवेचन क्रमबद्ध ढग से उपलब्ध होता है।

अमात्य—राज्य के सात अगो मे राजा के उपरान्त 'अमात्य' का स्थान है। कौटिल्य के अनुसार राजत्व-पद सहायको की मदद से ही सम्भव है, केवल एक पहिया कार्य-शील नही होता, अत राजा को चाहिए कि वह मत्रियो की नियुक्ति करे और उनकी सम्मतियां सुने।[१] मनु का कथन है—एक व्यक्ति के लिए सरल कार्य भी अकेले करना कठिन है, तो शासन-कार्य जो कि कल्याण करना परम लक्ष्य मानता है, बिना सहायको के कैसे चल सकता है?[२] कौटिल्य (१।९), मनु (७।५४), याज्ञवल्क्य (१।३१२), कामन्दक (४।२५-३०), शान्ति पर्व (११८।२,३), बालकाण्ड (७।७-१४), अयोध्याकाण्ड (१००।१५), अग्निपुराण (२३९।११-१५), राजनीति प्रकाश (पृ० १७४-१७८), राजधर्म कौस्तुभ (पृ० २५१-२५४) इत्यादि अनेक स्थलो मे अमात्य के गुणो की तालिका प्रस्तुत की गई है।[३] मनु कहते हैं कि राजा वश क्रमागत, शास्त्रज्ञाता, शूरवीर, शस्त्र चलाने मे निपुण, उत्तम वश मे उत्पन्न और परीक्षित मत्रियो की नियुक्ति करे।[४]

कौटिल्य के अनुसार मत्री देशवासी होना चाहिए, उच्च कुल का होना चाहिए, प्रभाव-शाली होना चाहिए। इसके अतिरिक्त कला-निपुण, दूरदर्शी समझदार, अच्छी स्मृतिवाला, सतत् जागरूक, अच्छा वक्ता, निर्भीक, मेधावी, उत्साह एव प्रताप से परिपूर्ण, धैर्यवान, मन, कर्म से पवित्र, विनयशील, चरित्रबल, स्वास्थ्य एव तेजस्विता से परिपूर्ण इत्यादि गुणो से युक्त मन्त्री ही कौटिल्य के अनुसार उत्तम है।[५] कामन्दक का कथन है कि राजा को त्रुटिमय मार्ग से हटाना मत्रियो का कर्त्तव्य है और मत्रियो की मन्त्रणा सुनना राजा का कर्त्तव्य है। अच्छे

---

१ सहायसाध्य राजत्व चक्रमेक न वर्तते।
कुर्वीत सचिवास्तस्मात्तेषा च शृणुयान्मतम् ॥—कौ० अर्थ० ३।६।४।

२ अपि यत्सुकर कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।
विशेषतोऽसहायेन किंतु राज्य महोदयम् ॥—मनु० ७।५५।

३ धर्मशास्त्र का इतिहास—डा० काणे, पृ० ६२४-२५।

४. मौलाञ्छास्त्रविद शूरांल्लब्धलक्षान्कुलोद्‌भवान्।
सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥—मनु०, ७।५४।

५ धर्मशास्त्र का इतिहास—डा० काणे, पृ० ६२५।

कर्त्तव्यशील मंत्रिगण न केवल मित्र है प्रत्युत राजा के गुरु हैं।[१]

वल्लुवर ने अमात्य के लिए 'अमैच्चन्' शब्द का प्रयोग किया है। 'अमैच्चु' अध्याय में प्रयुक्त यह शब्द 'अमात्य' का ही रूप है।[२] अमात्य के लिए 'उर्लहरुन्दार' का भी प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ है—निकट रहने वाला। ऋग्वेद[३] मे आये अमात्य शब्द का अर्थ—हमारे घर में रहने वाला—इससे भिन्न नही है।

अमात्य के गुणो (अमैच्चु) के अन्तर्गत साधन, काल, कर्म एव उस कर्म को करने की विशिष्ट रीति के ज्ञान से युक्त होना अनिवार्य आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त निर्भयता, कुलीनता, सरक्षण शक्ति, अध्ययन से प्राप्त ज्ञान तथा दृढ प्रयास, आवश्यकतानुसार सम्बन्ध-विच्छेदन, सरक्षण तथा पृथक् हुए व्यक्ति को पुन मिला देने की शक्ति से भी मन्त्री को सम्पन्न होना चाहिए। वल्लुवर के अनुसार अमात्य मे विभिन्न विषयो को समझने की विशिष्ट शक्ति, विश्लेषण के आधार पर विशिष्ट कर्म करने एव अपने अभिप्राय को निर्भयतापूर्वक कहने की क्षमता होनी चाहिए। इस प्रकार का धर्मज्ञ, ज्ञान-सम्पन्न वक्ता, एव शक्ति को समझने वाला मर्मज्ञ ही मन्त्री होता है। केवल ग्रन्थ-ज्ञान पर्याप्त नही, उसके साथ तीक्ष्ण बुद्धि का समावेश, लोक-व्यवहार को समझ कर उसके अनुकूल कर्म करना एव दृढता का भी समावेश अमात्य मे वल्लुवर ने माना है। यदि राजा अनुचित करे, अज्ञानी बना रहे तो भी न्याय को दृढतापूर्वक व्यक्त करना अमात्य का कर्त्तव्य-कर्म है।[४] इस प्रकार का निर्भीक मन्त्री राजा का नेत्र है। अत उसका चुनाव ध्यानपूर्वक विचार करके करना चाहिए।[५] मन्त्री के सबल होने पर ही स्थायित्व प्राप्त होता है,[६] अन्यथा शत्रुओ के अभाव मे भी राजा का नाश अवश्यम्भावी है।[७] परन्तु यदि मन्त्री बाधा उपस्थित करने वाला हो तो वह सात करोड शत्रुओ से भी अधिक भय का कारण है, ऐसी स्थिति मे सात करोड शत्रुओ के निकट रहने मे ही भलाई है।[८]

दूत एवं गुप्तचर— राज्य मे दूत का एक विशिष्ट स्थान है। ऋग्वेद मे कई स्थलो पर अग्नि को दूत माना गया है। इसे यज्ञ मे देवो को बुलाने के लिए कहा गया है।[९] महाभारत उद्योग

---

१ धर्मशास्त्र का इतिहास—डा० काणे, पृ० ६२६ (कामन्दक ४।४१-४६)।

२ He was called Amaichan The word has been derived from 'Amatya', a Sanskrit word *Sangam Polity* p 94

३. ऋग्वेद ७।१५।३।

४. कुरल अध्याय ६४।

तुलनीय धर्मशास्त्रार्थतत्वज्ञ सान्धि विग्रहिको भवेत्।
मतिमान्धृतिमान् ह्रीमान् रहस्यविनिगूहिता।—महा० शान्ति० ८५।३०।

एव कुलीन सत्वसम्पन्न शक्तोऽमात्य प्रशस्यते।
देशकालविधानज्ञान्भर्तृ कार्यहितैषिण।
यो वाप्यस्थिर सकल्पो बुद्धिमानागतागम ।। इत्यादि—महा० शान्ति० ८२। २३,२४।

५. कुरल ४४५।

६ कुरल ४४६।

७ कुरल ४४८।

८ कुरल ६३६।

९. ऋग्वेद, १।१२।१, १।१६१।३, ८।४४।३।

पर्व में दूत के आठ गुणों का उल्लेख है—प्रतिनिविष्ट (ढीठ) नही होना चाहिए, कायर नहीं होना चाहिए, दीर्घसूत्री नही होना चाहिए, दयालु एव सुशील हो, ऐसा हो कि दूसरे अपने पक्ष में न मिला सकें, रोग रहित एव मधुर-भाषी होना चाहिए।[1] मनु के अनुसार दूत शास्त्रज्ञाता, इंगित, आकार और चेष्टा को जानने वाला, शुद्ध-हृदय, चतुर, कुलीन, अनुरक्त, अच्छी स्मरण शक्ति वाला, देश और काल को जानने वाला, निर्भीकता आदि गुणो से युक्त होना चाहिए।[2] मनु दूत के महत्त्व को स्वीकार करते हुए कहते हैं—दूत ही शत्रु से मेल करा देता है और मिले हुए (शत्रु) से विग्रह करा देता है।[3] कामन्दक के अनुसार दूत तर्क और चेष्टा को जानने वाला, स्मृति वाला, शीघ्र पराक्रमी, क्लेश और परिश्रम को सहने वाला, चतुरता, काल, बुद्धि उपार्जन करने वाला होना चाहिए।[4] शुक्र के अनुसार दूत राजा के मन्त्रियो मे से एक होता है। वह इंगित, आकार और चेष्टा का जानने वाला, स्मृतिमान, देशकाल का ज्ञाता, सधि, विग्रह आदि के विचार करने मे समर्थ, वाग्मी और निर्भीक होता है।[5]

राजनीति शास्त्रो मे तीन प्रकार के दूतो का वर्णन है—(क) निसृष्टार्थ (वह, जिसे जो कहना है, उसे कहने के लिए पूर्ण स्वतन्त्र है), इस प्रकार के दूत को अमात्य का अधिकार रहता है। (ख) परिमितार्थ (निश्चित कार्य के लिए भेजा गया), यह भी मन्त्री के बराबर रहता है किन्तु एक चौथाई कम। (ग) शासनहर (केवल राजकीय पत्र एवं सदेश ले जाने वाला), इसमे मन्त्रियो के केवल आधे गुण पाये जाते हैं।[6] कुरल के प्रसिद्ध टीकाकार परिमेलहर ने इन तीनो प्रकार के दूतो का उल्लेख किया है। यहा यह उल्लेख करना उपयुक्त रहेगा कि वल्लुवर मे इस प्रकार का कोई वर्गीकरण नही है। इस बात का भी कोई प्रमाण नही है कि वल्लुवर-युग मे दूत-कर्म का इस प्रकार से वर्गीकरण किया गया हो। फिर भी यह तो सम्भव

---

१ अस्तब्धमक्लीबमदीर्घसूत्र सानुक्रोश श्लक्ष्णमहार्यमन्यै।
अरोगजातीयमुदारवाक्य दूत वदन्त्यष्टगुणोपपन्नम्॥—महा० उद्योग० ३७।२७।

२ दूत चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम्
इगिताकारचेष्टज्ञ शुचि दक्ष कुलोद्गतम्॥
अनुरक्त शुचिर्दक्ष स्मृतिमान्देशकालवित्।
वपुष्मान्वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञ प्रशस्यते॥—मनु० ७।६३, ६४।

३ दूत एव हि सधत्ते भिन्नत्येव च सहृतान्॥—मनु० ७।६६।

४. प्राचीन भारत मे राजनीतिक विचार एव सस्थाए—परमात्माशरण, पृ० २७०।

५ वही, पृ० २७१ (शुक्रनीति २।५६)।

६ अमात्य सम्पदोपेतो निसृष्टार्थ, पादगुणाहीन. परिमितार्थ, अर्धगुणहीन शासनहर।
—कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, १।११।१५।१।

एव—"दूताश्च ये प्रकटमेव राजान्तरप्रतिगतागतमाचरन्ति। ते च त्रिविधा निसृष्टार्थ सदिष्टार्था शासनहराश्चेति। तत्र निसृष्टार्था राजकार्याणि देशकालोचितानि स्वयमेव कथयितु क्षमा। उक्तमात्र ये परस्मै निवेदयन्ति ते सदिष्टार्था। शासनहरास्तु राजलेखहारिणा तान्पूर्वप्रेषितानागतान्मन्त्रि-सगत. पश्येत्। दृष्ट्वा तद्वार्तामाकलय्य पुन. पुन. प्रेषयेत्।
—याज्ञ० मिताक्षरा, पृ० १०२-१०३।

है ही कि परिस्थिति और आवश्यकता के अनुसार दूत को अलग प्रकार के अधिकार प्रदान किये जाते रहे हो।

'दूत' शब्द तमिल मे सस्कृत राजनीति शास्त्रो से ग्रहण कर लिया गया।[१] वल्लुवर ने दूत के गुणो का विस्तार से वर्णन किया है। इनके लिए प्रेम, बुद्धि और विचारपूर्ण वाक्-शक्ति आवश्यक है।[२] स्नेह सम्पन्नता, उत्तम कुल मे जन्म, राजा की इच्छा के अनुसार कर्म करना, दूत के आवश्यक गुण माने गये है।[३] इसके अतिरिक्त कर्त्तव्यनिष्ठता, देश और काल का विचार रख ध्यान से कथन करना[४], बुद्धि, व्यक्तित्व तथा गम्भीर-अध्ययन से युक्त होना भी दूत के गुण है।[५] तिरुवल्लुवर के अनुसार विज्ञ, निडर, प्रभावी वक्ता, प्रत्युत्पन्नमति से युक्त, अत्यन्त निर्भीक दूत ही राजा का श्री सम्पन्न कराने वाला होता है। वह दूत के लिए समयानुकूल मधुर भाषण और प्रकाण्ड विद्वत्ता का उल्लेख विशेष रूप से करते है।

गुप्तचर राज्य की आन्तरिक एव बाह्य घटनाओ की विस्तृत सूचनाए एकत्र कर, राजा की शक्ति को ठोस धरातल प्रदान करता है। कौटिल्य, कामन्दक तथा याज्ञवल्क्य ने दूत और गुप्तचर मे अन्तर को स्वीकार किया है। कामन्दक का कथन है कि दूत प्रकाश मे कार्य करता है, किन्तु चर (गुप्तचर) छिपकर।[६] उसका कहना है कि चर मे इतनी योग्यता होनी चाहिए कि वह लोगो के मन की बात जान ले, उसकी स्मृति शक्तिशाली होनी चाहिए, मधुर-भाषी होना चाहिए, शीघ्रगामी होना चाहिए, उसमे विपत्तियो को सहने एव कठिन परिश्रम करने की शक्ति होनी चाहिए, उसे क्षिप्र और प्रत्युत्पन्नमति होना चाहिए।[७] गुप्तचर द्वारा बैरागी साधू का वेश धारण कर काय करने का उल्लेख कौटिल्य ने किया है। कौटिल्य ने राज्य मे राजा के विषय मे एव शासन कार्य के विषय मे सन्तोष या असन्तोष का पता लगाने के लिए गुप्तचरोकी नियुक्ति का वर्णन किया है। विदेशो के रहस्यभेदन के लिए भी गुप्तचरो की सेवाए ली जाती थी।

गुप्तचर राजा के नेत्र हैं--इस प्रकार का कथन प्राय मिलता है। कामन्दक ने राजा को 'चारचक्षुर्महीपति' की उपाधि दी है। विष्णुधर्मोत्तर मे 'राजानश्चारचक्षुष' और महाभारत मे 'चारै पश्यन्ति राजान' के द्वारा यही भाव अभिव्यक्त हुआ है।[८] वल्लुवर ने भी गुप्तचर को राजा का नेत्र माना है, नीति-ग्रथ राजा के द्वितीय नेत्र के समान है।

तिरुवल्लुर ने दूत एव गुप्तचर मे विद्यमान अन्तर को स्वीकार किया है। राज्य के भीतर और अन्य राज्यो मे होने वाली घटनाओ की सूचना प्राप्त करने का कार्य गुप्तचर का था। गुप्तचर और नीति-ग्रथ—ये राजा के उभय नेत्र है। प्रजा मे हो रही अथवा होने वाली दूर सम्भव घटना की शीघ्र जानकारी प्राप्त करना गुप्तचर के ही द्वारा सम्भव है। गुप्तचर का

---

१ It (Duta) is a Sanskrit expression, there is no corresponding expression in Tamil, *Sangam Polity* p 96

२ कुरल ६८२।

३. कुरल ६८१।

४ कुरल ६८७।

५ कुरल ६८४।

६. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० ६३७ (कामन्दक १२।२८)।

७. वही।

८ वही। (देखें, महा० उद्योग० ३४।३४)।

कर्म है—कर्मचारी, बन्धु, शत्रु सभी का अन्वेषण करना।

गुप्तचर के प्रमुख गुणो मे भयंकर से भयकर परिस्थिति में भी हृदयस्थ भाव को अभिव्यक्त न होने देना, रूप-परिवर्तन, गुप्त-विषयो को खोजने की सामर्थ्य तथा ज्ञात विषयों में पूर्ण स्थिर भाव का उल्लेख हुआ है। वल्लुवर का मत है कि शासन-व्यवस्था ऐसी हो कि एक गुप्तचर को दूसरे गुप्तचर का भान न होने पावे, एक गुप्तचर की सूचना का अन्य दो गुप्तचरों की सूचना से मिलान करने के उपरान्त ही विश्वास किया जाये। गुप्तचर को बैरागी का वेश धारण कर विकट स्थलो मे प्रवेश करके विषयो का पता लगाना चाहिए। राजा गुप्तचर के द्वारा वस्तुस्थिति का ज्ञान प्राप्त करता है। ऐसा न होने पर विजय प्राप्ति का कोई अन्य मार्ग नही है। गुप्तचर का सम्मान कभी भी व्यक्त रूप से न किया जाये, ऐसा करना रहस्य को अभिव्यक्त करने के समान होगा।[1]

कोष—कौटिल्य का कथन है कि राज्य के समस्त व्यापार कोष (फूळ) पर निर्भर करते हैं। इसलिये राजा को चाहिए कि सर्वप्रथम वह कोष पर ध्यान दे।[2] 'कामन्दक ने तो यहा तक कहा है कि यह लौकिक प्रसिद्धि है कि राजा कोष पर आधारित है।[3] मनु का कहना है कि राज्य कोष एव शासन राजा पर निर्भर करता है अर्थात् राजा को उन पर व्यक्तिगत ध्यान देना चाहिए।[4]

तिरुवल्लुवर 'धन-बल-निरूपण' (पोरुल्सेयल्वहै) के अन्तर्गत धन-सग्रह पर बल देते है, क्योकि शत्रु के मिथ्याभिमान को नष्ट करने का वह सर्वोत्तम शस्त्र है।[5] धन का सग्रह करने वाले को अन्य दोनो पुरुषार्थ—धर्म एव काम—एकसाथ सरलता से प्राप्त हो जाएगे।[6] धन का ऐसा चमत्कार है कि तुच्छ व्यक्ति को भी सम्मानित स्थान प्रदान करता है, इस प्रकार की शक्ति अन्य किसी तत्त्व मे नही।[7] समाज की व्यवस्था ऐसी है कि निर्धन का सब अपमान करते हैं परन्तु धनवान की प्रशस्ति गाई जाती है।[8] दया का भाव स्नेह से उत्पन्न होता है परन्तु दया-शिशु का पालन-पोषण तो धन नामक धाय ही करती है।[9] अपना धन हाथ मे लेकर कर्म-मार्ग पर अग्रसर होना टीले पर चढकर हाथी की लडाई देखने के समान है।[10] धन ऐसा दीपक है जो कभी नही बुझता और अपने स्वामी की बाधाओ का नाश करता है।[11] इस प्रकार के महत्त्व-पूर्ण पदार्थ को उचित-अनुचित ढग से प्राप्त करने की प्रबल कामना होना स्वाभाविक है। अत वल्लुवर ने कहा कि न्याय-सगत, निर्दोष रूप से प्राप्त हुआ धन, धर्म एव आनन्द का कारण

---

१ कुरल अध्याय ५९।
२ कोषपूर्वा सर्वारम्भा। तस्मात् पूर्वं कोषमवेक्षेत।—कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, १।२४।८।१।
३ धर्मशास्त्र का इतिहास, डा० काणे, पृ० ६६७।
४ वही,
५ कुरल ७५९।
६ कुरल ७६०।
७ कुरल ७५१।
८ कुरल ७५२।
९ कुरल ७५७।
१० कुरल ७५८।
११ कुरल ७५३।

बनेगा ।[1] परन्तु जो धन वैभव दया एव प्रेम भाव से प्राप्त नहीं होता उसे अस्वीकार कर देना चाहिए ।[2] उत्तराधिकार मे प्राप्त, चुगी इत्यादि करो से प्राप्त तथा शत्रु-दमन के पश्चात सग्रहीत धन पर राजा का अधिकार होता है ।[3]

सैन्य—'ऋग्वेद' मे सेना, अस्त्र शस्त्रो, युद्धो आदि का वर्णन कई बार हुआ है। 'सेनानी' शब्द ऋग्वेद मे (१०।८४।२) आया है जहा, युद्धाक्रोश को सेनानी के लिए पुकारा गया है।'[4] कामन्दक का कथन है कि परिपूर्ण कोष के रहने पर राजा अपनी क्षीण सेना बढ़ाता है, अपनी प्रजा की रक्षा करता है और उस पर उसके शत्रुगण भी आश्रित रहते हैं। बलशाली सेना के रहने पर मित्रो की सम्पत्ति तथा स्वय राजा के राज्य की सीमाए बढ़ती हैं, उद्देश्यो की शीघ्र एव मनचाही पूर्ति होती है, प्राप्त की हुई वस्तुओ की सुरक्षा होती है, शत्रु की सेनाओ का नाश होता है ।[5] सैनिको को युद्ध क्षेत्र मे सघर्षरत रह कर मृत्यु मे भयभीत न होने के लिए प्रेरणा देने की परम्परा पुरानी है। पुरस्कारो का मोह दिया जाता था। इनमे सर्वप्रथम लूटपाट का माल, भूमि इत्यादि, दूसरा क्षत्रिय-रूप मे अपने कर्त्तव्य का पालन[6] तथा आदर-सम्मान एव यश प्रमुख हैं ।[7]

तिरुवल्लुवर ने 'सैन्य-सौष्ठव' (पडैमाट्चि) एव सैन्य-शौर्य (पडैच्चेरुक्कु) के अन्तर्गत सेना के सगठन की आवश्यकता, उत्तम सेना के गुण एव सैनिको के आदर्शों का ही उल्लेख किया है। सेना के गठन-सम्बन्धी विस्तार, शस्त्र-अस्त्र इत्यादि का उल्लेख कवि ने नही किया। कारण स्पष्ट है कि शास्त्रीय पद्धति से विस्तृत विश्लेषण उसका उद्देश्य नही, वह तो सर्वयुगीन आवश्यकता को समक्ष रखकर प्रमुख रूप से मार्ग-दर्शन-हेतु इन विषयो को प्रस्तुत कर रहा है।

विभिन्न अगो से पुष्ट, बाधाओ से अविचलित, विजय प्रदायिनी सेना राजा की सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति है ।[8] सेना का सगठन इतना प्रबल हो कि स्वय यम द्वारा सक्रोध आक्रमण करने पर भी सगठित होकर शौर्यपूर्ण ढग से उसका सामना करने मे सक्षम हो ।[9] सेना की सख्या का महत्त्व नही, महत्त्व शूरता एव सगठन का है। चूहो की अपार सख्या का सागर के समान गर्जन व्यर्थ है, क्योकि काले नाग के श्वास मात्र से उनका सर्वनाश हो जायेगा ।[10] प्रबल सेना वही है जो शत्रु की वचना मे आकर क्षतिग्रस्त न हो और परम्परागत शौर्य से युक्त हो ।[11] परम्परागत सेना की ही क्षमता है कि पराजय के सम्मुख भी अपनी अल्पशक्ति एव घावो की चिन्ता न कर,

---

१ कुरल ७५४ ।
२ कुरल ७५५ ।
३ कुरल ७५६ ।
४. धर्मशास्त्र का इतिहास—डा० काणे, पृ० ६७७ ।
५ वही ।
६ गीता, २।३१,३२,३३,३४,३५ ।
७ धर्मशास्त्र का इतिहास, डा० काणे, पृ० ६८४ ।
८ कुरल ७६१ ।
९ कुरल ७६३ ।
१० कुरल ७६५ ।
११ कुरल ७६४ ।

राजा के साथ रहकर प्रहार सह सकती है।[१] सेना के लिए श्रेष्ठ रक्षक हैं—शौर्य, सम्मान, उत्साहवर्द्धन एवं विश्वासपात्रता।[२] आक्रमण करने वाली सेना को रोक कर, उसकी गति से अवगत हो युद्ध मे अग्रसर होने वाली सेना ही उत्तम है।[३] इस प्रकार की सेना में अनेक स्थायी वीर होने पर भी यदि सेनानायक न हो तो वह सेना ही नहीं है।[४] यदि सेना क्षीणता, स्थायी घृणा एव निर्धनता से मुक्त हो तो उसकी विजय निश्चित है।[५] सेनानायक इतना प्रबल वीर हो कि उसके सामने डटना मृत्यु का आवाहन माना जाये।[६] वल्लुवर वीरत्व का प्रयोग दुर्बल पर नहीं अपितु प्रबल पर करने का परामर्श देते हैं। जंगली खरगोश पर अचूक बाण प्रहार करने की अपेक्षा हाथी पर चूकते हुए भी भाला प्रयोग करना श्रेयस्कर है।[७] दया एवं कठोरता का अद्भुत सम्मिश्रण वीर व्यक्ति मे होना चाहिए। शत्रु पर की गयी निर्दयता महान् पौरुष है पर यदि उस पर कोई दुःख आन पड़ा हो तो उसकी सहायता करना इस पौरुष का प्रखर रूप है।[८] वीर सैनिक का शौर्य उसमे आश्चर्यजनक क्षमता उत्पन्न कर देता है, विकट युद्ध के समय अपने हाथ के भाले को शत्रु के हाथी पर प्रहार करके लौटते समय वीर सैनिक की छाती पर शत्रु द्वारा फेंका गया भाला चुभ जाता है, वह प्रसन्न होता है, क्योंकि शत्रु पर प्रयोग करने के लिए उसे एक और भाला प्राप्त हो गया है।[९] वीर व्यक्ति के जीवन में वही दिन महत्त्वपूर्ण है जब वह युद्ध मे बड़े घाव प्राप्त करता है, अन्य दिनो को तो वह व्यर्थ मानता है।[१०]

प्रतिज्ञा कर, आवश्यकता होने पर युद्ध मे मृत्यु का वरण करने को प्रस्तुत रहने वाले वीर के दोषो को कौन विचारता है?[११] तिरुवल्लुवर वीर व्यक्ति के लिए उस मृत्यु को काम्य मानते हैं जिससे उसके राजा के नेत्रो मे भी अश्रु आ जायें।[१२] इस प्रबल वीर के नेत्र सामने से शत्रु द्वारा भाला फेंके जाने पर भी नही झपकते, ऐसे वीर तो मृत्यु से खिलवाड़ करते हैं।[१३]

निष्कर्ष रूप मे वल्लुवर का सेना, सेना-शौर्य एव सगठन का वर्णन काव्यमय पद्धति पर है। क्रमबद्ध, तर्कपूर्ण, विश्लेषण पर आधृत दृष्टि लेकर शास्त्रीय पद्धति नही अपनायी गई। सामाजिक जीवन मे शौर्य, पराक्रम के महत्त्व की स्वीकृति देते हुए वह क्षमा एव अपने से अधिक प्रबल व्यक्ति अथवा राज्य के साथ सघर्ष को ही मान्य करार देते हैं। अवसरानुकूल दयाभाव एव दुर्बल की रक्षा का भी दायित्व वीर योद्धाओ पर ही है, ऐसी उनकी मान्यता है।

१ कुरल ७६२।
२ कुरल ७६६।
३ कुरल ७६७।
४ कुरल ७७०।
५ कुरल ७६९।
६ कुरल ७७१।
७ कुरल ७७२।
८ कुरल ७७३।
९ कुरल ७७४।
१० कुरल ७७६।
११ कुरल ७७९।
१२ कुरल ७८०।
१३ कुरल ७७५।

मैत्री—मनु ने राजा के लिए अच्छे मित्र के गुणों का वर्णन करते हुए कहा है—राजा सोना एवं भूमि पाकर इतना समृद्धिशाली नहीं होता जितना कि अटल मित्र पाकर, भले ही वह मित्र कम कोष वाला हो क्योंकि भविष्य में वह शक्तिशाली हो जायेगा। एक लघु मित्र भी यदि गुणवान् एवं कृतज्ञ हो, उसकी प्रजा सन्तुष्ट हो और वह अपने हाथ में लिए हुए कार्य को अन्त तक करने वाला दृढ़प्रतिज्ञ हो तो वह श्लाघनीय है।[1] याज्ञवल्क्य का मत मनु के ही सदृश है। 'हिरण्य का लाभ और भूमि का लाभ—इन दोनों लाभों से श्रेष्ठ मित्र का लाभ होता है। अतएव मित्र की प्राप्ति के लिए यत्न करना चाहिए।'[2] कौटिल्य का मत इनसे नितान्त भिन्न है—'भूमि लाभ हिरण्यलाभ एवं मित्रलाभ से श्रेयस्कर है तथा हिरण्यलाभ मित्रलाभ से श्रेयस्कर है।[3]

कौटिल्य ने मित्र उन्हें माना है जो वंशपरम्परागत हो, स्थायी हो, अपने वश में रह सकें, जिनके विरोध की सम्भावना न हो, प्रभु, मन्त्र, उत्साह आदि शक्तियों से युक्त जो समय आने पर सहायता कर सकें।[4] कामन्दक के अनुसार मित्र के गुण हैं—हृदय की पवित्रता, दयालुता, वीरता, सुख-दुःख में साथ देना, प्रेम, मित्र का कार्य सम्पन्न करने में जागरूकता, सत्यभाव, एवं मित्र द्वारा वांछित उद्देश्यों के प्रति श्रद्धा।[5]

तिरुवल्लुवर ने 'मित्रता' के विषय पर विस्तृत विवेचन किया है। उनके कथन 'राजा' के विषय में तो सत्य हैं ही, मानव-मात्र के लिए भी मार्ग-दर्शन हैं। मित्रता (नट्पु), मित्रता का विवेचन (नट्पुआरायदल्), चिर-परिचय (पळैमै), निकृष्ट मित्रता (तीनट्पु), झूठी मित्रता (कूडानट्पु) इन पांच शीर्षकों के अन्तर्गत वल्लुवर ने मैत्री-सम्बन्धों, उसके लिए आवश्यक विचार-पूर्ण चुनाव, झूठी मित्रता की स्थिति एवं आदर्श-मैत्री के लिए आवश्यक त्याग-भाव पर विचार किया है।

तिरुवल्लुवर बुद्धिमानों की मित्रता करने का परामर्श देते हैं क्योंकि उनकी मित्रता बढ़ते हुए बालचन्द्र के समान आनन्ददायिनी होती है जबकि मूर्खों की मित्रता घटते हुए पूर्णचन्द्र के समान होती है।[6] इस प्रकार के बुद्धिमान सज्जनों की मैत्री अधिकाधिक सम्पर्क में

---

१. हिरण्यभूमिसंप्राप्त्या पार्थिवो न तथैधते।
यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम्।
धर्मज्ञं च कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च।
अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघुमित्रं प्रशस्यते॥—मनु० ७।२०८, २०९।

२ हिरण्यभूमिलाभेभ्यो मित्रलब्धिर्वरा यतः।
अतो यतेत तत्प्राप्त्यै रक्षेत्सत्यं समाहितः॥—याज्ञवल्क्य०, १।३५२।

३ सहितप्रयाणे मित्रहिरण्यभूमिलाभानामुत्तरोत्तरो लाभः श्रेयान्। मित्रहिरण्ये हि भूमिलाभाद् भवतः। मित्रहिरण्यलाभाद्यो वा लाभः सिद्धः शेषयोरन्यतरं साधयति॥
—कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, ७।९। (धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० ६८८)

४ पितृपैतामहं नित्यं वश्यमद्वैध्यं महल्लघुसमुत्थमिति मित्रसम्पत्॥
—कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, ६।९६।१।१।

५. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० ६८९।

६ कुरल ७८२।

आने पर उसी प्रकार आनन्दप्रद होती जाती है जिस प्रकार अधिकाधिक अध्ययन से काव्य के रसोद्‌बोधन मे वृद्धि होती है।[१] यह मित्रता हृदय को आनन्द प्रदान करने का स्रोत होती है।[२] मनुष्य के कर्म का अनुपम रक्षक मित्र ही है।[३] दुख या विनाशकाल मे इस प्रकार का मित्र विनाशकारी तत्त्वो को हटाकर अच्छे मार्ग पर ले जाता है।[४] ओढ़े हुए वस्त्र के खुलने पर जिस प्रकार हाथ तुरन्त वहा पहुचकर शरीर को ढक लेता है[५] उसी प्रकार मित्र के दुख का तत्काल निवारण करना ही मैत्री है।[६] इस प्रकार की मैत्री का तो केवल अनुभव होता है कथन नही किया जाता क्योंकि 'मेरे ये मित्र ऐसे सहायक हैं और हम उनके ऐसे हैं'—इस प्रकार गौरवान्वित करते हुए कहने से मित्रता की महिमा मद पड जाती है।[७] मित्र का अधिकार केवल हसी और आनन्द का नही अपितु सीमोल्लघन होने पर आगे बढकर डाटने का भी है।[८] ये मित्र कभी विलग नही होते और यथासम्भव सहायता करते रहते हैं।[९]

इस प्रकार के महत्त्वपूर्ण व्यक्ति का चुनाव निश्चय ही सावधानी की अपेक्षा करता है। मित्र बनने के पश्चात स्नेहपूर्ण व्यक्ति के लिए स्वतन्त्रता नही रहती अत विवेचन के उपरान्त ही मित्र बनाना चाहिए।[१०] पूर्ण विवेचन के अभाव मे मैत्री सम्बन्ध करना मृत्यु-सदृश भयकर हो सकता है।[११] इसे ध्यान मे रख गुण, वश, दोष तथा स्थायी बन्धुओ के स्वभाव को समझ कर,[१२] उच्चकुलोत्पन्न, अपने दोषो पर लज्जित होने वाले,[१३] आवश्यकता पड़ने पर डाट-डपट कर लोक-रीति का ज्ञान कराने वाले,[१४] विषम परिस्थिति में साथ न छोडने वाले[१५] निर्मल स्वभाव वाले सज्जन की मैत्री करनी चाहिए।[१६] विपत्ति के समय जो साथ छोड दे, ऐसे लोगो की मित्रता का मृत्युकाल मे स्मरण हृदय को तप्त कर देगा।[१७] वल्लुवर तो यहां तक कहते हैं कि विपत्ति मे भी एक प्रयोजन निहित है—वह मित्र के स्वभाव की विशालता का

---

१ कुरल ७८३।
२ कुरल ७८६।
३ कुरल ७८१।
४ कुरल ७८७।
५ कुरल ७८८।
६ कुरल ७८८।
७ कुरल ७९०।
८ कुरल ७८४।
९ कुरल ७८९।
१० कुरल ७९१।
११ कुरल ७९२।
१२ कुरल ७९३।
१३ कुरल ७९४।
१४ कुरल ७९५।
१५ कुरल ७९८।
१६ कुरल ८००।
१७ कुरल ७९९।

आपदप्रद है।[1] असम्बद्ध, मूर्ख व्यक्ति की मित्रता, कुछ देकर ही सही, छोड़ देना लाभप्रद है।[2] मित्रता की स्वीकृति के उपरान्त मित्र के उचित-अनुचित सभी कर्मों को भी स्वीकार करना पड़ता है। वल्लुवर कहते हैं—'चिर परिचित मित्रता से क्या प्रयोजन, यदि मित्र के अधिकार पूर्ण किए हुए कर्म को स्वयं किया हुआ जैसा न माना ?'[3]

मित्रता के इस आदर्श रूप के साथ ही वल्लुवर ने सम्भव व्यावहारिक रूप का संकेत भी दिया है। निकृष्ट मित्रता को परखने के कुछ आधारों को स्पष्ट किया है। घर में एकान्त में मैत्री प्रकट करना और भरी सभा में निन्दा करना, अपना लाभ हो तो मैत्री करना अन्यथा सम्बन्ध-विच्छेद कर लेना, स्वलाभ को प्राथमिकता देना,[4] सम्भव कर्म को भी असम्भव बना देना,[5] कथनी कुछ और करनी कुछ[6] इत्यादि कुछ आधार ऐसे हैं जो मैत्री और निकृष्ट मैत्री में अन्तर करते हैं। वल्लुवर का कहना है कि अपने लाभ को समक्ष रखने वाले मित्र, धनाश्रित वेश्याएं और लुटेरे एक समान हैं।[7] मूढ़ व्यक्ति की मैत्री की अपेक्षा बुद्धिमान की शत्रुता कोटिगुणा लाभप्रद है।[8] अन्तर से कटु पर बाहर से हंसमुख की मित्रता की अपेक्षा शत्रु की घृणा दश कोटि गुणा लाभदायक है।[9] असभ्य व्यक्ति की मित्रता प्रत्यक्षत कितना ही आनन्द प्रदान करे, पर उसके घनिष्ठ होने से शिथिल पड़ना अधिक रुचिकर होता है,[10] इसलिए वल्लुवर का दृढ़ मत है कि युद्ध क्षेत्र में योद्धा को गिराकर भाग जाने वाले मूढ़ अश्व जैसे व्यक्ति की मित्रता की अपेक्षा अकेला रहना श्रेयस्कर है।[11]

निकृष्ट मैत्री में मित्र मूढ़, असभ्य, अपने लाभ को प्राथमिकता देने वाला, कथनी-करनी में भेद करने वाला होता है पर यहां हृदय में मित्र को सप्रयास हानि पहुंचाने का भाव-नहीं रहता। यह स्थिति झूठी मित्रता से भिन्न है। यहां जागरूक रूप से हानि करने का लक्ष्य नहीं रहता, जबकि झूठी मित्रता में ऐसा होता है। वल्लुवर इस प्रकार के मित्र-वेश में शत्रु से सावधान रहने का संकेत देते हैं। ये लोग बाहर से बन्धु बने हुए भी हृदय से बन्धु नहीं होते। इनकी मित्रता वेश्या के मन के समान अस्थिर होती है।[12] मुख पर मधुर हास्य सहित रहकर

---

१ कुरल ७९६।

२ कुरल ८००, ७९७।

३ कुरल ८०३।

४ कुरल ८२०, ८१२, ८१३।
तुलनीय 'करोत्यभीक्ष्ण संसृष्टमसंसृष्टश्च भाषते।'
एवं, 'परोक्षमगुणानाह सद्गुणानभ्यसूयते।' —महा० शान्ति० १०३।४८,४९।

५. कुरल ८१८।

६ कुरल ८१९।

७ कुरल ८१३।

८ कुरल ८१६।

९ कुरल ८१७।

१० कुरल ८११।

११ कुरल ८१४।

१२ कुरल ८२२।

मन में वंचना से युक्त रहने वाले व्यक्तियों से सतर्क रहना चाहिए।[१] मैत्री मे हृदयों का मिलना आवश्यक है अत जिससे मन न मिले उसके कथनों पर विश्वास न करे।[२] मित्र के समान लाभ-प्रद, अच्छे विषयों का कथन करने पर भी शत्रुओ के वचनो की पहचान हो जायेगी।[३] सम्भव है कि शत्रु के विनय-युक्त हाथो मे शस्त्र छिपा हुआ हो, अत उसके आसुओ पर भी विश्वास न करो। समाज मे आपकी प्रशस्ति गाकर, हृदय में निन्दा का भाव रखने वालों के साथ प्रत्यक्षत मधुर सम्बन्ध रखो, पर उनको समाप्त कर डालो।[५] शत्रु का विरोध करने मे असमर्थ हो तो झूठी मित्रता कर उसका सामना करो।[६] शत्रु आपके समक्ष झुकने लगे तो भी उसका *विश्वास न करो क्योकि धनुष का झुकाव हानि की पूर्व-सूचना देता है।*[७] *सद्ग्रन्थो के अध्ययन* के उपरान्त भी शत्रु-स्वभाव वाले के हृदय की घृणा दूर नही होगी।[८]

दुर्ग (किला अथवा राजधानी)—याज्ञवल्क्य ने लिखा है कि दुर्ग की स्थिति से राजा की सुरक्षा, प्रजा एव कोष की रक्षा होती है।[९] मनु ने राजधानी का स्थान दुर्ग से पूर्व माना है। मेधातिथि एव कुल्लूक के अनुसार राजधानी पर शत्रु के अधिकार से गम्भीर भय उत्पन्न हो जाता है क्योकि, 'वही सारा भोज्य पदार्थ एकत्र रहता है, वही प्रमुख तत्त्व एव सैन्यबल का आयोजन रहता है अत यदि राजधानी की रक्षा की जा सके तो परहस्तगत राज्य लौटा लिया जा सकता है और देश की रक्षा की जा सकती है।'[१०] दुर्ग के निर्माण का कारण स्पष्ट करते हुए मनु ने कहा है—दुर्ग मे निवास करने वाले राजा को शत्रु जीत नहीं सकता। किले मे रहने वाला एक धनुर्धारी सौ योद्धाओ से और सौ धनुर्धारी योद्धा दस हजार योद्धाओ से लडते है। इस कारण राजनीतिज्ञ दुर्ग की प्रशसा करते हैं।[११]

वल्लुवर के अनुसार दुर्ग कर्मठ योद्धाओं के लिए भी महत्त्वपूर्ण है और भयभीत जन के लिए भी रक्षा का कार्य करता है। दुर्ग के लिए आवश्यक उपकरणो मे माणिक्य के समान स्वच्छ जल, विशाल भूभाग, ऊचे पर्वत एव शीतल छाया से युक्त सुन्दर वन हैं। यह दुर्ग ऊचाई, चौडाई (विस्तार), दृढता तथा दुर्जेयत्व से सम्पन्न होना चाहिए। सुरक्षा की दृष्टि से छोटे स्थान का भी निर्माण किया जाता था और साधारण व्यवहार के लिए अत्यधिक विशाल स्थल भी रखा

---

१ कुरल ८२४।
२ कुरल ८२५।
३ कुरल ८२६।
४ कुरल ८२८।
५ कुरल ८२९।
६ कुरल ८३०।
७ कुरल ८२७।
८ कुरल ८२३।
९ तत्र दुर्गाणि कुर्वीत जनकोशात्मगुप्तये ।।—याज्ञवल्क्य०, १।३२१।
१० धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० ६६३।
११ तथारयो न हिंसन्ति नृप दुर्गसमाश्रितम् ।।—मनु० ७।७३।
एक शत योधयति प्राकारस्थो धनुर्धर.।
शत दश सहस्राणि तस्माद्दुर्गं विधीयते ।।—वही, ७।७४।

जाता था। इसके भीतर प्रचुर खाद्य सामग्री, सभी आवश्यक पदार्थ एव अन्य साधारण सुविधाओं का आयोजन रहता था। आवश्यकता पडने पर विषम परिस्थितियों में सहायता प्रदान करने के लिए यह दुर्ग योग्य वीरो से युक्त होता था। इसके निर्माण मे यह ध्यान रखा जाता था कि घेरा डालकर अथवा घेरा डाले बिना युद्ध करके, अथवा षड्यन्त्र इत्यादि से इसे हस्तगत न किया जा सके। यदि शत्रु अपनी प्रवीणता से घेरा डालने में सफल हो जाए तो भी दुर्ग के भीतर ही सुदृढ़ रह कर युद्ध करने के लिए आवश्यक शक्ति (धन-धान्य, युद्ध-सामग्री, अन्य आवश्यक सुविधाए) की व्यवस्था का उल्लेख हुआ है।[१]

तिरुवल्लुवर और कबीर के काव्य मे धर्म-विषयक मान्यताओ मे अद्‌भुत साम्य है, परन्तु अर्थ-विषयक विवेचन-पद्धति पर्याप्त भिन्न है। तिरुवल्लुवर काव्यमय पद्धति से, क्रमबद्ध विवेचन कर आदर्श राजा, अमात्य एव राज्य के अन्य अगो का उल्लेख करते हैं। कबीर के लिए इन सबका कोई महत्त्व नही। उनके काव्य मे 'गढ' प्राय शरीर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—'छूटी फौज आनि गढ़ घेर्‌यौ उडि गयौ गूडर छाडि तनी,'[२] 'पच चोर गढ मझा गढ लूटै दिवस से सझा'[३] इत्यादि से दृष्टि-वैभिन्य स्पष्ट है। रावण ने कचन के कोटि गढ़ निर्मित किए पर उसे भी मृत्यु का ग्रास बनना पडा[४] इत्यादि कथनो के मूल मे जगत् की असारता, जीवन की नश्वरता का स्वर ही प्रमुख रहा है। राजा का उल्लेख करते हुए स्पष्ट किया जा चुका है कि युगीन परिस्थितियो से बाध्य होकर कबीर ने आदर्श की कल्पना 'राम' के माध्यम से की और तत्कालीन राजाओ के अनुचित कर्मों की तीव्र आलोचना एव भर्त्सना करते हुए दृष्टि प्राय यह रही कि 'सोभा राज बिभव बडि पाई, अत न काहु सग सहाई।'[५] अमात्य, दूत, गुप्तचर इत्यादि का वर्णन कबीर में नही हुआ, इस दृष्टि वैभिन्य का कारण उद्देश्य-वैभिन्य के अतिरिक्त युग-वैभिन्य भी है।

---

१. तिरुक्कुरल, अध्याय ७५।
२ कबीर ग्रथावली, पृ० ६१।
३. वही, पृ० १३२।
४ जिन गढ़ कोटि किए कचन के छोड गया सो रावन।—वही, पृ० २२०।
५. वही, पृ० २०५।

खण्ड (ख)

वर्गीकरण का आधार

राज्य का उद्देश्य है—लोकसंग्रह, लोक-कल्याण। यह दो रूपों में सम्भव है—राज्य के द्वारा, प्रजा के द्वारा। तिरुवल्लुवर-काव्य का प्रथम उद्देश्य 'मानव' है—उच्च कोटि के सज्जन, सदाचारी, धर्म के मार्ग पर दृढ, समाज-कल्याण की प्रेरणा से ओतप्रोत 'मानव'। इस दृष्टि से समाज के साधारण प्राणी से लेकर राजा, अमात्य अथवा राज्य के संचालन मे संलग्न समस्त व्यक्ति इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कार्यरत हैं। फलत जो नियम राजा, अमात्य इत्यादि के लिए हैं, वही नियम न्यूनाधिक रूप मे समाज के प्रत्येक मनुष्य के लिए हैं। केवल अधिकारी वर्ग के लोगो के विशिष्ट गुण-सम्पन्न होने से समाज का स्तर ऊंचा नही होता, समाज का विकास समाज के प्रत्येक मनुष्य के स्तर पर निर्भर करता है। इस दृष्टि से हम मानव के विकास की प्रक्रिया पर विचार करें तो जन्म के उपरान्त परिवार मे धीरे-धीरे विकास करता हुआ बालक वय-प्राप्ति तक शिक्षा ग्रहण करता हुआ, साधारण गुणो को विकसित करता है। विकास की प्रक्रिया मे एक स्थिति सामाजिक सम्बन्धो की आती है। संगी-साथियो का चुनाव, सामाजिक सम्बन्धो मे मीठे-कड़ुवे अनुभव और अनुशासित जीवन के लिए आवश्यक गुणो यथा शिष्टाचार, लज्जाशीलता इत्यादि से उसका परिचय होता है। दिन-प्रतिदिन के कर्म करते हुए वह कर्म, शक्ति, समय, स्थल इत्यादि के अतिरिक्त कर्म की रीति से अवगत होता है। यही नहीं अनेकानेक प्रयत्नो के उपरान्त भी समाज मे त्रुटिया रहेंगी ही यथा मूढता, दरिद्रता, याचना इत्यादि। इनको सामाजिक जीवन की रूपरेखा से विलग कर पाना व्यावहारिक रूप मे कभी सम्भव नहीं हो पाया। इस दृष्टिकोण से हमने वल्लुवर-काव्य के अर्थ-खण्ड (पोरुल्) के सामाजिक-जीवन को, अध्ययन की सुविधा के लिए, निम्न उपखण्डो मे विभाजित किया है—

(अ) मानव के विकास की प्रक्रिया
(आ) सामाजिक सम्बन्धो के विभिन्न रूप
(इ) कर्म की विधि
(ई) सामाजिक जीवन का दुर्बल पक्ष

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि राजा, अमात्य, दूत, गुप्तचर इत्यादि के लिए विशिष्ट गुणो की आवश्यकता है। यह आवश्यकता सामाजिक जीवन मे उस विशिष्ट दायित्व की पूर्ति के लिए है पर समाज का प्रत्येक प्राणी भी कुछ निश्चित गुणो से सम्पन्न होना चाहिए। यह आदर्श की स्थिति है और व्यवहार के लिए आदर्श की कल्पना अनिवार्य आवश्यकता है। वल्लुवर जानते हैं कि यह आदर्श है, व्यवहार में कुछ अन्तर आना स्वाभाविक है। फलत वह कुछ सन्दर्भों में व्यवहार का उल्लेख करते हैं। मूढता, अहंकार, दरिद्रता, याचना इत्यादि व्यवहार के कटु-सत्य हैं जिनसे सामाजिक जीवन स्वयं को असपृक्त नहीं कर सकता।

मानव के विकास की प्रक्रिया

माता-पिता के प्रेम और दुलार मे विकास प्राप्त करता हुआ बालक समाज मे अपनी प्रथम स्थिति से अवगत होता है। शिक्षा की प्रक्रिया यही से प्रारम्भ होती है। मानव की आन्तरिक मूलभूत शक्तियो का विकास और उनका ज्ञान ही शिक्षा है। शिक्षा की प्रबल आवश्यकता को स्वीकार करते हुए वल्लुवर कहते हैं—'अक' और 'अक्षर' प्राणिमात्र के नेत्र कहलाते हैं।[1] जो शिक्षित हैं वे नेत्रयुक्त हैं, अशिक्षित के नेत्र तो मुख पर दो घाव-मात्र हैं।[2] इसलिए आवश्यक विषयो का निर्दोषपूर्ण अध्ययन करना चाहिए तदनन्तर उनके अनुसार व्यवहार करने मे स्थिर रहना चाहिए।[3] शिक्षा पृथ्वी के कुए के समान है, कुआ जितना गहरा खुदेगा, उतना ही अधिक जल निकलेगा, व्यक्ति जितनी अधिक शिक्षा प्राप्त करेगा उतनी ही तीव्र उसकी बुद्धि बनेगी। इस प्रकार के विद्वान् का मिलन आनन्दप्रद और उससे बिछुडना हृदय को व्यथित करता है। शिक्षित के लिए सभी देश और सभी नगर अपने बन जाते है। शिक्षा ग्रहण करने वाले के लिए भी आनन्दप्रद है एव ससार के लिए भी आनन्द का स्रोत है, फलत बुद्धिमान इसका अधिकाधिक उपार्जन करने की इच्छा करते है। यह एक अनश्वर, महान् सम्पत्ति है।[5] इस प्रकार शिक्षा का महत्त्व प्रतिपादित कर मानव के विकास की प्रक्रिया मे उसकी आवश्यकता कवि ने सिद्ध की है, पर इस विषय को सकारात्मक रूप मे उपस्थित करने के उपरान्त नकारात्मक रूप को भी ग्रहण किया। यदि शिक्षा इतनी महत्त्वपूर्ण है और सामाजिक जीवन के लिए अत्यावश्यक है तो अशिक्षा का उल्लेख कर शिक्षा के अभाव से उत्पन्न दोषो का भी वर्णन कवि-कर्म के अन्तर्गत आ गया।

जुए के नियमो को समझे बिना पासे खेलना पराजय की ओर कदम है, तत्त्व-युक्त ग्रन्थो के अध्ययन के बिना विद्वत्-सभा मे प्रवेश करना इससे भिन्न नही।[6] अशिक्षितो की तुलना मे विशद ज्ञान-ग्रन्थो मे निष्णात व्यक्ति ठीक उसी प्रकार है जैसे पशुओ की तुलना मे मानव।[7] उरोज-रहित नारी की प्रेम करने की अभिलाषा और विद्वत्-सभा मे अशिक्षित के भाषण करने की अभिलाषा एक समान है।[8] यद्यपि अशिक्षित भी जीवित कहलाते है पर वह निष्प्रयोजन ऊसर भूमि के समान है।[9] श्रेष्ठ कुल मे उत्पन्न होकर भी अशिक्षित का सम्मान

---

१ कुरल ३९२।

२ कुरल ३९३।

३ कुरल ३९१, ३९६, ३९४, ३९७।
 तुलनीय विद्यायोगस्तु सर्वेषा पूर्वमेव विधीयते।
 कार्याकार्यं विजानन्ति विद्यया देवि नान्यथा ॥—महा० अनु०, १४५।

४ कुरल ३९९।

५ कुरल ४००।

६ कुरल ४०१।

७ कुरल ४१०।

८ कुरल ४२०।

९ कुरल ४०६।

नहीं और निम्नकुल में जन्म लेकर भी शिक्षित सम्माननीय है।[1] सूक्ष्म, श्रेष्ठ एव तीव्र बुद्धि से रहित व्यक्ति का रूप-लावण्य शुभ्र मिट्टी से निर्मित गुड़िया के सुन्दर रूप के सदृश ही है। शिक्षित के सम्मुख मौन धारण किये रहे तो अशिक्षित भी बड़े सभ्य माने जायेंगे।[2]

कथन से श्रवण का महत्त्व अधिक है। श्रवण के माध्यम से अशिक्षित व्यक्ति भी ज्ञान की प्राप्ति कर सकता है। ग्रन्थ-ज्ञान और सज्जनो की आत्मानुभूति से उत्पन्न ज्ञान में एक निश्चित अन्तर है। विद्वज्जनो के कथन ग्रन्थ-ज्ञान को विकास प्रदान करते हैं और व्यक्ति को व्यावहारिक जीवन का वास्तविक रूप दर्शाते हैं। जिह्वा का स्वाद निम्न है, विद्वानो के सरस वचन सुनने का स्वाद अनुपम है। सूक्ष्म-श्रवण से वञ्चित व्यक्ति नम्र भाषी नही हो सकता। सच्चरित्र के कथन फिसलन पर चलते समय आधार-दण्ड के समान सहायक होते हैं। विद्वानों के कथन में इतना रस है कि उसे सुनते हुए व्यक्ति खाना-पीना तक विस्मृत कर बैठता है।[3] अच्छी बात प्रत्येक की सुननी चाहिए क्योंकि अवसर आने पर वह विशिष्ट गौरव का कारण बनती है। श्रवण से प्राप्त ज्ञान की सम्पत्ति सभी सम्पत्तियो से श्रेष्ठ है।[4] इन कथनो को सही परिप्रेक्ष्य मे देखने की बात वल्लुवर ने 'अरिवुडैमै' अर्थात् 'बुद्धिमत्ता' अध्याय में कही है—कोई विषय चाहे किसी से सुनें, उसमे निहित सत्य को देखना ही बुद्धिमत्ता है।[5]

शिक्षा की प्राप्ति, अशिक्षा का त्याग एव श्रवण से प्राप्त ज्ञान के उपरान्त ही व्यक्ति बुद्धि-सम्पन्न होता है। इस स्थिति तक आते-आते सामाजिक जीवन मे वह प्रवेश कर चुका है। वल्लुवर ने इस स्थल मे 'बुद्धिमत्ता' की व्याख्या की है। मन का नियन्त्रण इस सन्दर्भ मे प्रबल आवश्यकता है। सभी इच्छित स्थानो पर मन को जाने से रोक कर अशुभ से हटा कर, शुभ मार्ग की ओर प्रवृत्त करना बुद्धिमत्ता है।[6] बुद्धि विध्वस मे रक्षा करने का साधन और शत्रुओ से भी नष्ट न होने वाला सुदृढ दुर्ग है। इस स्थल पर वल्लुवर व्यावहारिकता को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—जैसा व्यवहार लोक मे हो, उसी प्रकार का व्यवहार करना बुद्धिमत्ता है।[7] अपने विचारो को सरल रूप मे स्पष्ट करना, दूसरे के गम्भीर तत्त्वो को समझने का प्रयास करना,[8] लोक को मित्र बनाना, मित्र के सम्मुख और पीछे सद्भाव बनाए रखना,[9] बुद्धिमत्ता

---

१ कुरल ४०९।
२ कुरल ४०७, ४०३।
३ कुरल ४२०, ४१९, ४१५, ४१२।
४ कुरल ४१६, ४११।
५ कुरल ४२३।
६ कुरल ४२२, तुलनीय तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वश।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।
—गीता, २।६८।
एव यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथे ॥
—कठोपनिषद्, १।३।६।
७ कुरल ४२१, ४२६।
८ कुरल ४२४।
९ कुरल ४२५।

के साधारण परिणाम हैं। इस प्रकार के व्यक्ति भविष्य को देखने में समर्थ दूरदर्शी होते हैं।[१] बुद्धिमान के पास कुछ भी न हो तो भी वह सर्वसम्पन्न है, बुद्धिहीन सर्वसम्पन्न होकर भी कगाल है।[२]

ज्ञान की प्राप्ति के उपरान्त अन्य गुणो के विकास पर दृष्टि डालनी चाहिए। वल्लुवर ज्ञान के ऐकान्तिक रूप की स्वीकृति नही देते। उनके लिए ज्ञान का विस्तार, उसका सामाजिक वितरण आवश्यक है। स्वय अध्ययन किये हुए ग्रन्थो को दूसरो को समझाने की शक्ति से रहित व्यक्ति गधहीन पुष्प-गुच्छ के समान होते हैं।[३] थोडे से निर्दोष शब्दो में विचारो की अभिव्यक्ति करने मे समर्थ व्यक्ति ही सफल हैं।[४] बोल वह जो सुनने वाले को वशीभूत कर ले और न सुनने वालो मे भी सुनने की इच्छा उत्पन्न कर दे।[५] विचारो को सवार कर कथन करने वाले मधुर-भाषी के आदेश शीघ्र ही सारा ससार सुनेगा।[६] वाक्पटुता विशिष्ट गुण है,[७] 'शब्द' विकास और विनाश दोनो का कारण है।[८] अत शब्द की शक्ति को समझकर उसका प्रयोग करना चाहिए।[९] स्वय प्रिय कथन करना, दूसरो के कथनो के प्रयोजन को हृदयगम करना निर्मल स्वभाव वाले महान् व्यक्तियो का सिद्धान्त है।[१०] वाक्पटु, निरालस्य और निर्भीक व्यक्ति से कोई विरोधी नही जीत सकता।[११]

शिक्षित, ज्ञानी, 'शब्द' पर नियन्त्रण रखने वाले व्यक्ति के लिए भी सभा एक परीक्षा होती है। सभा को समझना, सभा के अनुकूल व्यवहार करना, सामाजिक जीवन मे सदा महत्त्वपूर्ण रहा है। वल्लुवर इस विषय मे कुछ आधारभूत सकेतो के माध्यम से विद्वज्जनों का मार्गदर्शन करने का प्रयास करते हैं। श्रेष्ठ विद्वानो की सभा के प्रभावोत्पादन मे समर्थ मूर्खों की सभा में भूलकर भी न बोले।[१२] स्वजन से रहित सभा मे किसी विषय पर बोलना स्वीकार न करो अन्यथा वह अशुद्ध आगन मे गिराए गए अमृत के समान होगा।[१३] शब्दो के क्रम की शक्ति का स्पष्ट ज्ञान रखने वाले सभा को समझकर, ध्यान मे शब्दो का व्यवहार करें।[१४] ज्ञान-सम्पन्न व्यक्ति को पहले श्रोताओ के श्रवण की अभिलाषा को स्पष्टत समझना चाहिए और

---

१. कुरल ४२७।
२ कुरल ४३०।
३ कुरल ६५०।
४ कुरल ६४९।
५. कुरल ६४३।
६ कुरल ६४८।
७. कुरल ६४१।
८ कुरल ६४२।
९. कुरल ६४४।
१० कुरल ६४६।
११. कुरल ६४७।
१२ कुरल ७१९।
१३ कुरल ७२०।
१४ कुरल ७११।

फिर उसी के अनुसार शब्दों का प्रयोग करना चाहिए।[1] जो व्यक्ति सभा को समझे बिना कुछ कथन करते हैं वे शब्दों की रीति से अनभिज्ञ होते हैं।[2] अध्ययन-सम्पन्न व्यक्ति की विद्या विशुद्ध-रूप से शब्दों के भाव को समझने वाले विद्वान् के सम्मुख ही प्रकाशित होगी।[3] इसलिए श्रेष्ठ बुद्धि वाले व्यक्ति के सम्मुख बोलना विकसित हुई कृषि को जल से सिंचित करने के समान है।[4] बुद्धिमान के सम्मुख बुद्धिमान जैसा ही सम्भाषण करो, और बुद्धिहीन के सम्मुख सफेद चूने के समान वैसे ही बन जाओ।[5] इसी प्रकार श्रेष्ठ ज्ञानी के समक्ष बढ़-चढ़कर सम्भाषण न करने का संयम मनुष्य के प्रयोजन-सम्पन्न विषयो में प्रधान है।[6] सभा को समझ कर उसके अनुकूल आचरण करना विद्वान् का लक्षण है पर ज्ञान का विस्तार अभिव्यक्ति से होता है, विभिन्न ग्रन्थों के अध्ययन के उपरान्त भी विद्वत्-सभा से भयभीत होने वाले व्यक्ति अनपढ़ो से भी निम्न हैं।[7] निडर होकर सभा का सामना करने का परामर्श देते हुए वल्लुवर कहते हैं कि सभा मे भयभीत होने वाले के हाथ मे सद्ग्रन्थ वैसे ही व्यर्थ हैं जैसे संग्रामस्थल मे शत्रु से डरने वाले के हाथ मे तलवार।[8] जो विद्वत्-सभा को अपने भाषण से प्रभावित न कर सके उसका अनेकानेक ग्रन्थो का अध्ययन निष्प्रयोजन ही होता है। ऐसा व्यक्ति सप्राण होकर भी निष्प्राण-सदृश है।[9] सभा के सम्मुख निर्भीक भाषण देना संग्रामस्थल मे प्राण देने से भी कठिन है, इसीलिए वल्लुवर का कथन है—शत्रुओ के संग्राम-क्षेत्र मे समाप्त होने वाले तो अनेक होगे परन्तु विद्वत्-सभा मे निर्भीक रहने वाले विरले ही होगे।[10] इसी कथन को पुष्ट करने वाला एक अन्य कथन है—निडर वीर के अतिरिक्त अन्य का खड्ग से क्या सम्बन्ध? विद्वत्-सभा मे डरने वाले का सद्ग्रन्थो से क्या सम्बन्ध?[11] इसलिए विद्वानो की सभा मे जाने से पूर्व अपने से श्रेष्ठ विद्वानो से अन्य विषयो का अध्ययन कर लेना चाहिए,[12] एवं सभा में निर्भीक रूप से प्रत्युत्तर देने के लिए नियमपूर्वक तर्क-शास्त्र का सतर्क अध्ययन कर लेना आवश्यक है।[13] शब्दो के क्रम की शक्ति का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त कर, सभा की रीति को हृदयगम कर सभा के समक्ष जाने वाला व्यक्ति विद्वानो के मध्य अपने मुख मे अनुचित शब्द नही आने देगा।[14] अपने अध्ययन को विद्वानो के समक्ष प्रभावोत्पादक ढग से अभिव्यक्त करने मे सक्षम

---

१ कुरल ७१२।
२ कुरल ७१३।
३ कुरल ७१७।
४ कुरल ७१८।
५ कुरल ७१४।
६ कुरल ७१५।
७. कुरल ७२६।
८ कुरल ७२७।
९ कुरल ७२८, ७३०।
१० कुरल ७२३।
११ कुरल ७२६।
१२. कुरल ७२४।
१३. कुरल ७२५।
१४ कुरल ७२१।

व्यक्ति ही विद्वानों में विद्वान् कहलायेगा ।[1]

सामाजिक सम्बन्धो के विभिन्न रूप

राज्य के सन्दर्भ मे राजा के लिए श्रेष्ठ व्यक्तियों के साहचर्य को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है। यह कथन समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए भी सत्य है, अत सामाजिक सम्बन्धो के विभिन्न रूपो मे इसी प्रकार के अनेक कथनो का उल्लेख एव विवेचन किया जायेगा। कुछ कथन मन्त्री अथवा राज्य के किसी अन्य अधिकारी के गुण, कर्म इत्यादि के सन्दर्भ मे आए हैं पर प्रत्येक सामाजिक प्राणी उनका उपयोग कर सफलता के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है, इसी कारण उनको भी यहा समाहित कर लिया गया है। एक विशेष बात ध्यान देने योग्य है कि तिरुवल्लुवर ने कहीं भी यह नही कहा कि यह नियम अथवा सदेश केवल राजा अथवा अमात्य इत्यादि के लिए हैं। उनके कथनो के अध्ययन से यह ध्वनि अवश्य मिलती है कि यह प्रत्येक व्यक्ति के लिए ग्राह्य सर्वयुगीन सिद्धान्त हैं।

श्रेष्ठ व्यक्तियो से अभिप्राय 'धर्मज्ञ और ज्ञानी' व्यक्तियो से है। ऐसे सज्जनो की मैत्री उनकी महानता को समझ कर यथानुसार प्राप्त करनी चाहिए।[2] सिर पर आई विपत्ति को दूर कर, भविष्य मे सम्भव विपत्ति से, पहले से ही रक्षा करने मे योग्य व्यक्ति का सम्मान कर उससे साहचर्य स्थापित करो।[3] श्रेष्ठ व्यक्ति का सम्मान करके उन्हे अपना बना लेना दुर्लभ पदार्थों मे दुर्लभ है। पर जिसे योग्य एव श्रेष्ठ व्यक्तियो के साहचर्य की शक्ति प्राप्त होगी उसे शत्रु किसी प्रकार की बाधा नही पहुँचा सकते। मूलधन के बिना लाभ अप्राप्य होता है, सबल सहायक के अभाव मे स्थायित्व अप्राप्य होता है। सज्जनो की मैत्री का त्याग अनेक व्यक्तियो की शत्रुता से दस गुना हानिप्रद है।[4]

सज्जन की मैत्री आनन्द का कारण है तो कुसग दु ख का आधार है। इसलिए सज्जनो की मैत्री के तुरन्त उपरान्त वल्लुवर 'कुसग का त्याग' (सिट्रिनम् चेरामै) के अन्तर्गत कुसग के त्याग का परामर्श देते है। भूमि के गुण से जल मे परिवर्तन आ जाता है। मनुष्य भी सग के गुण के अनुकूल बुद्धि प्राप्त करता है।[5] मन एवं कर्म दोनो की शुद्धता, सग की शुद्धता पर निर्भर करती है।[6] मन की पवित्रता मानव का वैभव है, सग की विशुद्धता सकल सुयश प्रदान करती है।[7] मन पूर्णत पवित्र होने पर भी बुद्धिमान के लिए सग की पवित्रता विशिष्ट सहायक सिद्ध होती है।[8] मन की पवित्रता से स्वर्ग-सुख प्राप्त होता है और वह सग की पवित्रता से

---

१ कुरल ७२२।

२ कुरल ४४१।

३ कुरल ४४२। तुलनीय 'गुणवन्तो महोत्साहा धर्मज्ञा साधवश्च ये।
सदधीत नृपस्तैश्च राष्ट्र धर्मेण पालयन ॥
—महा० शान्ति० (भण्डारकर) १२।६६।१६।

४ कुरल ४४३, ४४६, ४४६, ४५०।

५ कुरल ४५२।

६. कुरल ४५५।

७ कुरल ४५७।

८ कुरल ४५८।

श्रेष्ठतर बनाता है।[1] मनुष्य की बुद्धि जो उसके मन में उपस्थित-सी प्रतीत होती है, वस्तुत उसके संग का ही परिणाम है।[1] वल्लुवर का मत है कि अच्छे सग से बढ़कर कोई सहायक नहीं और कुसग से बढ़कर अहितकर कोई शत्रु भी नहीं। इसलिए श्रेष्ठता कुसग से भयभीत होती है। नीचता ही उसे बन्धु मानकर उससे घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर लेती है।[1]

सामाजिक जीवन मे विश्वासपात्र सगी-साथी, सहयोगी का चुनाव एक कठिन कार्य है। इस प्रकार का सहयोगी न केवल दैनिक जीवन के सुचारु सचालन के लिए आवश्यक है, अपितु विशिष्ट अवसरो पर महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादन मे भी उसका योगदान होता है। तिरुवल्लुवर कुलीन, निर्दोष, एव अपयश से लज्जित होने वाले[2] मनुष्य को विश्वासपात्र बनाने का परामर्श देते हैं। श्रेष्ठता और नीचता को परखने की कसौटी मनुष्य के कर्म है।[3] किस कार्य के लिए कौन मनुष्य श्रेष्ठ है, इसका निर्णय करते समय उसकी धर्म, अर्थ, काम विषयक जीवन-दृष्टि एव प्राण-भय उत्पन्न होने पर उसकी प्रतिक्रिया का विचार करना चाहिए।[4] गुणो एव दोषों का विवेचन कर मनुष्य का विश्लेषण कर, विश्वासपात्र व्यक्ति का चुनाव करना चाहिए।[5] विश्वासपात्र व्यक्ति के चुनाव मे वल्लुवर का स्पष्ट मत है कि पूर्वाग्रह से युक्त होकर इसमे निर्णय न किया जाये। प्रेमवश उचित ज्ञान से रहित व्यक्ति का चुनाव तथा विश्लेषण किये बिना विश्वासपात्र बनाना, दोनो ही स्थितिया कष्टप्रद होगी।[6] बधु-बाधवहीन को विश्वास-पात्र नही बनाना चाहिए क्योकि वे ममताशून्य होने के कारण निन्दा से लज्जित नही होते।[7]

राज्य-सचालन के लिए राज्य के अधिकारियो का चुनाव और फिर क्षमता के अनुसार कर्म का विवरण एक महत्त्वपूर्ण स्थिति है। इसी प्रकार जीवन मे विभिन्न स्तरो पर अनेकानेक कार्यों की पूर्ति के लिए सत्पात्र की खोज, और खोज के उपरान्त पात्रानुकूल कर्म का विवरण भी पर्याप्त कठिन कार्य है। वल्लुवर ने इसके लिए कुछ आधारभूत सकेत दिए हैं जिनके माध्यम से इस स्थिति मे उचित निर्णय लेना सम्भव हो सकता है।

स्नेह, बुद्धि, निश्चलता एव निर्लोभिता—इन चार गुणो से पूर्णत युक्त व्यक्तियो मे ही निष्पक्ष निर्णय की क्षमता होती है।[8] परीक्षा चाहे किसी प्रकार भी की जाए मनुष्य का स्वभाव उसके विशिष्ट दायित्व के कारण परिवर्तित हो सकता है।[9] अत वल्लुवर का मत है कि कर्म का अधिकारी वही हो सकता है जो शुभाशुभ की सम्यक् समीक्षा करके शुभकर्म मे प्रवृत्त होने की

---

१ कुरल ४५६, ४५४, ४६०, ४५१।
२ कुरल ५०२।
३ कुरल ५०५।
४ कुरल ५०१।
५ कुरल ५०४, ५०१।
६ कुरल ५०७, ५१०।

तुलनीय त्रिवर्गभयसशुद्धानमात्यान् स्वेषु कर्मसु।
अधिकुर्याद् यथाशौच्यमित्याचार्या व्यवस्थिता ॥
—कौ० अर्थ० १।५।६।२।

७ कुरल ५०६।
८ कुरल ५१३।
९ कुरल ५१४।

क्षमता से युक्त हो।[१] कोई काम सौंपने से पहले देख लेना चाहिए कि अधिकारी व्यक्ति बुद्धि से काम लेगा; बाधाओं को सहकर भी कर्म को पूर्ण करेगा।[२] कर्म, कर्ता और अनुकूल समय—इन तीनों का विचार करके ही किसी कर्म में प्रवृत्त होना चाहिए।[३]

सामाजिक-जीवन का आधार पारस्परिक मधुर-सम्बन्ध एव सद्भाव-युक्त सहायता का भाव है। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि बन्धु-बाधव से सद्भाव एव सौहार्द बना कर रखा जाये। सुख-दु ख का चक्र विचित्र है, किसी भी व्यक्ति को सदा सुख अथवा सदा दुःख की प्राप्ति नहीं होती। अत सुख के क्षणो में बन्धु-बाधव सुख को द्विगुणित करते हैं तो दु.ख के अवसर पर उनकी सहानुभूति दु ख सहन करने की क्षमता प्रदान करती है।

वल्लुवर का कथन है—अटूट प्रेम से युक्त बन्धुवर्ग जिसे प्राप्त है वह अनेक प्रकार से निरन्तर विकासोन्मुख सौभाग्य प्राप्त करेगा।[४] यह बन्धुओं का ही गुण है कि किसी की दरिद्रता में भी उसे छोड़ें नहीं और पुराने सम्बन्ध बनाये रखें।[५] धनी का धन-प्राप्ति का प्रयोजन बन्धुओ को साथ मिलाये रहने के सद्व्यवहार मे है।[६] वल्लुवर का विचार है कि दानी, मधुर-वक्ता अक्रोधी, सदा निकट सम्बन्धियो से घिरा रहेगा।[७] जो मनुष्य बन्धुओ के साथ मिलनसार नहीं है उसका जीवन तट-रहित विस्तीर्ण जलाशय के समान है।[८] कौआ प्राप्त वस्तु को छिपाता नहीं अपितु पुकार कर अन्य बन्धुओ को बुलाता है, श्रीवृद्धि ऐसे ही स्वभाव वालो को सिद्ध होती है।[९] यदि किसी कारण बन्धु स्वयसम्बन्ध-विच्छेद कर बैठे हो तो उस विच्छेद के कारण को दूर करने से पुन मिलन सम्भव हो जाता है।[१०]

सद्-व्यवहार सामाजिक जीवन के लिए अनिवार्य आवश्यकता है। इसी कारण शिष्ट-आचरण सज्जन व्यक्तियो का गुण माना गया है। विनम्र वार्तालाप से शिष्ट-आचरण नामक सदाचार की प्राप्ति सहज ही हो जाती है। निन्दा हास्य मे भी नहीं रुचती, व्यवहार-कुशल व्यक्ति शत्रुता मे भी शिष्टता को बनाये रखता है। इस लोक का आधार शिष्ट-जन हैं, अन्यथा यह मिट्टी मे मिल जाता। मानवीय शिष्टता से रहित व्यक्ति, वल्लुवर के मतानुसार, आरी के समान तीक्ष्ण बुद्धियुक्त होने पर भी वृक्ष के समान जड होते हैं।[११]

---

१. कुरल ५१०।
२ कुरल ५१५।
३ कुरल ५१६।
तुलनीय अनुबन्धं च समप्रेक्ष्य विपाकं चैव कर्मणाम्।
उत्थानमात्मनश्चैव धीर कुर्वीत वा न वा। —विदुरनीति २।६।
४. कुरल ५२२।
५. कुरल ५२१।
६. कुरल ५२४।
७ कुरल ५२५, ५२६।
८. कुरल ५२३।
९ कुरल ५२७।
१०. कुरल ५२९।
तुलनीय : ये च कारणादभिक्रुद्धास्तानर्थ-मानाभ्यां शमयेत्। —कौ० अर्थ० १।६।१०।२।
११. कुरल ९९१, ९९५, ९९६, ९९७।

शरीर एवं रूप की समानता के आधार पर कोई किसी का बन्धु नहीं बनता, प्रत्युत शिष्ट-आचरण पर आधृत मैत्री ही वास्तविक है।[1] अशिष्ट व्यक्ति को प्राप्त अतुल सम्पत्ति व्यर्थ ही रहती है। कलश-दोष से स्वच्छ दूध भी नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार यह सम्पत्ति भी दोष-प्रद हो जाती है।[2] लोक में न्याययुक्त, कृतज्ञ, हितचिन्तक के शिष्टाचार का सम्मान होता है।[3]

कर्म की विधि

कर्म का प्रश्न भारतीय विचारधारा का सर्वाधिक चर्चित प्रश्न है। कर्म क्या हो, कैसा हो, उसके लिए किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए इत्यादि प्रश्न प्रत्येक मनुष्य के समक्ष आते हैं। अत: कर्म, कर्म की विधि, उसके विभिन्न पक्षों का अध्ययन सामाजिक जीवन मे एक अनिवार्य आवश्यकता है। वल्लुवर ने 'बोधयुक्त कर्म' (तेरिन्दु सेयल्वहै) 'शक्ति का बोध' (वलियरिदल्), 'काल का बोध' (कालमरिदल्) 'स्थल का बोध' (इडनरिदल्) शीर्षकों के अन्तर्गत कर्म एव उसके सम्पादन से सम्बद्ध सम्भव प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत किया है। इन्ही अशो का विश्लेषण यदि युद्ध के सन्दर्भ मे किया जाये तो उसके लिए भी कुछ सकेत उपलब्ध हैं। युद्ध 'राजा' के सन्दर्भ मे और कर्म समस्त 'मानव-जाति' के सन्दर्भ मे लें, तो ये अश दोनो स्थितियो को अपने में समाहित किये हुए हैं। वल्लुवर युद्ध के विषय मे कहते हैं—विभिन्न परिस्थितियो का विचार किये बिना आक्रमण करना शत्रु को सुदृढ भूमि प्रदान करने का एक मार्ग है।[4] पर युद्ध का उल्लेख कर्म की अपेक्षा कम हुआ है। वल्लुवर ने कर्म दो प्रकार के माने हैं—करणीय एव अकरणीय। करणीयकर्म न करने से नाश होगा और अकरणीय कर्म करने से नाश होगा।[5] कर्म मे प्रवृत्त होने मे पूर्व उसके समस्त पक्षो का सम्यक् विश्लेषण अनिवार्य है क्योकि प्रवृत्त होने के पश्चात सोच-विचार करना मूढता है।[6] कर्म के समस्त पक्षो का विवेचन कर, परिचित बन्धुओ के साथ विचार-विमर्श कर उसमे प्रवृत्त होने वाले व्यक्तियो के लिए कुछ भी असम्भव नही।[7] कर्म का साधन भी उचित होना चाहिए अन्यथा अनेक व्यक्तियो की सहायता मिलने पर भी कर्म मे सफलता प्राप्त नही होगी। जिस व्यक्ति पर कर्म का प्रभाव होता है उसके स्वभाव को समझ कर उसके अनुकूल कर्म करना चाहिए। लोक जीवन में कर्म लोकानुकूल ही होना चाहिए, जो कर्म लोक के प्रतिकूल है, उसे कोई स्वीकार नहीं करेगा।[8]

कर्म करने का दूसरा पक्ष है शक्ति, समय और स्थान का बोध। कर्म को जानकर,

---

१ कुरल ९९३।

२. कुरल १०००।

३. कुरल ९९४।

४ कुरल ४६५।

५ कुरल ४६६।

६ कुरल ४६७। तुलनीय बुद्धिपूर्वं समालोक्य दूरतो गुणदोषत:।
आरभेत् तदा कर्म शुभं वा यदि वेतरत्॥—महा० अनु० १४५।

७. कुरल ४६१, ४६२।
तुलनीय मन्त्रपूर्वा: सर्वारम्भा।—कौ० अर्थ० १।१०।१४।१।

८ कुरल ४६८, ४६९, ४७०।

उसके लिए आवश्यक बल को समझ कर, दत्तचित्त हो दृढता के साथ चलने वाले के लिए कुछ भी असम्भव नहीं। स्व-शक्ति का पूर्ण परिचय प्राप्त किये बिना जो व्यक्ति आवेशवश किसी कर्म में प्रवृत्त होता है उसे कर्म को मध्य मे छोडना पडता है और अवनति की प्राप्ति होती है। इसलिये यह आवश्यक है कि मनुष्य इच्छित कर्म, अपनी शक्ति, विरोधी की शक्ति और सहायकों की शक्ति का विश्लेषण करने के उपरान्त ही किसी कर्म मे प्रवृत्त हो।[१]

दान, सत्कर्म इत्यादि मे भी सीमा का ज्ञान होना चाहिए। वल्लुवर मर्यादित कर्म का सदेश देते हैं, चाहे यह कर्म कितना ही महत्त्वपूर्ण अथवा श्रेष्ठ हो। अपनी सम्पत्ति की सीमा को न विचार कर बडा दानी बनने से भी हानि होगी। इसलिए दान भी उचित मात्रा में, अपनी सीमा को समझ कर करना चाहिए। अपनी सम्पत्ति की सीमा को समझे बिना जीवन व्यतीत करने वाले का जीवन सम्पन्न-सा प्रतीत होकर भी सर्वरिक्त हो विनाश को प्राप्त होता है। वृक्ष की चोटी की शाखा पर पहुच कर आवेश में कोई उससे भी आगे बढे तो यह आवेश प्राण-घातक भी हो सकता है।[२]

अपनी सीमा एव शक्ति का सम्यक्-परिचय प्राप्त करने के उपरान्त काल अथवा अवसर का चयन भी महत्त्वपूर्ण कदम है।[३] आवश्यक साधनो के साथ काल को समझ कर कर्म करने वाले के लिए कुछ भी असम्भव नही होता। इस प्रकार से कर्म करने वाले सम्पूर्ण ससार को वशीभूत कर सकते है।[४] युद्ध एव शान्ति, दोनो कालो मे वल्लुवर उचित अवसर की प्रतीक्षा करने का परामर्श देते हैं। सुअवसर प्राप्त हो तो असम्भव कार्य भी उस समय कर डालो।[५] अवसर प्रतिकूल हो तो विरोधी के समक्ष विनीत हो जाओ[६] क्योकि अवसर का प्रबल महत्त्व है। दिन के समय उलूक पर उससे दुर्बल कौआ विजय प्राप्त कर लेता है, शत्रु पर विजय प्राप्त करने की इच्छा से युक्त व्यक्ति तदनुकूल अवसर की प्रतीक्षा करते हैं।[७] उत्साही व्यक्ति यदि अवसर की आवश्यकता समझ कर पीछे हटता है तो यह भेड का शत्रु पर आक्रमण करने से पूर्व अपने पैरो को पीछे हटाने के समान होता है।[८] शत्रु के दोष देख बुद्धिमान तुरन्त वहीं क्रोध को व्यक्त नही करते, उस ज्वाला को उचित अवसर के लिए मन मे सजोये रखते हैं।[९] इसलिए

---

१. कुरल ४७२, ४७३, ४७१।

तुलनीय यथास्वबलवृद्धिकर कर्म प्रयुञ्जीत यत्रात्मन सैन्यव्यायामाना भूमिरभूमि परस्य, स उत्तमो देश। विपरीतोऽधम साधारणो मध्यम।

—कौ० अर्थ० ६।१३५-१३६।१।१।

२ कुरल ४८०, ४७७, ४७८, ४७६।

३ कुरल ४८३।

४ कुरल ४८४।

५ कुरल ४८६।

६ कुरल ४८८।

७ कुरल ४८१।

तुलनीय काल श्रेयानित्येके। दिवा काक कौशिक हन्ति, रात्रौ कौशिक काकम् इति।—कौ० अर्थ० ६।१३५-१३६।१।४।

८ कुरल ४८६।

९ कुरल ४८७।

प्रतीक्षा के समय सारस के समान शान्त रहो, अवसर आने पर उसके समान आक्रमण कर कर्म को पूर्ण करो।[१]

कर्म की इस विधि मे स्थान का चुनाव भी महत्त्वपूर्ण है। स्थल का चुनाव युद्ध मे एक प्रमुख निर्णय है। पूर्ण रूप से विचार करके उचित स्थान से कर्म मे प्रवृत्त होने पर निर्भयता के अतिरिक्त अन्य किसी की सहायता आवश्यक नही। अनुकूल स्थल को समझ कर दृढ़ता के साथ कर्म मे प्रवृत्त होने वाले मनुष्य पर विजय प्राप्त करने का विचार रखने वाले अपनी कामनापूर्ति में असफल होंगे। अल्प-सैन्य-युक्त यदि अपने लिए उपयुक्त स्थल पर पहुच कर डट जाये तो बृहद्-सैन्य-युक्त का उत्साह नष्ट हो जायेगा।[२] युद्ध मे स्थल का चुनाव युद्ध का निर्णायक प्रश्न होता है। गहरे जल मे मगर अन्य जीवो पर विजय प्राप्त करता है परन्तु जल के बाहर उस पर अन्य जीव विजयी होते हैं।[३] बृहद् चक्रो से युक्त बड़े रथ समुद्र पर नही चल सकते, इसी प्रकार समुद्र-गामी जलयान भी पृथ्वी पर नही चल सकते। भालो से युक्त वीरो को छेदने वाले लम्बे दातो से युक्त निडर हाथी यदि पाव फंसाने वाले कीचड मे फस जाये तो गीदड भी उसे मार डालेंगे। इन सभी उदाहरणो से स्पष्ट है कि कार्य-पूर्ति (युद्ध) के लिए उचित स्थल का निर्णय किये बिना किसी कर्म (युद्ध) मे प्रवृत्त नही होना चाहिए।[४] यही कारण है कि दुर्ग तथा अन्य विशिष्ट साधनो के अभाव से युक्त व्यक्ति पर भी उसके ही क्षेत्र मे उस पर आक्रमण करना दुष्कर होता है।[५]

सामाजिक जीवन का दुर्बल पक्ष

वल्लुवर ने अपने काव्य मे कुछ ऐसी स्थितियो का वर्णन किया है जो समाज के सम्यक् विकास मे बाधा का कारण हैं। सुख और दुःख क्रम से आते हैं, ठीक उसी प्रकार समाज मे मानव स्वभाव की विभिन्नता के कारण अथवा सामाजिक सगठन की दुर्बलता के कारण दुर्बल-चरित्र व्यक्ति सदा से है। यहा वल्लुवर की दृष्टि अत्यन्त स्पष्ट है—मूढ़, अहकार-युक्त-तुच्छ-बुद्धि मनुष्य एव नीच का उल्लेख हुआ है। सम्पत्ति-सग्रह, दरिद्रता, इसके फलस्वरूप उत्पन्न स्थिति 'याचना' और उसकी भयकरता का उल्लेख भी हुआ है। मानव स्वभावगत-दुर्बलता और सामाजिक-सगठन के फलस्वरूप उत्पन्न कठिनाइयो का अध्ययन यहा अभिप्रेत है।

मूढ़ता—के लक्षणो मे निर्लज्जता, लापरवाही, निर्दयता, किसी के साथ मिलाप न रखना प्रमुख हैं।[६] मूढता के परिणामस्वरूप व्यक्ति लाभप्रद को त्याग हानिप्रद को ग्रहण कर

---

१ कुरल ४९०।

२ कुरल ४९७, ४९४, ४९८।

३ कुरल ४९५।

तुलनीय देश श्रेयानित्येके, स्थलगतो हि श्वा नक्र विकर्षति, निम्नगतो नक्र श्वानमिति।
—कौ० अर्थ० ९।१३५-१३६।१।३।

एव, नक्र स्वस्थानमासाद्य गजेन्द्रमपि कर्षति।
स एव प्रच्युत स्थानाच्छुनापि परिभूयते॥—महा०

४ कुरल ४९६, ५००।

५ कुरल ४९१, ४९९।

६ कुरल ८३३।

जैसा है।[1] सदाचरण के प्रतिकूल कर्म करने की अभिलाषा मूढ़ता से भी बढ़कर है।[2] अध्ययन, मनन एवं अध्यापन के उपरान्त भी स्वय उसके अनुकूल आचरण न करना भी मूढ़ता ही है।[3] सदाचरण को न जानने वाला 'मूढ़' यदि किसी कर्म को प्रारम्भ करेगा तो वह अपूर्ण रह जायेगा, अन्यथा वह दण्ड का भागी होगा।[4] मूढ व्यक्ति को प्राप्त अतुल सम्पत्ति से दूसरे लोग तो लाभान्वित होंगे, पर अपने लोग भूखे रहेगे।[5] मूढ़ के साथ मैत्री अत्यन्त मधुर होती है क्योंकि वह टूटने पर दु ख नही देती।[6] मूढ व्यक्ति का बुद्धिमानों के मध्य प्रवेश मल-युक्त पैर को धोये बिना शैया पर रखने के समान होता है।[7]

मूढ़ता के अतिरिक्त 'अहकार' को भी वल्लुवर ने प्रबल दोष माना है। बुद्धिहीनता ही अहकार है अत. बुद्धिहीनता को वल्लुवर बहुत बडा अभाव मानते हैं क्योकि अन्य अभाव तो अभाव नही हैं।[8] यह बुद्धिहीनता क्या है? 'हम बुद्धिमान हैं'—इस भावना से उत्पन्न विक्षिप्तता को बुद्धिहीनता कहते हैं।[9] इस बुद्धिहीनता की कुछ अन्य स्थितियों का उल्लेख करते हुए वल्लुवर कहते हैं—अति रहस्यपूर्ण विषयो की रक्षा किये बिना उन्हे व्यक्त कर देना,[10] जिस विषय का अध्ययन न हो उस पर अपना अधिकार व्यक्त करना,[11] स्वय भी न जानना और समझाने पर भी न समझना,[12] प्रमुख रूप से बुद्धिहीनता का ही स्वरूप है। बुद्धिहीन को समझाना व्यर्थ है क्योंकि आप उसे समझा ही नही सकते, वह तो अपनी बुद्धि के ही अनुसार समझेगा।[13] यदि मानसिक विकृतिया प्रत्यक्ष दिखाई दे रही है तो मूर्ख व्यक्ति का अपनी शारीरिक नग्नता को ढकने का क्या लाभ?[14]

नीचता—कयमै शीर्षक के अन्तर्गत नीच व्यक्तियो का वर्णन हुआ है। मूढ व्यक्ति अपनी मूढ़ता के कारण क्षम्य हो सकता है पर नीच मूढ नही है। अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के कारण एव अन्तर्निहित दोषो के कारण नीच समाज का सर्वाधिक दुर्बल अग है। नीच व्यक्ति साधारण मनुष्यो जैसा ही तो होता है पर मन मे चलने वाले कुचक्रो के कारण नीच कहलाता है।[15]

---

१ कुरल ८३१।
२ कुरल ८३२।
३ कुरल ८३४।
४ कुरल ८३६।
५ कुरल ८३७।
६ कुरल ८३९।
७. कुरल ८४०।
८ कुरल ८४१।
९ कुरल ८४४।
१०. कुरल ८४७।
११. कुरल ८४५।
१२. कुरल ८४८।
१३ कुरल ८४९।
१४ कुरल ८४६।
१५ कुरल १०७१।

वल्लुवर ने व्यंग्य से नीच की तुलना देवता से की है,[१] क्योंकि नीच अपने से पतित व्यक्ति ही को देखकर स्वय को उससे श्रेष्ठ मानकर गर्व का अनुभव करता है।[२] किसी के सुन्दर वस्त्रों अथवा भोजन इत्यादि का दोषान्वेषण करने वाले नीच हैं।[३] ये पिटने वाले ढोल के समान होते है क्योंकि स्वयं सुनी हुई गुप्त बात दूसरो को कह देते है।[४] ये तो विपत्ति के समय शीघ्र बिक जाते हैं।[५] इनका सदाचरण भय मे निहित रहता है।[६] जिनके पास इनका जबाड़ा तोड़ने वाली मुट्ठी नही होती, उन्हे तो यह हाथ की जूठन भी नही देते।[७] बुद्धिमान संकेत समझता है, पर नीच व्यक्ति तो गन्ने के समान पेले जाने पर ही लाभप्रद सिद्ध होते हैं।[८] नीच बुद्धिमानों से अधिक प्रसन्न रहते हैं क्योंकि हृदय को कचोटने वाली बुद्धि इनके पास नहीं होती।[९]

सामाजिक संगठन के फलस्वरूप उत्पन्न दोष

प्रयोजनहीन सम्पत्ति—नन्‌रियल सेल्वम् के अन्तर्गत कवि ने सम्पत्ति-संग्रह को सामाजिक दोष के रूप मे देखा है। सामाजिक भेदभाव के मूल मे कर्म का प्रभाव मानने पर भी कवि अनावश्यक सम्पत्ति-सग्रह को एक अशुभ प्रवृत्ति के रूप मे ग्रहण करता है। धन-सग्रह मे मग्न, यश-इच्छा से रहित व्यक्ति पृथ्वी के लिए बोझ है।[१०] जो देता नही भोगता नहीं, उसके पास यदि करोडो भी हैं तो व्यर्थ ही है।[११] ऐसे मनुष्य तो विशाल सम्पत्ति के लिए व्याधि-सदृश हैं।[१२] अद्‌भुत सौन्दर्ययुक्त रमणी निरन्तर एकाकी रहकर अपने यौवन को व्यतीत कर वृद्धा हो जाए, यही स्थिति निर्धन को धन न देने वाले कृपण की सम्पत्ति की है।[१३] नगर के मध्य मे लगा विषवृक्ष सबका अहित करता है उसी प्रकार किसी की सहायता न करने के कारण हुए अप्रिय व्यक्ति की सम्पत्ति है।[१४] इस प्रकार के कृपण व्यक्ति की मानसिक-दृष्टि सीमित हो जाती है, वह दूसरो से प्रेम करना छोड स्वय को कष्ट मे डालता है, धर्म-मार्ग का भी अनुसरण नही करता। वल्लुवर तो यह मानते हैं कि ऐसे व्यक्ति की सम्पत्ति का भोग दूसरे ही करेंगे।[१५]

---

१ कुरल १०७३।
२ कुरल १०७४।
३ कुरल १०७६।
४. कुरल १०७६।
५ कुरल १०८०।
६ कुरल १०७५।
७ कुरल १०७७।
८ कुरल १०७८।
९ कुरल १०७२।
१०. कुरल १००३ तुलनीय भर्तृहरि वैराग्यशतक, २३।
११. कुरल १००५।
१२. कुरल १००५।
१३ कुरल १००७।
१४ कुरल १००८।
१५. कुरल १००९।

सम्पत्ति का सग्रह किया पर न तो उसका भोग किया और न उसका वितरण किया तो ऐसे मनुष्य ने जीवन में प्राप्त ही क्या किया ?[१] पर कुछ लोग यह मानकर कि सम्पत्ति से सब कुछ सम्भव है, उसके सग्रह मे ही सतुष्ट होकर एक विचित्र मादकता का अनुभव करते हैं, तिरुवल्लुवर के अनुसार इस प्रकार के लोगों को इस जीवन के उपरान्त भी तुच्छ-जन्म प्राप्त होगा।[२]

सम्पत्ति का अनुचित ढग से सग्रह करने के साथ साथ यदि उसकी निरन्तर रक्षा की कामना भी मनुष्य के हृदय मे विकसित हो जाये तो स्थिति और भी कठिन हो जाती है। सग्रहीत सम्पत्ति यदि जन-कल्याण एव लोक-सग्रह की भावना से सद्कार्यों मे व्यय की जाये तो उचित रूप से सग्रहीत सम्पत्ति के प्रति किसी का भी रोष न हो। यह समस्या कृपणता एव सम्पत्ति को स्वकार्यों तक सीमित करने की दृष्टि का परिणाम है। आर्थिक सघर्ष के इस युग मे तिरुवल्लुवर एव कबीर द्वारा दर्शाया गया मार्ग आज भी दिशा-निर्देश कर रहा है। कबीर तो सचित करने के ही पक्ष मे नही हैं। वे तो इस जन्म को ससार की यात्रा मानते हैं, अन्त मे यहां से जाना ही है, अत वे 'थोरे दिन कौ का धन करना'[३] की बात कहते हैं। कोटि ध्वजाओं एव हाथियो के स्वामी राजा यदि कृपण हैं तो उनका धन व्यर्थ है।[४] तिल-तिल करके जोडने के उपरान्त भी यह माया अन्त समय किसी प्रयोजन को सिद्ध नही करती।[५] कृपण की सम्पत्ति व्यर्थ ही सचित पडी रह जाती है, परन्तु यह मुग्ध होकर उसे अपनी समझता है। अन्तकाल मे क्षण भर मे ही यह ससार त्यागना पड जाता है।[६] धन का सचय व्यर्थ है, इसका कोई लाभ नही होगा—इस विषय मे कबीर की धारणा अत्यन्त स्पष्ट है।[७] ससार मे इस विषय मे सबसे अधिक प्रबल प्रमाण मधुमक्खी का है, वह अपनी समग्र शक्ति से निरन्तर मधु सग्रह करती है, पर उसका भोग नही कर पाती।[८] धन का यह मोह एव सग्रह करने की प्रवृत्ति मनुष्य के सुख-चैन का नाश कर उसके मानसिक सतुलन को बिगाड देती है। वह 'हावडि-धावडि'[९] मे जन्म व्यर्थ कर देता है। जहा-जहा धन होता है अथवा मिलने की सम्भावना होती है, वहा भागता है, सग्रह कर लेने पर उसी को देख कर, गिन कर आनन्दित होता है।[१०] पर यह तो व्यर्थ है

---

१ कुरल १००१।

२ कुरल १००२।

३ कबीर ग्रथावली, पृ० ९२।

४ कोटि धज साह हस्ती बध राजा, क्रिपन को धन कौनै काजा।—वही, पृ० ९२।

५ तिल-तिल करि यहु माया जोरी, चलती बेर तिणा ज्यू तोरी।—वही।

६ साची रही सूम की सपति, मुगध कहै यहु मेरी।
अत काल जब आइ पहूता, छिन मैं कीन्ह न बेरी।।—वही, पृ० ९३।

७. कहै कबीर सुनहु रे सतौ, धन सच्यो कछु सगि न गयौ।।—वही, पृ० १२७।

८ (क) मधुमाषी धन सग्रहै, मधुवा मधु ले जाई रे।
गयौ-गयौ धन मूढ़ जना फिरि पीछै पछिताई रे।।—वही, पृ० ९८।
(ख) ज्यू माषी मधु सचि करि, जोरि-जोरि धन कीनो।
मूये पीछै लेहु-लेहु करि, प्रेत रहन क्यू दीनू।।—वही, पृ० १२६।

९ वही।

१०. जहां जहा दाम तहा तहा मन धावै, अगुरी गिनतां रैनि बिहावै।।—वही, पृ० १२६।

क्योंकि इस लोभ से वह अमूल्य जन्म को वृथा कर देता है।[१] इसी विषय में यह भी समझने की बात है कि स्वर्ग के मार्ग पर सभी जाते हैं, पर अपने शीश पर धन की गठरी साथ नहीं ले जाते।[२] धन-संग्रह का सुख वृथा है, अत इसके लिए गर्व भी वृथा है।[३] कबीर तो बार-बार कहते हैं कि जिन्होंने धन संचित किया वे पछताते हैं, इसके कारण अनावश्यक गर्व का परिणाम और भी भयंकर है, मूल सत्य तो यह है कि 'धन माया काहू संगि न गया।'[४]

दरिद्रता—दरिद्रता मनुष्य को कठिन धरातल पर लाकर खड़ा कर देती है। यह रोग अकेला नहीं आता अनेक प्रकार की कठिनाइयां इसके साथ स्वयं उपस्थित हो जाती हैं।[५] यदि यह प्रश्न किया जाये कि दरिद्रता के समान से दु खप्रद और क्या है? तो यही कहना होगा कि दरिद्रता के समान दु खदायी पदार्थ तो दरिद्रता ही है।[६] दरिद्रता से इस जन्म के तथा भविष्य जन्मों के सुख भी लुप्त हो जाते हैं।[७] आग में तो कोई भी सो सकता है पर दरिद्रता में कोई किसी प्रकार भी आख बन्द कर सो नहीं सकता।[८] दरिद्र के लिए तो प्रत्येक दिवस एक भयकर आपदा के समान है।[९] श्रेष्ठ विषय पर विशिष्ट चिन्तन के उपरान्त भी दरिद्र का कथन निष्प्रभाव ही ठहरेगा।[१०] दरिद्र व्यक्ति के प्रति माता का व्यवहार भी परिवर्तित हो जाता है।[११] दरिद्र यदि चाहे कि योग्य वस्तुओ के अभाव मे सन्यास ग्रहण कर ले तो यह भी सम्भव नहीं क्योंकि नमक और सूखी रोटी के अभाव मे सन्यास भी कहां मिलता है?[१२]

याचना—दरिद्रता के फलस्वरूप याचना की स्थिति उत्पन्न होती है। मुक्त हृदय, कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति के सम्मुख खडे होकर याचना करने मे भी एक आनन्द है[१३] और संसार में

---

१ प्राणी काहे कै लोभ लागी, रतन जनम खोयौ।।—कबीर ग्रथावली, पृ० १२६।

२ सरग के पथि जात सब लोई, सिर धरि पोट न पहुच्या कोई।।—वही।

३ उपजै बिनसै जाइ बिलाई, सपति काहू कै सगि न जाई।
धन जोबन गरब्यौ ससारा, चहुतन जरि बरि ह्वै है छारा।।
—वही, पृ० १३५।

४ (क) जिनि धन सच्या सो पछिताना, साथी चलि गये हम भी जाना।।
—वही, पृ० १५८।

(ख) कहा नर गरबसि थोरी बात।
मन दस नाज, टका दल गठिया टेढौ टेढौ जात।
कहा लै आयौ यहु धन कोऊ, कहा कोऊ लै जात।।—वही, पृ० १६७।
और देखें, वही, पृ० ६१, ६२, १४६, १४७, २३५ इत्यादि।

५ कुरल १०४५।

६. कुरल १०४१।

७ कुरल १०४२।

८. कुरल १०४६।

९ कुरल १०४८।

१० कुरल १०४६।

११ कुरल १०४७।

१२ कुरल १०५०।

१३. कुरल १०५३।

ऐसे मनुष्य क्योंकि विद्यमान हैं, इसी लिए याचना करने वाले याचना-प्रवृत्ति में लीन हैं।[१] निन्दा किये बिना दान करने वालों को देख कर याचक का हृदय आनन्द प्राप्त करता है।[२] बिना दुःख के यदि याचित वस्तु प्राप्त हो जाये तो याचक के लिए यह आनन्द का कारण बनता है।[३] याचक याचना तभी करे जब याचना के योग्य व्यक्ति दिखें, यदि वे छिपायें तो निन्दा के पात्र याचक नहीं, छिपाने वाले हैं।[४] जो याचित वस्तु स्वप्न में भी नहीं छिपाते उनसे याचना करना दान देने के समान सुखप्रद होता है। याचक न होते तो यह महान लोक कठपुतली के नृत्य से अधिक आनन्दप्रद न होता। याचना करने वालों से ही तो दानियो को यश की प्राप्ति होती है। दान न मिलने पर याचक किसी पर क्रोध न करे क्योंकि वह अपनी स्थिति से अन्य की स्थिति की भी कल्पना कर सकता है।[५]

याचना-विषयक अशो को पढकर यह भ्रम नही होना चाहिए कि तिरुवल्लुवर कर्म मे प्रबल आस्था के पोषक नही। वल्लुवर वास्तव मे याचना को हेय और त्याज्य मानते हैं, पर सामाजिक जीवन के सत्य को झुठलाया भी नही जा सकता। वास्तव मे याचना अन्तिम स्थिति है एव यह स्थिति प्रबल दुःखप्रद है। वल्लुवर परिश्रम के महत्त्व की स्थापना करते हुए कहते हैं—"चाहे सूखी रोटी ही क्यो न हो, परिश्रम के स्व अर्जित भोजन से मधुर और कुछ नही।"[६] 'याचना की भयकरता' (इरवच्चम्) शीर्षक से कवि ने यह भाव व्यक्त किया है कि यदि सृष्टि-कर्त्ता यह चाहता था कि व्यक्ति भिक्षा माग कर भी जीवन बनाये रखे तो उसे चाहिए कि वह भिक्षुक के समान भटक कर नाश को प्राप्त हो।[७] अपने समस्त काव्य मे वल्लुवर ने इतने कठोर वाक्य का अन्यत्र कही प्रयोग नही किया। इस सन्दर्भ मे प्रयुक्त इस विचार का कारण भिक्षा-वृत्ति के परिणामस्वरूप मानव का सम्भावित पतन, मानसिक क्लेश और नैतिक दृष्टि से कटु अनुभव ही हैं। दानी बिना छिपाये, सप्रेम दान करे यह तो स्थिति का एक पक्ष है, पर छिपाये बिना, सप्रसन्न देने वाले से भी याचना न करना, याचना करने से करोडो गुना श्रेष्ठ है, इस विचार का दूसरा और अधिक प्रबल पक्ष है। दरिद्रता के दुःख को याचना से दूर करने के अज्ञान से बढकर कोई अज्ञान नही। जीवन बनाये रखने के लिए कही स्थान न होने पर भी याचना न करने का सद्गुण सम्पूर्ण पृथ्वी की विशालता से भी श्रेष्ठ है।[८] चाहे गाय के लिए

---

१ कुरल १०५५।

२. कुरल १०५७।

३. कुरल १०५२।

४ कुरल १०५१, १०५४। तुलनीय महा० अनु० ५९।२, ५९।५, ६६।६०।
याचिता अपि केचित् तु न ददत्येव किंचन।
अभ्यसूयापरा मर्त्या लोभोपहतचेतस ॥
—महा० अनु० १४५।

५ कुरल १०५८, १०५९, १०६०। तुलनीय दीनश्च याचते चायमल्पेनापि हि तुष्यति।
इति दद्याद् दरिद्राय कारुण्यादिति सर्वथा ॥
—महा० अनु० १३८।१०।

६ कुरल १०६५।

७. कुरल १०६२।

८ कुरल १०६१, १०६३ १०६४।

जल की ही याचना क्यों न हो, जिह्वा के लिए याचना से अधिक निन्दास्पद और कुछ नहीं।[1]

दरिद्रता में भी याचना नहीं करनी चाहिए, यह एक स्थिति है। यदि याचक याचना करे तो दान देना ही चाहिए यह दूसरी स्थिति है। 'याचना' नामक आश्रयहीन नाव 'निषेध' नामक चट्टान से टकराने पर टूट जायगी।[2] याचना के विचार से हृदय द्रवीभूत होता है और निषेध के विचार से प्राप्त वस्तु तो नष्ट होती ही है, हृदय विदीर्ण हो जाता है।[3] याचक को 'नहीं' मत कहो क्योंकि 'नहीं' कहे जाने मात्र से याचक के प्राण चले जाते हैं तो वस्तु होते हुए भी छिपाकर निषेध करने वालों के प्राण कहां छिपे रहेंगे ?[4]

तिरुवल्लुवर एव कबीर की अर्थ-विषयक मान्यताओं के अध्ययन के उपरान्त स्पष्ट है कि कबीर ने 'अर्थ' का सामान्य प्रचलित रूप ग्रहण किया और इसलिए उनकी तद्-विषयक दृष्टि सीमित रही। वल्लुवर ने 'अर्थ' को शास्त्रीय, परम्परागत विस्तृत अर्थ में ग्रहण किया फलत उनके काव्य मे राज्य एव अधिकारीवर्ग, प्रजा एव अनेक सम्बद्ध विषय स्वत. समाहित हो गए। जिन-जिन प्रसगो मे तुलनात्मक अश उपलब्ध है, वहा तिरुवल्लुवर एव कबीर के दृष्टिकोण मे, युगभेद होने पर भी, पर्याप्त साम्य है।

●

१ कुरल १०६६।
२. कुरल १०६८।
३ कुरल १०६९।
४. कुरल १०७०।

4

तिरुवल्लुवर एवं कबीर के काव्य में 'काम' (इनबम्) का तुलनात्मक अध्ययन

भारतीय परम्परा में 'काम' का विकास, धर्म-आवृत 'काम' की स्वीकृति, 'काम' और मनोविज्ञान, वेद, उपनिषद्, महाभारत इत्यादि मे 'काम', कामसूत्र में 'काम', 'काम' के व्यापक धरातल का स्पष्टीकरण। 'काम' का लौकिक एव आध्यात्मिक पक्ष, सस्कृत-हिन्दी और तमिल साहित्य की शृङ्गार वर्णन पद्धति मे अन्तर, तोलकाप्पियम् में वर्णित 'अहम्' और 'पुरम्'। अहम् के अन्तर्गत प्रेम के रूप (तिनै)। तमिल-साहित्य मे स्वीकृत परम्परागत विभाजन—कुरिंजि, पालै, मुल्लै, मरुदम्, नेय्दल। प्रेम-सम्बन्धो का विभाजन विवाहपूर्व प्रेम (कलवु, पूर्वराग), विवाह सम्बन्ध स्थापित होने के उपरान्त का प्रेम (करपु, दाम्पत्य प्रेम)। तिरुवल्लुवर-काव्य में सयोग-शृगार, नायक-नायिका का लौकिक प्रेम, प्राचीन काल में तमिल-प्रदेश की प्रेम-पद्धति का रूप, प्रथम दर्शन, पूर्वराग, सयोग, मान, प्रणयमान (पुलवि), ईर्ष्यामान, सौन्दर्यचेतना। कबीर-काव्य मे संयोग, अलौकिक प्रतिपाद्य के लिए अप्रस्तुत रूप, शृङ्गार का आध्यात्मिक धरातल, प्रेम का रूप, प्रभाव; सयोग शृगार के चित्र। वियोग शृगार, वियोग मे ऐन्द्रियता के स्थान पर सूक्ष्म मानसिक-भाव। अग-असौष्ठव, पाण्डुता, प्रवासजन्य विरह-वर्णन, स्वप्न, स्मरण, सध्या-समय की व्याकुलता, मान-भग। कबीर-काव्य में वियोग-शृगार। प्रेम के दो रूप—(अ) अलौकिक आध्यात्मिक रूप में प्रस्तुत ऐहलौकिक प्रेम, (आ) प्रेम का मानवतावादी रूप (द्वितीय अध्याय का अग), परम्परागत शास्त्रीय दशाओं के क्रम-बद्ध विवेचन में अनाबद्ध। व्याकुलता, एकनिष्ठता एवं प्रेम का दुस्तर-मार्ग, त्याग की भावना; पतिव्रता एवं शूर का आदर्श; निष्कर्ष।

'काम' का अर्थ एव विकास

भारतीय सांस्कृतिक परम्परा मे चार पुरुषार्थ माने गए हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। मनुष्य जीवन का लक्ष्य अथवा सफलता इन्ही चारों पुरुषार्थों मे पर्यवसित हो जाती है। भौतिक जीवन के पोषण, सरक्षण, सवर्द्धन तथा सामाजिक जीवन के निर्वाह का अध्ययन 'अर्थ' के अन्तर्गत होता है। सामाजिक जीवन की व्यवस्था का आधार धर्म है, बुद्धि की सन्तुष्टि भी धर्म द्वारा होती है। काम का लक्ष्य मनस्तुष्टि करना है। मानव-मात्र के लिए ये अनिवार्य आवश्यकताएं है। "जिस प्रकार धर्म से बुद्धि का सम्बन्ध है, उसी प्रकार शरीर का अर्थ से, मन का काम से और आत्मा का मोक्ष से सम्बन्ध है। इन्ही अर्थ, धर्म, काम मे मनुष्य के जीवन, रति, मान, ज्ञान, न्याय आदि की समस्त कामनाओ का समावेश होता है। तात्पर्य यह है कि जीवन की अभिलाषा अर्थ मे, स्त्री पुत्र आदि की काम मे, यश, ज्ञान और न्याय की धर्म मे और परलोक की कामना मोक्ष मे समाविष्ट हो जाती है।"[1]

प्राचीन काल से ही हमारे देश मे धर्मपूर्वक अर्थ और काम ग्रहण करना मानव जीवन का निर्दिष्ट लक्ष्य रहा है। सिद्धान्त और व्यवहार रूप मे काम को मर्यादित करके उसे जीवन के विशिष्ट अग के रूप मे मान्यता प्रदान की गई। वैशेषिक दर्शन ने 'यतोऽभ्युदय नि श्रेयस-सिद्धि स धर्म' कहकर धर्म के द्वारा अर्थ और काम समन्वित लौकिक सुख और मोक्ष-सम्बन्धी पारलौकिक आनन्द-प्राप्ति की स्थापना की है।

"इन्द्रिय भोग और एषणाओ के दृष्टिकोण से काम शब्द का अर्थ अधिक व्यापक हो जाता है। प्राकृत आवेग (Natural Impulses), मूल प्रवृत्तिया (Instincts), मानव-एषणाए (Desires of Man) और मन की प्राकृतिक-मानसिक प्रवृत्तिया (Natural Mental Tendencies) काम के अन्तर्गत आ जाती हैं। काम मे वे सभी धारणाए आ जाती हैं जिन्हे आधुनिक समाज-मनोविज्ञान मे अभिलाषाओ (Desires), प्रेरको (Motives), आन्तरिक उद्दीपनो (Urges) या चालको (Drives) की धारणाओ के माध्यम से व्यक्त किया जाता है।"[2] इस प्रकार काम से तात्पर्य मानव की आधारभूत जैविक आवश्यकताओ और एषणाओ से है जिनकी अवहेलना नहीं की जा सकती। कामतृप्ति वाछनीय है, क्योंकि इसके बिना सृष्टि ही सम्भव नही है। काम की एक पुरुषार्थ के रूप मे कल्पना से यह स्पष्ट है कि भारतीय विचारधारा कामएषणा की स्वाभाविक अभिव्यक्ति को जीवन की आवश्यकता मानती है।

पुरुष स्त्री के स्वभाविक प्रकृत आकर्षण को काम का साधन माना गया है। इसी की एक अभिव्यक्ति दाम्पत्य-जीवन अथवा गृहस्थ के रूप में होती है। इसी आकर्षण को आध्या-

---

१. कामसूत्र—अनु० देवदत्त शास्त्री, पृ० ३।

२. भारत में समाजशास्त्र और सस्कृति—गौरीशंकर भट्ट, पृ० २५३।

तिक दृष्टि से देखकर आदि पुरुष और आदि शक्ति की, शरीर तथा आत्मा की प्राकृतिक-लीला का अर्थ प्रदान किया गया। साहित्य मे इसी शृङ्गारिकता का वर्णन एक ओर प्राकृतिक प्रेम को अभिव्यक्ति प्रदान करता है तो दूसरी ओर आध्यात्मिक प्रतीक-अर्थ से रहस्यात्मक धारणाओ को अपने में सजोये हुए है।

लौकिक अर्थ में 'काम' सामाजिक मर्यादा मे बध गृहस्थ तक सीमित हो जाता है। वेद मे पति और पत्नी का पारस्परिक सम्बन्ध मधुर और सौहार्दपूर्ण चित्रित किया गया है। दाम्पत्य की एकनिष्ठा धर्माविरुद्ध काम की स्थापना करती है। अथर्ववेद मे पति पत्नी के प्रति कामना करता है—'जिस प्रकार लता वृक्ष को, सब ओर से चिपट जाती है, उसी का आश्रय लेती है, इसी प्रकार हे स्त्री! मुझ पति को तू मेरी धर्मपत्नी प्रेम से सब प्रकार से आलिंगन कर और मेरा आश्रय ले। ऐसा व्यवहार कर कि तू जिस प्रकार से हो मुझे ही अनन्य चित्त से चाहने वाली बनी रह जिससे मुझे छोड कर दूर जाने वाली न हो।[1] प्रियतमा को हृदय मे बसाने की कामना करते हुए कहा गया है—हे प्रियतमे, मैं हृदय में लगी, हृदय में बसी तुझको अपनी भुजा पर चिपटाऊँ, तुझे बाहु से आलिगन करूँ जिससे तू मेरे हृदय की इच्छा के भीतर रहे और मेरे चित्त मे आकर बसे।[2] पति के साथ रमण कर प्रजा को उत्पन्न करने का उपदेश देते हुए अर्थववेद का कथन है—हे नववधू, तू शुभ चित्तवाली होकर सेज पर चढ। इस पति के लिए प्रजा को उत्पन्न कर। तू परमेश्वर की परम शक्ति के समान है, तू उत्तम ज्ञान-सम्पन्न होकर, ताराओं वाली उषाओ मे ही सचेत होकर प्रतिदिन जागा कर।[3]

वेद मे काम-सम्बन्धी अनेक अशो में से कुछ उल्लेखनीय अश इस प्रकार हैं—

देवा अग्रे न्यपद्यन्त पत्नी समस्पृशन्त तन्वस्तनूभि ।
सूर्येव नारि विश्वरूपा महित्वा प्रजावती पत्या स भवेह ॥[4]

पूर्व काल मे विद्वान् लोग अपनी पत्नियो के साथ एक सेज पर सोते रहे हैं और अपने शरीरो को अपनी स्त्रियो के शरीर के साथ स्पर्श करते रहे हैं। हे स्त्री तू, परमेश्वर की उत्पादक शक्ति के समान ही अपनी महिमा से नाना सामर्थ्यवती होकर, प्रजा से सम्पन्न होकर, इस गृहस्थ लोक मे पति के साथ मिलकर सन्तान उत्पन्न किया कर।

तां पूष छिवतमामेरयस्व यस्या बीज मनुष्या वपन्ति ।
या न ऊरू उशति विश्रयाति यस्यामुशन्त प्रहरेम शेप ॥[5]

हे पोषक पति! तू उस प्रियतमा, अति कल्याणकारी स्त्री को प्राप्त कर, जिसमें मनुष्य अपना बीज बोते हैं। जो स्त्री कामना करती हुई हमारे लिए अपनी दोनो जघाए खोल

---

१. यदा वृक्ष लिबुजा समन्त परिषस्वज।
एवा परिष्वजस्व मा यथा मा कामिन्यसो यथा मन्नापगा अस ॥ —अथर्व० ६।८।१।

२ मम त्वा दोषणिश्रिण कृणोमि हृदयश्रिषम्।
यथा मम क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ —वही, ६।६।२, और देखें, ६।६।१।

३. आ रोह तल्प सुमनस्यमानेह प्रजा जनय पत्ये अस्मै।
इन्द्राणीव सुबुधा बुध्यमाना ज्योतिरग्रा उषस प्रति जागरासि ॥
—वही, १४।२।३१।

४. अथर्व०, १४।२।३२। और देखें २।३०।२।

५ ऋग्वेद, १०।८५।३७; अथर्व० १४।२।३८।

देती है और जिसमें तुम कामना करते हुए प्रजनन अंग को प्रवेश करते हैं।

आ रोहोरुमुप धत्स्वं हस्तं परि ष्वजस्व जायां सुमनस्यमानः।
प्रजां कृण्वाथामिह मोदमानौ दीर्घं वामायुः सविता कृणोतु ॥[1]

हे पुरुष ! अपनी पत्नी की जंघा पर चढ़ ! अपने हाथ को उसके सिरहाने के समान लगा दे और शुभ चित्तवाला होकर अपनी स्त्री का आलिंगन कर। हे स्त्री-पुरुषो ! गृहस्थ में परस्पर प्रसन्न रहते हुए, आनन्द-विनोद करते हुए तुम दोनों उत्तम सन्तानोत्पत्ति करो। सब संसार का उत्पन्न करने वाला परमेश्वर तुम दोनों की दीर्घ आयु करें। 'काम' से होने वाली विशिष्ट पीड़ा एवं मानसिक दशा का अभूतपूर्व चित्र अथर्ववेद में उपलब्ध होता है। हे मेरी प्रियतमे ! कामदेव उस कामना-रूप बाण को व्यथा-रूप पंखों से सजाकर, परस्पर अभिलाषा का शल्य लगाकर, उनको नाना संकल्प-विकल्पों की लेस से चिपकाकर और उसको उत्तम-रीति से झुकाकर स्मरदेव तुम्हें हृदय मे ताड़े ताकि तू एक मात्र मुझे ही चाहे।[2]

वेद का ऋषि कामना करता है कि सुखकारी सेज से जागकर उठते हुए, परस्पर हँसी विनोद-युक्त होकर, तेज तथा बल से परस्पर आनन्द-विनोद करते हुए उत्तम इन्द्रियों (अथवा गायों) से सम्पन्न, उत्तम पुत्रो से युक्त और उत्तम गृह से सम्पन्न होकर वर-वधू दोनों सुख से जीवन व्यतीत करें।[3] अन्यत्र अनेक स्थलो मे भी आनन्द युक्त गृहस्थ-जीवन का उल्लेख आया है—हे परमेश्वर ! इन दोनो चकवा-चकवी के समान प्रेम मे बंधे (चक्रवाकेव दंपती) पति-पत्नी भाव से मिले हुए जोड़े को प्रेरणा करें कि वे दोनों उत्तम घर में रहते हुए अपनी प्रजा सहित पूर्णायु को नाना प्रकार से भोग प्राप्त करें।[4] जीवन मे 'काम' के महत्त्व से वैदिक ऋषि पूर्ण रूपेण परिचित है। विभिन्न प्रसंगों में पुरुष-स्त्री सम्बन्धों का विस्तृत विवेचन तो हुआ ही है, इसका अत्यन्त काव्यमय वर्णन, जीवन में काम की स्वीकृति का उद्घोष करता है। "जिस प्रकार युवा स्त्री भली प्रकार मुस्कुराती हुई, विशेष गुणों से प्रकाशित होती हुई अपने पति के समक्ष बाहुमूल आदि अंगो को प्रकट करती है ।"[5] "उषा के समान शोभावती नव-वधू निकट देखी जावे। *जिस प्रकार शुन्ध्यु नाम का जलचर, बतक, हंस आदि अपने वक्ष*-स्थल उन्नत कर चलते हैं उसी प्रकार कन्या भी उन्नत वक्ष स्थल वाली (पूर्ण युवती) हो।

---

१. अथर्व० १४।२।३९।, और देखें—वही, १४।२।३७।

२ आधीपर्णां कामशल्यामिषुं संकल्पकुल्मलाम्।
ता सुसन्नतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि ॥
—अथर्व०, ३।२५।२।

३ स्योनाद्योनेरधि बुध्यमानौ हसामुदौ महसा मोदमानौ।
सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तराथो जीवावुषसो विभातीः ॥ अथर्व०, १४।२।४३।

४. इहेमाविन्द्र सं नुद चक्रवाकेव दंपती।
प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुताम् ॥ वही, १४।२।६४।
और देखें — या जामयो वृष्ण इच्छन्ति शक्तिं नमस्यन्तीर्जानते गर्भमस्मिन्।
—वही, ५।५।७।१।

५. सस्मयमाना युवतिः पुरस्तादाविर्वक्षांसि कृणुषे विभाती ॥
ऋग्वेद, २।१।१२३।१०।

स्तुतिशील विद्वान् जिस प्रकार उत्तम प्रिय वचनो का प्रकाश करता है, उसी प्रकार वधू भी हृदय को प्रिय लगने वाले गुणो और वचनो का प्रकाश करें ..."[१] इत्यादि अनेक प्रसंग इस कथन की पुष्टि करते हैं। आदर्श गृहस्थ की स्थापना के मूल मे काम की शक्ति का ऋग्वेद में अनेक प्रसंगों में उल्लेख हुआ है। सृष्टि के पूर्व वह मन से उत्पन्न होने वाली इच्छा के समान एक कामना ही सर्वत्र विद्यमान थी, जो सबसे प्रथम इस जगत् का प्रारम्भिक बीजवत थी।[२]

काम एक प्रबल क्षमतायुक्त मन शक्ति है जो 'भौतिक कार्यों मे प्रकट होकर तथा अन्त करण की मानसी क्रियाओं द्वारा अभिव्यक्त हो कर दो भागो में बट जाती है। यही शक्ति चैतन्य के रूप मे और कभी भौतिक शक्ति के रूप में प्रकट हुआ करती है। . मन की मूल वासनाए ही मूल प्रवृत्तिया कहलाती हैं। समस्त वासनाओ या मूल प्रवृत्तियो का यदि वर्गीकरण किया जाए तो वितेषणा, दारेषणा और लोकेषणा इन तीन ही भागो मे सभी वासनाओ या मन की मूल प्रवृत्तियो का समावेश हो जाता है।"[३]

सृष्टि के आदि मे एकाकी ब्रह्म ने भी सकल्प किया था—"एकोऽह् बहुस्याम्"। एक से अनेक होने की इच्छा ही अपूर्णता से पूर्णता की ओर अग्रसर करती है। बृहदारण्यक मे उल्लेख है—अकेलेपन में आनन्द प्राप्त न कर उसने दूसरे की कामना की—**स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्**! काम की इच्छा आदि-शक्ति है।[४] बृहदारण्यकोपनिषद् में इसका उल्लेख आया है—

'आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविध सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत्सोऽहमस्मीत्यग्रे व्याहरत्ततोऽह् नामाभवत"[५]।

वह रममाण नही हुआ। इसी से एकाकी पुरुष रममाण नही होता। उसने दूसरे की इच्छा की, वह जिस प्रकार परस्पर आलिगत स्त्री और पुरुष होते हैं, वैसे ही परिमाण वाला हो गया। उसने इस अपने देह को ही दो भागो मे विभक्त कर डाला। उससे पति और पत्नी हुए।[६] एक से अनेक होने की कामना का अन्यत्र भी उल्लेख आया है तैत्तिरीय उपनिषद् मे **'सोऽकामयत। बहुस्यां प्रजायेयेति'**[७] एव छान्दोग्योपनिषद् का **"तदैक्षत बहु स्या प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत।"**[८] इत्यादि अनेक प्रसगो से सृष्टि के मूल मे 'कामना' का स्थान स्वप्रमाणित ही है। 'पुरुष काममय है, उसका रूप, उसकी शक्ति, उसकी प्रकृति, काम ही है।'[९] शरीर धारी जीव का सुख-दु ख इन्द्रियो के विषयो के द्वारा होता है, अत प्रवृत्ति मार्ग मे प्रवृत्त

---

१ उपो अदर्शि शुन्ध्युवो न वक्षो नोधा इवाविरकृत प्रियाणि ॥ —ऋग्वेद, २।१।१२४।४।

२ कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेत प्रथम यदासीत् ॥ —वही, १०।१२६।४।

३ कामसूत्र, अनु० देवदत्त शास्त्री, पृ० ७।

४ बृहदारण्यक०, १।४।३।

५ वही, १।४।१।

६ स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्। स हैतावानस यथा स्त्री पुमाँसौ सम्परिष्वक्तौ स इममेवात्मान द्वेधापातयत्तत पतिश्च पत्नी चाभवता "।
—बृहदारण्यक०, १।४।३।

७ तैत्तिरीय०, २।६।

८ छांदोग्य०, ६।२।३।

९ पुरुषार्थ—डा० भगवानदास, पृ०१८३।

मनुष्य के लिए काम स्वाभाविक प्रकृत प्रवृत्ति के रूप मे हमारे समक्ष आता है। धर्म का फल काम और इन सबका मूल सकल्प 'विषयों' का होता है। अत जीवन का यह विषय-कामना पक्ष निश्चय ही विशिष्ट हुआ।[1]

काम के विस्तृत एव मर्मभेदी प्रभाव से विभिन्न शास्त्र पूर्णरूपेण परिचित हैं। महाभारत में उल्लेख आया है—

सनातनो हि संकल्प काम इत्यभिधीयते,
सकल्पाभिरुचि· काम· सनातनतमोऽभवत्।
जगत्पतिर् अनिर्देश्य सर्वग सर्वभावन..
हृच्छय· सर्वभूताना, ज्येष्ठो रुद्रादपि प्रभु ॥[2]

मनस् का, चित्त का, जीवत्व का, संसार का रेतस्, बीज, 'काम' परमात्मा के 'निष्काम' हृदय मे सदा, सबके आगे वर्तमान है। धर्मानुकूल काम के समर्थन में महाभारत में स्पष्ट किया गया है कि गृहस्थ-धर्म मे त्रिवर्ग के बीच परस्पर कोई विरोध नही है। एकमात्र पतिव्रता भार्या की सहायता से पुरुष धर्म, अर्थ एव काम रूप 'त्रिवर्ग' का एक साथ उपभोग कर सकता है।[3] महाभारत मे अत्यन्त मार्मिक उल्लेख है—"मैं ऊर्ध्व बाहु होकर स्पष्ट शब्दो में घोषणा करता हू कि धर्म से ही अर्थ व काम की उत्पत्ति होती है, लेकिन किसी ने कर्णपात तक नही किया।"[4]

ऋषि वात्स्यायन ने कामसूत्रम् के प्रथम छन्द मे ही धर्म, अर्थ और काम को नमस्कार किया।[5] काम का लक्षण बताते हुए वात्स्यायन कहते हैं—

श्रोत्र त्वकचक्षुर्जिह्वाघ्राणानामात्मसयुक्तेन मनसाधिष्ठिताना स्वेषु स्वेषु विषयेष्वानुकूल्यत प्रवृत्ति काम ॥[6]

अर्थात् कान, त्वचा, आख, जिह्वा, नाक—इन पाच इन्द्रियो की इच्छानुसार शब्द, स्पर्श, रूप रस और गध अपने इन विषयो में प्रवृत्ति ही काम है। काम की व्यावहारिक व्याख्या करते हुए वह चुम्बन, आलिगन आदि प्रासगिक सुख के साथ कपोल, स्तन, नितम्ब आदि विशेष अगो के स्पर्श करने से आनन्द की फलवती प्रतीति को काम मे समाहित करते हैं।[7] पर यहा यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि कामसूत्र का रचनाकार भी धर्म, अर्थ और काम इन तीनो की सहृति मे

---

१. धर्ममूलोऽर्थ इत्युक्त कामोऽर्थफलमुच्यते।
सकल्पमूलास्ते सर्वे, सकल्पो विषयात्मक ॥
—महा०, (पुरुषार्थ—डा० भगवानदास, पृ०२१०)

२ पुरुषार्थ—डा० भगवानदास, पृ० १८२

३ यदा धर्मश्च भार्या च परस्परवशानुगौ।
तदा धर्मार्थकामाना त्रयाणामपि सगम ॥—महा०, वन०, ३१२।१०२।

४ ऊर्ध्वबाहु विरौम्येष नहि कश्चित् शृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्म किं न सेव्यते ॥—महा०, स्वर्गा० ५।६३।

५ धर्मार्थकामेभ्यो नम।

६ कामसूत्रम्, १।२।११।

७. स्पर्शविशेषविषयास्वस्याभिमानिकसुखानुविद्धा। फलवत्यर्थप्रतीति· प्राधान्यात्काम ॥
—कामसूत्रम, १।२।१२।

काम से श्रेष्ठ अर्थ को और अर्थ से श्रेष्ठ धर्म को मानता है।[१] केवल शरीर की तृप्ति-मात्र ही साध्य नहीं है। ज्ञान-विवेक विचार द्वारा धर्म-सम्मत काम की स्वीकृति गीता मे भी है—'धर्माविरुद्धोभूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ'।

स्पष्ट है कि प्राचीन काल से ही काम 'धर्म' का प्रमुख अग था और 'धर्म' में काम की यथेष्ठ प्रतिष्ठा थी। ब्रह्मवैवर्त-पुराण मे राधा और कृष्ण की अद्‍भुत, अलौकिक लीलाओ के प्रसंग मे 'काम' का व्यापक चित्रण हुआ है। इसी प्रकार के अनेक अन्य स्थलो को प्रतीकात्मक माना जाने पर भी उसमें निहित लौकिक तत्त्व निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है। प्रवृत्ति-मार्गीय जीवन-दर्शन में गृहस्थ की मर्यादा मे काम की तृप्ति स्वाभाविक आवश्यकता के रूप मे अनुभव की गई अत काम को जीवन का अग मानकर उसकी स्वीकृति हुई।

व्यावहारिक जीवन में काम की अभिव्यक्ति स्त्री और पुरुष के पारस्परिक आकर्षण और उससे उत्पन्न प्रेम के अन्तर्गत होती है। साहित्य मे वर्णित प्रेम इससे अभिन्न है। ऐंद्रिय सुख के लिए नियन्त्रण की आवश्यकता का ज्ञान होने पर तर्क और इच्छा-शक्ति द्वारा इन्द्रिय-नियन्त्रण कर इनसे जीवन को सुखी और पूर्ण बनाने के प्रयास की निरन्तर स्वीकृति हुई है। यह अनुभव होने पर मानव जीवन को अधिकाधिक सुखी और प्रसन्न रखने के लिए मनुष्य 'स्व' को तो नियन्त्रित करता ही है, समाज और परिस्थितियो के साथ भी समझौता करता है। समाज का समग्र आर्थिक विकास एव औद्योगीकरण तथा वैज्ञानिक आविष्कारो के मूल मे यही 'काम' कार्यरत है। 'कामायनी' का कवि इस सत्य से पूर्ण रूपेण परिचित है—

आकर्षण से भरा विश्व यह
केवल भोग्य हमारा,
जीवन के दोनो कूलो मे
बहे वासना धारा।[२]

'कामायनी' की श्रद्धा 'काम' के विस्तृत धरातल, काम को तिरस्कृत करने से लोक-जीवन की असफलता से परिचित है—

काम मगल से मडित श्रेय
सर्ग, इच्छा का है परिणाम,
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल
बनाते हो असफल भवधाम॥[३]

काम के परिणामस्वरूप 'उद्दाम लालसा', 'तीव्र उन्माद' 'मथने वाली पीडा' 'मधुर विरक्ति भरी आकुलता', मादकता से युक्त 'तरल वासना' के होते हुए भी 'अपने सुख को विस्तृत कर लो, सबको सुखी बनाओ'[४] का भाव 'काम' के विस्तृत धरातल की व्याख्या है।

हमारे विवेच्य कवि तिरुवल्लुवर के काव्य मे इस धर्म-सम्मत काम की ही अभिव्यक्ति हुई है। उन्होने गृहस्थ की परिधि मे, सासारिक सुख प्राप्ति के लिए 'काम' खण्ड (कामत्तु-पाल्) मे इस विषय का विस्तृत वर्णन किया है।

---

१ एषां समवाये पूर्वं पूर्वो गरीयान्॥—कामसूत्रम्, १।२।१४।

२. कामायनी, पृ० १२८।

३. वही, पृ० ५१।

४. वही, पृ० १३२।

वर्ण्य-विषय

गुप्त-प्रेम (कळ्वियल्) के अन्तर्गत प्रथमदर्शन, संकेत-परिचय (कुरिप्परिवुल्), मिलन-सुख (पुणर्च्चि मकिळ्दल्), सौन्दर्य-प्रशंसा (नलम्पुनैन्दुरैत्तल्), प्रेम की महिमा (कादल् सिरप्पुरैत्तल्), इत्यादि के उपरान्त गुप्त-प्रेम के प्रवाद की चर्चा (अलर् अरिवुरुत्तल्) का वर्णन है। पातिव्रत्य (कर्पियल्) के अन्तर्गत असह्य वियोग (पिरिवु आट्रामै) विरहिणी का विलाप (पडर् मेलिन्दिरंगल्), वेदनापूर्ण नेत्र (कण्विदुप् अरिदल्) इत्यादि अनेक अध्यायों में विरह का विस्तृत वर्णन हुआ है। अत में प्रिय-मिलन होने पर मान-भंग (निरैयळितल्), प्रणय-कलह (पुलवि), प्रणय-कलह की सूक्ष्मता (पुलविनुणुक्कम्) एवं प्रणय-कलह का आनन्द (ऊट-लुवहै) इत्यादि का वर्णन कर कवि ने प्रेम के संयोग एवं वियोग पक्षों का अत्यन्त सूक्ष्म तथा मनोवैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया है।

"रूपासक्ति और शरीरी आकर्षण का परिणाम है संयोग सुख। इसमें परम्परानुसार हावादिजन्य चेष्टाएं, सुरत, विहार, मद्यपान आदि का वर्णन होता है।"[1] हिन्दी साहित्य के रीति-काव्य पर यह कथन जिस प्रकार सत्य उतरता है उसी प्रकार तिरुवल्लुवर के काव्य के 'काम' (इनबम्) अंश के विषय में भी। नायक-नायिका का परस्पर गुप्त-प्रेम, शरीरी आकर्षण और उसके फलस्वरूप मानसिक सुख एव आनन्द, परस्पर संकेत (हावादिजन्य चेष्टाए) इत्यादि से यह प्रेम व्यापार प्रारम्भ होता है। सस्कृत-हिन्दी साहित्य और प्राचीन तमिल साहित्य की शृगार-वर्णन की दृष्टि मे पर्याप्त अन्तर है। यह अन्तर विषय-वस्तु अथवा भाव-सामग्री का नही अपितु वर्णन-पद्धति एव वर्गीकरण का है। तमिल के काव्य-शास्त्र विषयक प्रसिद्ध ग्रथ 'तोलकाप्पियम्' मे इससे सम्बद्ध सामग्री उपलब्ध है। तमिल-काव्य 'अहम्' और 'पुरम्' दो भागो मे विभक्त किया जाता है, अहम् के अन्तर्गत प्रेम के सात रूपों का उल्लेख है—इन्हें 'तिनै' कहा गया है। सर्वप्रथम 'केकिलै' के अन्तर्गत पुरुष का 'मुग्धा' के प्रति एकांगी प्रेम वर्णित होता है, सबसे अन्त मे 'पेरुन्तिनै' के अन्तर्गत असमान प्रेम के परिणामस्वरूप हुई अति का वर्णन किया जाता है। अन्य पाच प्रकार के वर्णनो में प्रत्येक प्रकार से योग्य, परस्पर आकर्षण के कारण प्रेमपाश मे आबद्ध युवक और युवती के शृगार का वर्णन किया जाता है। 'तोलकाप्पियम्' में प्रेम के पाच प्रकारो का वर्णन पांच विभागो मे विभक्त किया गया है। ये पाच विभाग हैं—

कुरिंजि—पर्वत-प्रदेश
पालै—शुष्क मरुप्रदेश
मुल्लै—अरण्य प्रदेश
मुरुदम्—जल-समृद्ध समतल प्रदेश
नेय्दल—समुद्र-तट प्रदेश।

"ये पांचों नाम वास्तव मे पांच पुष्पो के वाचक हैं, किन्तु इन प्रदेश-विशेषो के लिए विशिष्ट पुष्प के रूप में इनको माना गया है। ये ही पुष्प-विशेष उक्त प्रदेश-विशेषों के अभिधान हो गए, फिर उन प्रदेशो की पृष्ठभूमि पर वर्णित होने वाले प्रेम-प्रकार के भी नाम बन गए।"[2]

---

१. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास-षष्ठ भाग—सं० डा० नगेन्द्र, पृ० १६३।

२. तमिल और हिन्दी के काव्यशास्त्रों का तुलनात्मक अध्ययन
—डा० न० व० राजगोपालन, पृ० २८।

इन पांचों भूप्रदेशों के अनुसार ही प्रेमाभिव्यक्ति को भी पांच रूपों में विभक्त कर दिया गया है। प्रथम दर्शन एव प्रेम 'कुरिंजि' मे, अल्पकालीन विरह 'मुल्लै' में, दीर्घकालीन विरह 'नेमदल्' में, दीर्घकालीन वियोग 'पालै' मे एव गृहस्थ का मधुर-प्रणय 'मरुदम' मे वर्णन का विषय बना। कालक्रम से काव्य मे यह एक नियम के रूप में मान लिया गया और प्रत्येक विभाग विशिष्ट वर्णन के लिए पृष्ठभूमि के रूप मे स्वीकार कर लिया गया।

पुरुष और स्त्री के पारस्परिक प्रेम सम्बन्धो को दो भागो में विभाजित किया गया है। विवाहपूर्व प्रेम अथवा पूर्वराग (कलवु) और विवाह-सम्बन्ध स्थापित होने के बाद का प्रेम (करपु)।

तिरुवल्लुवर ने शृगार के अन्तर्गत सयोग का वर्णन अपेक्षाकृत कम किया है। भाव की तीव्रानुभूति, मार्मिकता इत्यादि का जो रूप वियोग मे उभर कर आता है, वह सयोग में सभव नही, परन्तु सयोग-शृगार का जो वर्णन उपलब्ध है वह प्रभावोत्पादक है, उसमे जीवन्त तत्त्व है, हर्ष और उल्लास का वातावरण है। वल्लुवर के सयोग-वर्णन का विवेचन करने से पूर्व उस युग के समाज मे व्याप्त प्रेम-विषयक धारणाओ का एक सकेत प्रस्तुत करना उचित होगा।

तिरुल्लुवर के 'इनबम्' (काम) खण्ड को प्राय समस्त टीकाकारो ने नायक-नायिका के प्रथम दर्शन (पूर्वराग), प्रेम, विरह और पुनर्मिलन का वर्णन माना है। यह प्रेम नायक-नायिका के एकान्त मे आकस्मिक मिलन से प्रारम्भ होता है। प्रथम दर्शन मे प्रेम का सूत्रपात होता है। धीरे-धीरे विकसित होता हुआ यह शान्त प्रेम-सम्बन्ध शब्दो मे अभिव्यक्त होता है। प्रिय एव प्रिया-परिणय सूत्र मे आबद्ध हो जाते हैं। पारस्परिक अदम्य विश्वास के अतिरिक्त इस सम्बन्ध-सूत्र के लिए कोई सामाजिक क्रिया (rites) सम्पन्न नही की जाती परन्तु तमिल-प्रदेश के उस काल मे सामाजिक मान्यता प्राप्त करने के लिए इतना ही पर्याप्त था।[१] यह सस्कृत काव्य एव धर्मशास्त्रो मे वर्णित गधर्व-विवाह के समान ही है। इस विवाह-सम्बन्ध की सूचना प्रेमी-युगल द्वारा अपने तक ही सीमित रखी जाती है और वे यह प्रयास करते हैं कि अनुकूल अवसर प्राप्त करते ही इसे सबको बता दिया जाये परन्तु पति और पत्नी दोनो उस समुचित अवसर की प्रतीक्षा करने मे स्वय को असमर्थ पाते हैं। प्रेम मे धैर्य कहा ? वे चोरी-छिपे परस्पर मिलते रहते है। युवती के माता-पिता एव सम्बन्धी अभी मानसिक रूप से सबध को स्वीकृति प्रदान करने की स्थिति मे नही होते और इधर काम-मिलन धीरे-धीरे चर्चा का विषय बनना प्रारम्भ हो जाता है। तमिल-प्रदेश के प्रेमीजनो ने इसका भी समाधान निकाला, युवक एक प्रकार की शारीरिक और मानसिक तपस्या करता है जिससे कि युवती के माता-पिता एव सम्बन्धी तथा ग्राम-निवासी उसकी प्रेमिका को उसे सौप दें। ताड-वृक्ष की कुछ शाखाए इस प्रकार से एकत्र कर ली जाती हैं कि एक मनुष्य के बैठने योग्य स्थान बन जाये। प्रेमी इस शाखा मे बैठ जाता हैं और उसके अनेक मित्र इसी मुद्रा मे उसे ग्राम भर मे घुमाते हैं। इस अवसर पर मित्र मण्डली द्वारा अनेक भावपूर्ण प्रेम-गीत गाये जाते हैं। ताड-वृक्ष की नोकें काफी तीखी और कठोर होती

---

१ "No rites are gone through but the simple plighting of the faith, but that was sufficient in the heroic age of Tamil society to legalise the marriage"

The Kural, V. V S Aiyar, p. XXVIII

है अतः यह प्रक्रिया पर्याप्त कष्टप्रद तपस्या है। प्रेम-मार्ग के इस पथिक को ग्राम-निवासियों के उपहास का पात्र भी बनना पड़ता है और अनेक बार उसकी प्रिया का नामोल्लेख भी होता है। यह समस्त कोलाहल ग्राम के वृद्ध-जनो एवं युवती के माता-पिता और सम्बन्धियों तक पहुंचना स्वाभाविक है। युवक-युवती अपने विषय में होने वाली इस चर्चा को सुन कर अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। प्रतिक्रिया क्रोध-मिश्रित होती है, युवती को डांट-फटकार भी मिलती है पर अब इस विवाह-सम्बन्ध की स्वीकृति के अतिरिक्त और कोई मार्ग भी शेष नहीं, अत युवक-युवती के सम्बन्ध की सामाजिक स्वीकृति हो जाती है।[1]

संयोग-श्रृंगार

'पारस्परिक प्रेम के वशीभूत होकर जब नायक-नायिका एक दूसरे के दर्शन, मिलन, स्पर्श और आलाप आदि में लीन होते हैं, विद्वानो ने उस अवस्था को सयोग और उसके वर्णन को सयोग-श्रृंगार कहा है।'[2] तिरुवल्लुवर ने सयोग का बडा सयत परन्तु प्रभावोत्पादक वर्णन किया है।

पूर्वराग [3] पूर्वराग में आलम्बन निकट भी रह सकता है परन्तु कुछ व्यवधानों के उपस्थित हो जाने के कारण अथवा समुचित साधनो के अभाव मे आश्रय आलम्बन का मिलन नहीं होता। तिरुवल्लुवर के नायक और नायिका का प्रथम मिलन दोनों के हृदय में प्रेम के अकुर को प्रस्फुटित कर देता है। एकान्त स्थल में, नायक नायिका को देखकर, उसकी ओर आकृष्ट होता है। परिचय के अभाव मे मन-ही-मन उसकी रूप-माधुरी की प्रशसा करता है। वह सोचता है—यह सुर-बाला है अथवा मयूरी ? कही स्वर्ण-कुण्डल ग्रहण किये हुए यह कोई युवती ही तो नही है ?[4] नायक के हृदय पर नायिका के तीक्ष्ण नयनो का आघात होता है, उसे नेत्रो के समक्ष हो कर निहारना मानो सबल सैन्य से युक्त सुर-बाला से स्वय सग्राम करने के समान लगता है।[5] बाला की वक्र भृकुटी, उभरे हुए कुचभाग पर पडा हुआ वस्त्र, उज्ज्वल मस्तक, हिरणी के समान दृष्टि, सभी मानो बाध से लेते है। उन्मुक्त प्राकृतिक वातावरण में यह प्रथम मिलन आकर्षण का रूप धारण करता है। 'पूर्वानुरागिनी नायिकाए अवस्था की दृष्टि से प्राय मुग्धा होती हैं। इस अवस्था मे भावुकता का स्वाभाविक अतिरेक होता है और वह उनकी भावनाओ

---

१. सामग्री का आधार—कुरल, वी० वी० एस० अय्यर, भूमिका।
२. दर्शनस्पर्शनादीनि निषेवेते विलासिनौ।
यत्रानुरक्तावन्योन्य सम्भोगोऽयमुदाहृत ॥
सख्यातुमशक्यतया चुम्बनपरिम्भणादि बहुभेदात्।
अयमेक एव धीरै कथित सभोगश्रृगार ॥—सा० दर्पण, ३।२१०, २११।
३ तिरुवल्लुवर मे पूर्वराग का अभिप्राय 'विवाह-पूर्व मिलन' इत्यादि होने के कारण उसे 'वियोग' के अन्तर्गत समाहित न कर सयोग के अन्तर्गत रखा गया है।
४. कुरल १०८१।
५. कुरल १०८२, तुलनीय—तिय, कित कमनैती पढ़ी, बिनु जिहि भौंहकमान।
चलचित बेझैं चुकति नहिं बक बिलोकनि-बान ॥
—बिहारी, ३५६।

को अत्यधिक तीव्र बना देता है।'[१] तिरुक्कुरल की 'मुग्धा' भावुकता के इस स्वाभाविक अतिरेक एवं तीव्र भावनाओं से युक्त है।

एकान्त में दर्शनोपरान्त प्रेम शनै-शनै विकास प्राप्त करता है। संकेतादि से मन के भावों को समझ लेने के उपरान्त नेत्रों के मिलन से हृदयों का मिलन हो जाता है। नायक को नायिका के शरीर में रूप, शब्द, रस, गन्ध और स्पर्श इन पाचों विषयो का सुख प्राप्त होता है।[२] प्रेमिका के अतीव कोमल स्कन्धो का आलिंगन-सुख विष्णु-लोक के सुख से भी श्रेष्ठ प्रतीत होता है।[३] बाला के शरीर का प्रत्येक स्पर्श प्राणो को अमृत के समान नव-स्फूर्ति प्रदान करता है। नायक नायिका का आलिंगन करता है तो उसे उसी प्रकार का आनन्द अनुभव होता है जो अपने परिवार मे बाट कर भोजन करने से प्राप्त होता है। तिरुवल्लुवर ने प्रिय-प्रिया के ऐसे गाढ़ालिंगन का वर्णन किया है जिसके मध्य वायु की स्थिति भी स्वीकार्य नही है। परिरम्भण से उत्पन्न आनन्द को अधिकाधिक अध्ययन से अवगत अज्ञानबोध के समान कहा है।[४]

तिरुवल्लुवर के सयोग श्रृंगार के वर्णन में एक निश्चित मर्यादा है। कवि यहां भी अपने नीति पर आधृत दृष्टिकोण से स्वय को असम्पृक्त नही करता। तिरुक्कुरल के श्रृंगार में उन्मुक्त वातावरण में उन्मुक्त वर्णन है, पर यह वर्णन अपनी मर्यादा जानता है। वर्णन की मौलिकता, प्राकृतिक जीवन की उपमान-सामग्री और वातावरण-निर्माण मे कवि सफल रहा है पर नैतिक दृष्टि की सीमा-रेखा उसे निरन्तर बांधे रखती है।

मान—तिरुवल्लुवर-काव्य मे श्रृंगार के विभिन्न रूपो मे मान को सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त हुआ है। यहा मान प्राय प्रणय-मान है और भरपूर प्रेम की स्थिति मे प्रेमवृद्धि के उद्देश्य से किया जाता है। तिरुवल्लुवर मे 'खडिता' इत्यादि का वर्णन नही है। यहा तो गृहस्थ की मर्यादा मे सहज उल्लासमय जीवन व्यतीत कर रहे दो प्रेमियो के पारस्परिक हास-परिहास, रूठना-मनाना आदि को ही स्थान मिला है। ईर्ष्या-मान का वर्णन हुआ तो है, पर वहा कवि की दृष्टि परम्परागत वर्णन से भिन्न है।

प्रणयमान—'पुलवि' अथवा प्रणयकलह का आधार कुछ भी हो सकता है। बस यूही छेड़छाड, मान-मुनावल अथवा प्रिय के हृदय के प्रेम को विकास प्रदान करने के उद्देश्य से मान कर लिया जाता है। सखी नायिका को समझाती है कि प्रणय-कलह की पीडा उनमे देखने के लिये तनिक कृत्रिम-क्रोध कर, आलिंगन किये बिना रहो।[५] पर साथ ही वह उसे समझा देती

---

१ हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास—स० डा० नगेन्द्र, पृ० १०८।

२ कुरल ११०१।

३. कुरल ११०३।

४ कुरल ११०६, ११०७, ११०८, १११०।

५ कुरल १३०१, तुलनीय—(क) सखी सिखावति मान-विधि, सैनन बरजति बाल।
हरै कहै, मो हीय मैं बसत बिहारी लाल॥—बिहारी।

(ख) मुग्धे मुग्धतयैव नेतुमखिल काल किमारभ्यते
मान धत्स्व धृतिं बधान ऋजुता दूरे कुरु प्रेयसि।
सख्यैव प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना
नीचैः शस हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वर श्रोष्यति॥
—अमरुशतकम् ७०।

है कि मान प्रेम का नमक है, भोजन में अधिक नमक रुचिकर नहीं होता, इसलिए मान भी सीमा में होना चाहिए।[1] मान का लक्ष्य है प्रेम को विकास प्रदान करना क्योंकि छोटे-बड़े प्रणय-कलह न हो तो प्रेम अधिक पके अथवा अध-कच्चे फल के समान रह जायेगा।[2]

सखी के समझाने के उपरान्त नायिका मान करने का विचार करती है पर प्रणय-मान में मानिनी नायिका की स्थिति कुछ विचित्र-सी होती है। मन मे प्रेम उमड रहा है, प्रिय से कोई भूल भी नही हुई, हृदय को मान के लिए प्रेरित करने के उपरान्त भी हृदय वश में नही है, अत कई प्रकार से तर्क देकर उसे वश मे करने का प्रयास नायिका करती है।[3] अपने हृदय के प्रति नायिका का कथन है—हे हृदय, प्रियतम के हृदय को उनका साथ देता हुआ देखकर भी तू मेरा साथ क्यो नहीं देता ?[4] पर हृदय तर्क से कहा प्रभावित होता है ? नायिका पुन समझाती है—हे हृदय, तू प्रणय-कलह के प्रतिफल को समझ नहीं पाता, यदि तू मान नहीं करेगा तो मैं तेरा भरोसा कैसे कर पाऊगी ?[5] हृदय का पागलपन इस सीमा तक जाता है कि वह प्रिय को किसी क्षण भी विस्मृत नहीं करता फलत नायिका स्वय ही खीझ कर कह उठती है—उन्हें विस्मृत न करने वाले गौरव-च्युत एव पागल हृदय के साथ मिल कर तो मैं अपनी स्त्रियोचित लज्जा भी खो बैठी हू।[6] मान के लिए प्रिय का कोई न कोई दोष तो ढूढ़ना ही होगा, पर प्रिय मे दोष-दर्शन का कार्य हृदय करने नही देता, क्योकि नायक की निन्दा मे नायिका की अपनी निन्दा निहित है, अत हृदय निरन्तर प्रिय के श्रेष्ठ गुणो का स्मरण करता है।[7] इस प्रकार नायिका अपने हृदय से पराजित होकर स्वीकार कर लेती है कि विपत्ति के समय अपना ही हृदय अगर साथ न देता हो तो और कौन साथ देगा ?[8] और फिर जब अपना हृदय ही साथ न दे तो दूसरो का हमारा साथ न देना स्वाभाविक ही है।[9]

प्रेम की निरन्तरता एकरसता का रूप धारण कर आनन्द-विहीनता की ओर अग्रसर हो सकती है। पर प्रणयमान उसमे आनन्द का पुन सृजन करता है। प्रेम के किंचित मात्र मुर-

---

१ कुरल १३०२।

२ कुरल १३०६।

३ तुलनीय—सपने हू मनभावतो, करत नही अपराध।
मेरे मन ही मे रही, सखी ! मान की साध॥—२४६।
—मतिराम, रसराज, पृ० ५२।

४ कुरल १२९१।

५ कुरल १२९४।

६ कुरल १२९७।

७ कुरल १२९८।
तुलनीय—भ्रूभङ्गे रचितेऽपि दृष्टिरधिक सोत्कण्ठमुद्वीक्षते
रुद्धायामपि वाचि सस्मितमिद दग्धानन जायते।
कार्कश्य गमितेऽपि चेतसि तनू रोमाञ्चमालम्बते,
दृष्टे निर्वहण भविष्यति कथ मानस्य तस्मिञ्जने॥—अमरुशतकम्, २८।

८ कुरल १२९९।

९ कुरल १३००।

जाने पर भी प्रणयकलह से उत्पन्न लघु पीड़ा प्रशसनीय होती है।[१] भोजन करने से अधिक आनन्ददायक उसका पचना होता है, इसी प्रकार प्रेम मे भोग से अधिक आनन्ददायक प्रणय-कलह होता है।[२] निर्दोष होने पर भी नायक को मान मे कुछ क्षणों के लिए नायिका के कोमल बाहुओ से अलग रहने में अद्भुत आनन्द की प्राप्ति होती है।[३] नायिका जानती है कि प्रिय निर्दोष है, पर फिर भी मान करती है क्योंकि इससे प्रिय के प्रेम में वृद्धि होती है।[४] पृथ्वी पर जल का पृथ्वी के साथ जो नैकट्य है, इसी प्रकार से परस्पर आबद्ध नायक-नायिका के लिए प्रणय-मान स्वर्ग के समान ही आनन्द प्रदान करता है।[५] वल्लुवर के अनुसार सद्गुणी सज्जन की शोभा सुमन-नयनी के मन मे उत्पन्न प्रणय-कलह ही मे है।[६] प्रणयमान का इतना महत्त्व होते हुए भी एक आशका इसमे रहती है कि मिलन सुख कही अस्थायी न रह जाय।[७] प्रणय-मान में मान-मनावल मे नायक को भी अतीव सुख की प्राप्ति होती है। वह भी प्रार्थना करता है कि प्रकाशपूर्ण आभूषणो से युक्त मेरी प्रणयिनी प्रणय-कलह करती रहे, रात लम्बी होती रहे और मैं प्रेम-याचना करता रहू।[८] इस प्रणय-कलह मे पराजित ही विजयी होते हैं, पुर्नमिलन इसका प्रमाण है।[९] प्रणय-मान के टूटते ही जो काम का वेग प्रवाहित होता है उसी का परिणाम होता है ललाट पर स्वेद-कण उत्पन्न करने वाला प्रबल सम्भोग।[१०] वल्लुवर का निश्चित मत है कि प्रेम का आनन्द प्रणय-कलह मे है और प्रणय-कलह का आनन्द पुन मिलकर प्रेमालिंगन मे आबद्ध होने में है।[११]

ईर्ष्यामान—ईर्ष्यामान मे नायिका नायक को परस्त्री से प्रेम करते देख, सुन, अथवा अनुमान कर ईर्ष्या से कोप करती है। वल्लुवर-काव्य मे आदर्श सामाजिक स्थिति का चित्र होने के कारण पुरुष का परस्त्री सम्बन्ध त्याज्य माना गया है। इसका उल्लेख पिर्निल विळैयामै के अन्तर्गत हुआ है। ईर्ष्यामान के अन्तर्गत नायक का परस्त्री-प्रेम इत्यादि का कोई उल्लेख प्राप्त नही होता। परस्त्री के हृदय मे स्थित कृत्रिम शका के कारण नायक को उपालम्भ का शिकार बनना पडता है। नायक प्रिया को आलिंगन मे आबद्ध करने का उपक्रम करता है तो

---

१ कुरल १३२२।
२ कुरल १३२६।
३ कुरल १३२५।
४ कुरल १३२१।
५. कुरल १३२३।
६ कुरल १३०५।
७ कुरल १३०८।
८. कुरल १३३०।

तुलनीय—मनु न मनावन कौं करै, देतु रुठाई रुठाइ।
कौतुक-लाग्यौ प्यौ प्रिया-खिजहू रिझवति जाइ॥
—बिहारी, ४५४।

९ कुरल १३२७।
१०. कुरल १३२८।
११ कुरल १३३०।

वह कहती है—हे दुराचारी ! सभी स्त्रियाँ तुम्हें सामान्य मानकर तुम्हारा रस-पान कर रही हैं, मैं तुम्हारी छाती से न लगूँगी।[1] नायक ने पुष्पमाला धारण की तो नायिका रुष्ट हो उठी क्योंकि उसके विचार में यह माला किसी अन्य को दिखाने के लिए धारण की गई है।[2] नायक स्पष्टीकरण देता है—'मुझे और किसी से प्रेम नहीं है,' बस नायिका के रुष्ट होने का पर्याप्त कारण है—पूछने लगी—'और किससे, और किससे ?'[3] नायक समझाता है—'इस जन्म में कभी अलग न होंगे ?'[4] नायिका के नेत्र सजल हो उठे क्योंकि इसमे यह भी तो अर्थ निहित है कि अगले जन्म मे हो सकते हैं। जन्म-जन्मान्तर के सम्बन्धो मे दृढ़ आस्था रखने वाली स्त्री इसी जन्म मे अलग न होने की बात से कैसे सतुष्ट हो सकती है ?

एक और स्थिति की कल्पना कीजिए। नायक नायिका बैठे हैं, नायक को जरा छींक आ गई। नायिका ने कहा—'बधाई !' और नेत्र सजल। प्रश्न हुआ कि किसके स्मरण करने के कारण यह छींक आई ?[5] इससे पाठ मिला, एक और अन्य अवसर पर छींक आई तो उसे नायक ने दबा लिया। नायिका ने देखा और रोती हुई बोली—अपनी किसी प्रिया के स्मरण को मुझसे छिपाते हैं।[6] इस कठिन स्थिति की विवेचन करते हुए डा० शकरराजू नायुडु का कथन है—"प्रणय कलह के आधार पर इससे अधिक सूक्ष्म वर्णन और हो ही क्या सकता है। छीको तो दोषारोपण, और आती हुई छीक को रोको तो उससे बढकर दोषारोपण ! प्रेम दो हृदयो के सामीप्य का सहज परिणाम है। परिपक्व फल के समान तनिक-सी ठेस से भी इसको क्षति पहुच सकती है।"[7] नायिका रूठी हुई है, प्रिय मनाने का प्रयास करता है, प्रेम से समझाता है, वह और भी रूठ जाती है और कहती है—अन्य को आप इसी प्रकार प्रसन्न करते होगे।[8] नायक प्रेमपूर्वक नायिका को निहार रहा है, नायिका मान कर बैठती है। प्रश्न किया जाता है—किससे मेरे सर्वांगो की तुलना करने के विचार से मुझे ध्यान से देख रहे हैं ?[9] इस प्रकार के चित्रो मे एक ओर नाटकीयता का समावेश भी हुआ है तो दूसरी ओर सुखद प्रेम-जीवन के एक पक्ष का सफल उद्घाटन भी। इस सन्दर्भ मे यह ध्यान देने योग्य है कि वल्लुवर ने इसे प्रणयमान ही माना है और इस प्रकार का वर्णन प्रणय-कलह की सूक्ष्मता (पुलविनुणुक्कम्) के अन्तर्गत किया है। पर इसमे सकेतित अन्य स्त्री की कल्पना रूप मे उपस्थिति के कारण इसे ईर्ष्यामान के अन्तर्गत माना जा सकता है।

मान-भग—मान कर लेने के उपरान्त स्थिति और भी कठिन हो जाती है। प्रेम-रूपी कुल्हाडी मान नामक लज्जा की अर्गला से युक्त किवाडो को तोड डालती है।[10] नायिका मे

---

१ कुरल १३११।
२ कुरल १३१३।
३ कुरल १३१४।
४ कुरल १३१५।
५ कुरल १३१६।
६ कुरल १३१८।
७. बिहारी, स० डा० ओम्प्रकाश, पृ० १२०।
८ कुरल १३१६।
९ कुरल १३२०।
१०. कुरल १२५१।

मान किया पर मध्य-रात्रि तक आते-आते सयम टूटने लगा।[१] वह प्रेम को अपने मन में छिपाने का प्रयास करने लगी पर प्रेम छीक के समान बिना किसी पूर्वसूचना के व्यक्त हो गया।[२] नायिका ने मान किया है, वह प्रणय-कलह के उद्देश्य से प्रिय के निकट गयी, पर हृदय प्रिय से मिल गया, घर मे ही फूट पड गई और वह नायक का आलिंगन कर बैठी।[३] इस सदर्भ में नायक का एक कथन है—नायिका ने मान किया, नेत्रो मे थी कलह-भावना पर मेरे वहा पहुचते ही अस्थिर हो मुझमे अधिक वही गाढालिंगन करने लगी।[४] प्रेम की गति बाढ के भयकर प्रवाह के समान होती है। नायिका यह जानती है अत सखी को कहती है—'बाढ के भयकर प्रवाह को समझ कर भी उसमे कूदने वाले के समान झूठमूठ उनसे कलह करने मे प्रयोजन ही क्या है ?[५] लिखते समय नेत्र जिस प्रकार लेखनी को नही देखते, उसी प्रकार प्रियतम को देखते ही उनके दोष नायिका को दिखायी नही देते।[६] पियक्कड मदिरा को देख अपना नियत्रण, अपनी सुध-बुध खो बैठता है, प्रिय के वक्षस्थल को देख नायिका की भी यही स्थिति होती है।[७] प्रेमी-रूपी मदिरा का प्रभाव अद्भुत है। मदिरा का तो पान करना पडता है, वह देखने-मात्र से आनन्द प्रदान नही करती, पर प्रेम-मदिरा स्मरण-मात्र से सुख और दर्शन-मात्र से आनन्द प्रदान करने वाली होती है।[८] इस प्रकार प्रेम की मदिरा के वशीभूत होकर नायिका का मान-भग होता है, प्रिय के दर्शन होते ही सभी उपालम्भ धरे-के-धरे रह जाते हैं, उनकी अनुपस्थिति मे अनेक दोष दिखाई देते थे अब उन्हे समक्ष पाकर कोई नही दीखता[९] और प्रिय-प्रिया आलिंगन-आबद्ध हो प्रेम के अतीव आनन्द की प्राप्ति करते है। जिस प्रकार मोम अग्नि मे पिघल जाता है, उसी प्रकार प्रिय-सयोग कोमल-हृदया मानिनी के अग अग को पिघला कर गाढालिंगन मे आबद्ध होने के लिए विवश कर देता है।[१०]

---

१ कुरल १२५२।

२ कुरल १२५३।

३. कुरल १२५६।

तुलनीय—मोहिं लजावत, निलज ए हुलसि मिलन सब गात।
भानु-उदै की ओस लौं मानु न जानति जात ॥—बिहारी, ५६६।

४. कुरल १२६०।

५. कुरल १२८७।

तुलनीय—तुहूँ कहति, हौं आपु हूँ, समुझति सबै सयानु।
लखि मोहनु जौ मनु रहै, तौ मन राखौं मानु ॥—बिहारी, ५४८।

६. कुरल १२८५।

७ कुरल १२८८।

८. कुरल १२८१।

तुलनीय—रूप-सुधा आसव छक्यौ, आसव पियत बनै न।
प्यालैं ओठ, प्रिया-बदन रह्यौ लगाएँ नैन ॥—बिहारी, ६५०।

९ कुरल १२८६।

१०. कुरल १२६०।

सौन्दर्य-चेतना

प्रिया की रूप-राशि का वर्णन करते समय तिरुवल्लुवर का नायक नायिका के अंगों का वर्णन कर प्रिया की समग्र रूप-चेतना को अपने समक्ष रखता है। नायिका के अंगों की कोमलता, नेत्रो का अद्भुत प्रभाव, मुख का अतीव प्रभावोत्पादक सौन्दर्य इत्यादि नायक के हृदय को बांध लेते हैं।

तिरुवल्लुवर के सौन्दर्य-चित्रो मे भगिमा और रस का अद्भुत सम्मिश्रण है। मुख-सौन्दर्य के वर्णन पर कवि की विशेष दृष्टि गई है—हे चन्द्र ! यदि तुम सुमन सदृश नेत्र वाली मेरी सुन्दरी के मुख की समानता चाहो तो सबके नेत्रो मे न पडो (केवल मुझे दिखाई दो !)।[1] चन्द्रमा तथा इस कन्या के मुख मे अभेद के भ्रम के फलस्वरूप आकाश के नक्षत्र विचलित हो उठे हैं।[2] बास जैसी भुजाओ वाली इस बाला के लिए कोपल ही शरीर, मोती ही दात, सुगन्धि ही गन्ध तथा शूल ही अजन-रजित-नेत्र हैं।[3] चन्द्र तो अपूर्णता से पूर्णता की ओर अग्रसर होता है, पर उस बाला की मुख सौन्दर्य राशि पूर्ण भी है और निष्कलक भी।[4] नेत्रो का सौन्दर्य ऐसा कि कुमुदिनी देख ले तो अपने को तुच्छ मान कर नतमस्तक हो, पृथ्वी की ओर निहारने लगे।[5] जब मैं उसकी ओर देखता हू तो वह पृथ्वी की ओर दृष्टि डालती है, अन्यथा वह मेरी ओर देखकर मन्द-मन्द मुस्कराती है।[6] प्रिय की भगिमाए तिरछी चितवन, प्रेमपूर्ण नेत्र, मधुर और कठोर वचन आदि के द्वारा प्रिया के सौन्दर्य को अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। यहा प्रिय के साक्षात्-मात्र से हृदय उमड आता है, वाणी मौन हो जाती है और रूप सौन्दर्य पाश से आबद्ध हो चेतना लुप्त हो जाती है।

कबीर सयोग-शृगार

कबीर-काव्य मे 'काम', लौकिक परिभाषा मे बधकर नही आया अपितु अलौकिक प्रतिपाद्य के लिए उसका अप्रस्तुत रूप मे ही प्रयोग है। कवि लोकजीवन और अपने युग का द्रष्टा होता है, फलत लोकजीवन की उपलब्ध उपमान-सामग्री को अभिव्यक्ति का एक साधन बना लेता है। कबीर-काव्य मे इस पद्धति का उपयोग प्रचुर मात्रा मे हुआ है। उदाहरण के लिए—

कबीर सुदरि यो कहै, सुणि हो कत सुजाण।
बेगि मिलो तुम आइ करि नहिं तुर तजो पराण ॥[7]

मे वर्णित सुन्दरी के प्रिय वियोग में प्राण-त्याग करने के कथन को यदि पारलौकिक अर्थ मे न

---

१ कुरल ११९९।
२ कुरल १११६।
३ कुरल १११३।
४ कुरल १११७।
५. कुरल १११४।
६ कुरल १०९४।
तुलनीय—समुख न वीक्षते व्रीडा दर्शयति। प्रमत्त प्रच्छन्न नायकमतिक्रान्त च वीक्षते ॥
—कामसूत्रम्, ३।२५।२७।
७. कबीर ग्रथावली, पृ० ८०।

लिया जाए, तो निश्चित रूप से लौकिक जीवन में प्रिया का प्रिय-वियोग में व्याकुल होने का सुन्दर शब्द-चित्र हमारे समक्ष है। ऐसा करना इसलिए भी आवश्यक है कि लोकजीवन में उपलब्ध संकेत, उपमान-सामग्री का उपयोग कवि करता है। आरोपित अर्थ के स्थान पर अभिधार्थ अथवा वास्तविक शब्दार्थ को देखकर चलना चाहे कितना दुष्कर क्यों न हो, कवि के समक्ष उपलब्ध बिखरी हुई सामग्री का प्रमाण अवश्य ही है।

कबीर-काव्य में सयोग का वर्णन अपेक्षाकृत कम है। आध्यात्मिक धरातल के इस प्रेम की सहज अनुभूति का मार्मिक रूप वियोग में अधिक प्रभावोत्पादक बना है, सयोग के क्षणों का वर्णन भी अपनी अतृप्त बुभुक्षा, असीम आवेग और कभी न बुझने वाली अमिट प्यास से उद्वेलित है पर इसके साथ ही कबीर की अपने स्वामी के प्रति आस्था अटूट है। यह वर्णन अप्रस्तुत रूप में ही उपलब्ध है क्योंकि कबीर के काव्य का विषय भक्ति की साधना था, लौकिक शृंगार नहीं।

कबीर ने प्रेम के स्वरूप को स्पष्ट करने का अनेक स्थलो पर प्रयास किया है। 'यह हृदय की पीडा है, मानव के सम्पूर्ण अस्तित्व को व्याप्त कर लेती है।'[१] इस प्रेम की कथा अकथनीय है, वर्णनातीत है, इसका रस गूगे द्वारा खाई गई शक्कर के स्वाद के समान है, गूगा इस स्वाद का अनुभव तो करता है, पर उसे अभिव्यक्त नहीं कर सकता।[२] यह तो बाण की चोट है, अतस् को छेदने वाले इस तीर की पीडा असाधारण है,[३] इसे 'मारणहारा जांणिहै, कै जिहि लागी सोई।'[४] प्रेम का बाण लगने से यह मन मग्न हो जाता है।[५] विश्व मे आकर जिसने प्रेम का आस्वाद ग्रहण नहीं किया, वह तो 'सूने घर का पाहुणा' है, जैसे आया है, वैसे ही लौट जाता है। जिनके हृदय मे 'प्रीति न प्रेम-रस', कबीर के शब्दो मे 'ते नर इस ससार मे उपजि षये बेकाम।' प्रेम के बादलो की जिस पर वर्षा हो जाती है उसका अतरतम भीग जाता है, शरीर का रोम-रोम हरा-भरा हो जाता है, आत्मा निर्मल हो जाती है, समस्त दु:ख विनष्ट होकर पूर्णता का अनुभव प्राप्त हो जाता है।[६] यह प्रेम-तत्व हृदय की अपार शक्ति का परिचायक है, इसी की ज्योति से 'तन-पिंजर' जगमगाता है। जब इस प्रेम के परिणामस्वरूप प्रिय-मिलन होता है तो समस्त सशय दूर हो, परम सुख की उपलब्धि होती है।[७] एक बार 'पियारा

---

१. एक ज पीड परीति की, रही कलेजा छाइ।।—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ७।

२ अकथ कहाणी प्रेम की, कछू कही न जाई।
गूगे केरी सरकरा, बैठे मुसकाई।।—वही, पृ० १०४।

३ कर कमाण सर सांधि करि, खैचि जु मार्‌या माहि।।—वही, पृ० ७।

४ वही, पृ० ६।

५. मन भया मगन प्रेम सर लागा।।—वही, पृ० १३८।

६ बरस्या बादल प्रेम का, भीजि गया सब अग।।
कबीर बादल प्रेम का हम परि बरष्या आइ।
अतरि भीगी आत्मा हरी भई बनराई।
पूरे सूं परचा भया, सब दुख मेल्या दूरि।
निर्मल कीन्ही आत्मा, तार्थं सदा हजूरि।।—वही, पृ० ४, ५।

७. पिंजर प्रेम प्रकासिया, जाग्या जोग अनत।
ससा खूटा सुख भया, मिल्या पियारा कत।।—वही, पृ० १०।

कंत' मिल जाये तो अंतस्तल तक ज्योतिर्मय हो, जाता है। ऐसा अनुभव होता है मानो मुख में कस्तूरी का वास हो गया है, वचन में वही प्रेम-कस्तूरी पराग-सदृश व्याप्त होकर सबको मुग्ध करती है।[1] इस प्रेम-सुधा को पी लेने के उपरान्त किसी प्रकार का दुःख शेष नही रहता।[2]

प्रिय का दर्शन-मात्र आनन्द का सचार करने वाला है। उस स्थिति मे सूली भी सुख-शय्या में परिवर्तित हो जाती है।[3] यहा साथी भी ऐसा चुना गया है जिसे सुख-दु ख नही होता, जो हिल-मिलकर खेलता है, कभी वियोग दुःख नहीं देता।[4] प्रिय के मिलन के लिए ही प्रेयसी शृगार करती है—'किया स्यगार मिलन के ताईं।'[5] और जब मिल जाते हैं तो कबीर की प्रिया कहती है—"अब मैं पायौ राजा राम सनेही, जा बिनु दु ख पावै मेरी देही।"[6]

कबीर 'प्रेयसी' के लिए प्रिय के निकट पहुच पाना अत्यन्त दुष्कर है क्योंकि 'लबा मारग दूरि घर, बिकट पथ बहु भार।'[7] हरि का दीदार पाने के लिए, राम को रिझाने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील कबीर 'राम रतन' को प्राप्त करने मे भला असफल कैसे हो सकते हैं? निरन्तर स्मरण का प्रभाव यह हुआ कि 'मेरा मन सुमिरै राम कू, मेरा मन रामहिं आहि, अब मन रामहिं ह्वै रह्या, सीस नवावौं काहि!'[8] यह स्थिति अद्भुत है, पर प्रबल आस्था और प्रिय-मिलन की दृढ़-इच्छा का यह स्वाभाविक परिणाम है। प्रेम की यह अग्नि, जिसके हृदय में धधकती है, वही इसका अनुभव कर सकता है—'हिरदा भीतरि दौं बलै, धूवा न प्रगट होइ' इसका अनुभव तो 'जाकै लागी सो लखै' अथवा 'कै जिहि लाई सोई।'[9]

कबीर का 'सयोग' अद्भुत है। इस वर्णन से उनका उद्देश्य 'शृगार-रस की निष्पत्ति करना नहीं है। कबीर मे प्रेम-काव्य का नही, आत्मा का गुण है। कबीर का लक्ष्य प्रियतम राम के प्रति मधुर भावो की अभिव्यक्ति मात्र है।.. कबीर मे किसी काव्य-रीति की खोज व्यर्थ है, परन्तु रीतिशास्त्र जिन भावनाओ पर टिका है, उनके सहज सस्कार प्रेमी कबीर के हृदय मे अवश्य हैं।"[10]

प्रेम के मार्ग मे कबीर पूर्ण समर्पण एव पूर्णरूपेण लीन हो जाने के महत्त्व से परिचित हैं, उनके सयोग के मार्ग मे 'लूण बिलगा पाणिया पाणी लूण विलग' अथवा 'पाणी ही तै हिम भया हिम ह्वै गया बिलाई'[11] का सिद्धान्त कार्य करता है। इन पदो मे एक ओर आध्यात्मिक-

---

१ प्यजन प्रेम प्रकासिया अतरि भया उजास।
मुख कस्तूरी महमही, बाणी फूटी बास॥—कबीर ग्रथावली, पृ० १०।

२ प्रेम-सुधा रस पीवै कोई। जरा मरण दुख फेरि न होई॥—वही, पृ० २३१।

३. दरसन भया दयाल का, सूल भई सुख सौडि॥—वही, पृ० १२।

४ कबीर साथी सो किया, जाकै सुख दुख नही कोइ।
हिलि मिलि ह्वै करि खेलिस्यू कदे बिछोह न होइ॥—वही, पृ० ६८।

५. वही, पृ० ६५।

६ वही, पृ० १३७।

७. वही, पृ० ५।

८. वही, पृ० ४।

९ वही, पृ० ६।

१०. भक्ति का विकास—डा० मुशीराम शर्मा, पृ० ४८५।

११. कबीर ग्रथावली, पृ० १०।

दृष्टि सत्य का अनुभव करती है तो दूसरी ओर लौकिक जीवन के प्रेम-मार्ग का आदर्श रूप भी इनमें दृष्टिगत होता है। प्रिय के निकट जाते हुए प्रेयसी झिझकती है, विचित्र प्रकार के भाव उसके हृदय को मथते हैं, यह स्थिति लज्जा, सकोच, आशका मिश्रित है। पर प्रिय-मिलन का आकर्षण भी तो कम प्रबल नहीं है। प्रिय-मिलन के मार्ग पर अग्रसर होती हुई यह प्रेयसी झकझोर देने वाले विचारो को दमित करने का असफल प्रयास करती है, पर प्रिय-मिलन होते ही सुध-बुध भूल जाती है, उसका मिलन इन सब आशकाओ को समाप्त कर देता है—

बालपनै के करम हमारे काटे जानि दई,
बाह पकरि करि कृपा कीन्ही, आप समीप लई।[१]

'आप समीप लई' से ही आने वाले सयोग-सुख की कल्पना साकार रूप धारण कर लेती है। जल की बूद से पिण्ड तैयार करने वाले उस प्रियतम के साथ वह अधिक से-अधिक समय रहती है, यह प्रेम कम होना नही जानता, नित्य प्रति नवीन होता रहता है।[२] प्रिय के अभाव मे 'जा कारनि हम देह धरि है मिलिबौ अगि लगाई'[३] का विचार करने वाली भक्त रूपी प्रेयसी को जब प्रियतम 'बाह पकरि करि कृपा' करता है तो सब कष्ट भूल जाते हैं, हृदय गद्‌गद्‌ हो उठता है, कण्ठ का स्वर रुद्ध हो जाता है, शब्दों की आवश्यकता ही नही रहती, यही तो सभोग-शृगार की विशिष्ट शक्ति है। विरह की अग्नि मे जलने के उपरान्त जब प्रिय से मिलन होता है तो नायिका अपने भाग्य को सराहती है, मगलाचार इत्यादि के उपरान्त 'मदिर माहि भया उजियारा, ले सूती अपना पीव पियारा' की स्थिति आती है। 'हमहिं कहा यह तुमहि बडाई', 'कहै कबीर मैं कछू न कीन्हा, सखी सुहाग राम मोहि दीन्हा' मे प्रिया प्रिय को प्राप्त करने मात्र से ही स्वय को धन्य मानती है, यहा कोई शिकायत का, उपालम्भ का भाव नही है।[४]

सयोग सुख प्राप्त होने पर कबीर उसे छक कर पीते हैं—'कबीर हरि रस यौं पिया, बाकी रही न थाकि।'[५] पर प्रेम के इस 'उज्जल निर्मल नीर' को 'तन मन जोबन भरि पिया' के उपरान्त भी 'प्यास न मिटी सरीर'।[६]

कबीर-काव्य मे सयोग-शृगार के अत्यन्त मार्मिक, हृदयग्राही चित्र हैं। नदी के पार मिलनस्थल पर प्रिय ने झूला झूलने का प्रबन्ध किया है। कबीर की 'सुलक्षणी नारि' वहा नित प्रति झूलने के लिए जाती है।[७] उद्दाम सयोग मे शरीरों का मिलन ऐसा हो कि दो शरीर एक हो जाये। तिरुवल्लुवर आलिगन के अवसर पर शरीरो के मध्य की वायु को भी स्वीकार नही

---

१. कबीर ग्रथावली, पृ० १४३।
२ पानी की बूद थें जिनि प्यड साज्या, ता सगि अधिक करई।
दास कबीर पल प्रेम न घटई, दिन दिन प्रीति नई॥—वही, पृ० १४३।
३ वही।
४ बहुत दिनन थें मैं प्रीतम पाये। . . .
मगलचार माहि मन राखौं राम रसाइण रसना चाषौ॥—वही, पृ० ६६।
५. वही, पृ० १३।
६ वही, पृ० १३।
७. दरिया परि हिंडोलना मेल्या कत मचाइ।
सोइ नारि सुलषणी नित प्रति झूलण जाइ॥ —वही।

करते।[1] पर कबीर के यहां तो 'ते क्यू मिलै, जब लग दोइ सरीर'[2] की स्थिति है। प्रिय के संग-मात्र से ही शरीर शीतल हो जाता है, ताप मिट जाता है, रात्रि-दिवस सुखमय हो जाते हैं।[3]

तिरुक्कुरल मे वियोग-शृंगार

विरहावस्था मे शृंगार-रस का पूर्ण प्रस्फुटन एव परिपाक होता है। इस स्थिति में पूर्ण मानसिक मिलन रहता है। मिलने की इच्छा ज्यो-ज्यो तीव्र होती जाती है, त्यो-त्यो प्रेम की गहराई बढती जाती है। . विरहाग्नि मे तपकर प्रेमी का स्वरूप निखर उठता है, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार अग्नि मे तपने के बाद ही स्वर्ण की निकाई निखरती है।[4]

विरह के विकास की स्थिति अद्भुत है। सयोग मे शरीर की प्रमुखता होती है, पर वियोग मे धीरे-धीरे इन्द्रियजन्य सुख-प्राप्ति के स्थान पर प्रिय दर्शन की कामना शेष रह जाती है। इसके उपरान्त तो प्रिय के कुशल-समाचार, उनके सदेश अथवा उनके विषय मे किसी अन्य के कथन की कामना ही प्रमुख हो जाती है। यह प्रेम धीरे-धीरे ऐन्द्रियता के स्थान पर मानसिक धरातल का आधार ग्रहण करता है। तिरुवल्लुवर-काव्य में वियोग इसी प्रकार ऐन्द्रिय धरा-तल से उठता हुआ मानसिक धरातल पर पहुचता है। विरह-वर्णन का विश्लेषण करते हुए डा० ओम्प्रकाश का कथन है—वर्णन के तीन विषय और हैं—'स्तन, नेत्र तथा मुस्कान। जिस प्रकार मुख रूप का सामान्य प्रतिनिधि है, उसी प्रकार स्तन यौवन-जन्य शारीरिक विकास के सामान्य द्योतक है। .यदि काव्य-शास्त्र की शब्दावली का प्रयोग करें तो यौवन-रस की अभिव्यक्ति मे ज्योति-वर्णन ध्वनिकाव्य है, नेत्र-मुस्कान का वर्णन गुणीभूत व्यग्य और स्तन-वर्णन चित्र-काव्य।[5] तिरुवल्लुवर-काव्य के कामखण्ड को इस दृष्टि से देखें तो निश्चय ही वह ध्वनि काव्य और गुणीभूत-व्यग्य-काव्य है, उसमे चित्र-काव्य के अश का अभाव है।

अग-असौष्ठव—प्रिय-विरह मे नायिका का शरीर अपनी स्वाभाविक कान्ति और सौन्दर्य को खो बैठा है। फलत नेत्रो को सुन्दर पुष्पो के सम्मुख लज्जित होना पडा।[6] रोती हुई पीली आखे प्रियतम का प्रेम प्राप्त न होने की मानो घोषणा करती है।[7] सयोग मे आलिंगन-आनन्द से उठी हुई भुजाए अब ढीली होकर वियोग को स्पष्टत अभिव्यक्ति प्रदान कर रही हैं। भुजाओ के सौन्दर्य-च्युत हो सिकुडकर क्षीण हो जाने से चूडिया फिसलती जा रही हैं और निष्ठुर प्रियतम की निर्ममता को व्यक्त कर रही हैं।[8] सखी कहती है—तुम्हारे प्रिय निर्दयी हैं।

---

१ कुरल ११०८।

२ कबीर ग्रथावली, पृ० ११।

३ हरि सगति सीतल भया मिटी मोह की ताप।
निस बासुरि सुख निध्य लह्या जब अतरि प्रगट्या आप॥—वही, पृ० ११।

४ शृंगार-रस का शास्त्रीय विवेचन, डा० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी।

५ बिहारी, स० डा० ओम्प्रकाश, पृ० १२५।

६ कुरल ११३१, तुलनीय ' तबतें इन सबहिन सचु पायो,
जबते हरि सदेश तुम्हारो सुनत तावरो आयो—सूरसागर।

७ कुरल १२३२।

८. कुरल १२३३, १२३४।

नायिका मन में विचार करती है—ढीले बाजूबंद और क्षीण हुई भुजाओं के साथ हृदयेश के नाम का अपयश सुनने में मैं सर्वथा असमर्थ हूं।[१] विरह-पीडा के कारण शरीर के कृश होने, पीला पड जाने, लावण्य रहित हो जाने इत्यादि का वर्णन विरह की तीव्रता और विरह-जन्य मानसिक प्रभावों का ही वर्णन है। तिरुवल्लुवर की नायिका प्रियतम के प्रवास के समय परि-स्थिति-जन्य विवशता के कारण अपनी सहमति दे देती है, पर अब व्याकुल होकर पूछती है कि अपने पीलेपन की व्यथा किससे कहूं?[२] पीलापन प्रियतम-प्रदत्त है फलत पूर्ण अधिकार-जन्य अहंकार के साथ सम्पूर्ण शरीर पर फैलता जा रहा है।[३] जाते समय प्रिय लावण्य और लज्जा तो ले गये और प्रतिफल स्वरूप विरह-वेदना और पीलापन दे गये।[४] नायिका के शरीर पर पीलापन उसी क्षण छा जाता है, जिस क्षण प्रिय प्रवास के लिए प्रस्तुत होते हैं। नायिका को देख सखी, परिवार के सदस्य एव अन्य लोग भी कहने लगते हैं—देखो कितनी दुर्बल और पीली हो गई है। नायिका कहती है—'पर यह कहने वाला कोई नही कि मुझे वे छोडकर चले गए।'[५] नायिका को अपने विषय मे की जा रही चर्चा मे कोई आपत्ति नहीं, पर इसी प्रसग मे होने वाली प्रियतम की निन्दा से अवश्य आपत्ति है।[६] तिरुवल्लुवर ने प्रवास-जन्य विरह का वर्णन 'कर्पियल्' के अन्तर्गत किया है। इस प्रवास के दो कारणो का उल्लेख है—१ नायक का युद्ध के लिए जाना एव २ धनोपार्जन के लिए विदेश जाना।[७] तिरुक्कुरल के अन्तर्गत प्रेम के प्रारम्भिक अश मे शरीर और शरीर-जन्य सुख की कामना प्रबल रूप मे उभर कर हमारे समक्ष आती है। प्रवास की सूचना मिलते ही प्रेम ऐन्द्रियता के स्थान पर मानसिक रूप धारण करने लगता है। प्रिय से वियोग आनन्द और उल्लास से वियोग है, प्रिया के समस्त भावो का आश्रय प्रेमी ही है, उसके अलग होते ही उसका जीवन भावना-विहीन, निरानन्द, तरु से कटी शाखा के सदृश हो जाता है। तिरुवल्लुवर ने विरहिणी की असहायावस्था और दैन्य के अनेक भावनामय चित्र प्रस्तुत किए है।

नायक के प्रवास की सूचना मिलने ही शरीर के समस्त अवयवो और मन पर मानो आघात-सा हुआ। प्रियतम का स्वभाव तो शीतल है परन्तु उनके वियोग का आघात अत्यन्त प्रबल, उनके वियोग को 'हम से पूर्व हमारी चूडिया ताड गई।'[८] प्रवास के लिए प्रस्तुत नायक आकर प्रिया को अपने शीघ्र लौट आने का आश्वासन देना चाहता है, पर नायिका

---

१. कुरल १२३६।

२ कुरल ११८१, तुलनीय—कर के मीडे कुसुम लौं गई बिरह कुम्हिलाइ।
सदा-समीपनि सखिनु हू नीठि पिछानी जाइ॥
—बिहारी, ५१६।

३. कुरल ११८२।

४ कुरल ११८३, तुलनीय—है हिय रहति हई छई, नई जुगति जग जोइ।
दीठिहिं दीठि लगै, दई, देह दूबरी होइ॥
—बिहारी, ५०२।

५. कुरल ११८८।

६ कुरल ११९०।

७. कुरल १२६८, १२३०।

८ कुरल १२७७।

कहती है—हे प्रिय, जाना न हो तो मुझसे कहें, अन्यथा अपने शीघ्र लौट आने का आश्वासन उन्हें दें जो तब तक जीवित रहेंगे।[1] नायक की दृष्टि पहले तो आनन्द का कारण बनती थी परन्तु इस सूचना के उपरान्त आलिंगन मे भी वियोग-भय से उत्पन्न दु ख है।[2] वह विचार करती है—अब तो किसी पर विश्वास करना भी कठिन हो गया क्योंकि मेरे हृदय को पूर्णरूपेण जानने वाले प्रियतम के मन में भी मुझसे दूर जाने का विचार उत्पन्न हुआ है।[3] नायिका सखी से कहती है—यदि मुझे बचाना ही है तो शीघ्र प्रिय के वियोग से बचाओ, अन्यथा वियोग के उपरान्त पुर्नमिलन असम्भव है।[4] प्रिय के समझाने-बुझाने के सभी प्रयास निष्फल ही रहते हैं; नायिका का तर्क है कि 'तुम इतने कठोर हो गए कि मुझसे विलग होने की चर्चा कर रहे हो, फिर लौटकर प्रेम निभाओगे, इसकी इच्छा ही व्यर्थ है।[5] वियोग-सूचना-जन्य मानसिक पीड़ा का तुरन्त प्रभाव होता है और कलाई से न उतरने वाली चूडियां फिसल कर गिर पडती हैं।[6]

वियोग-जन्य व्याकुलता और दैन्य का चित्रण करने मे तिरुवल्लुवर को विशेष सफलता प्राप्त हुई है। विरहिणी के हृदय में धधकती प्रिय-समागम की इच्छा प्रिय वियोग मे तीव्रतर होकर असह्य वेदना का कारण बनती है। काम-वेदना का प्रबल समुद्र उपस्थित है, पर प्रिय के अभाव मे उसे पार करने के लिए आवश्यक साधन रूपी नाव का अभाव है।[7] सयोग के क्षणो मे काम आनन्द का समुद्र होता है, पर वियोग मे उसका दु ख समुद्र से भी अधिक विशाल हो जाता है।[8] अर्धरात्रि मे वह अपने साथ तर्क-वितर्क करती है, पर काम की 'भवर' मे डूबती-उतराती रहती है।[9] जगत् उपकारिणी रात्रि सम्पूर्ण जीवो को अपनी गोद में सुलाती है, पर स्वय अकेली रह जाती है। इस समय उस रात्रि का एक सहायक है—प्रिय-वियोग मे निद्रा के अभाव से युक्त नायिका।[10] यह तो मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि कष्ट मे समय रुक-रुक कर व्यतीत होता है, दिन तो किसी प्रकार कट ही जाता है, पर रात्रि प्रियतम की निर्ममता से भी अधिक कठोर हो जाती है क्योंकि यह दीर्घ होती जाती है।[11] हृदय तो प्रियतम के पास चला जाता है पर नायिका ऐसा कर पाने मे असमर्थ है फलत नेत्रो के अश्रु-प्रवाह मे ही तैरकर समय व्यतीत

---

१ कुरल ११५१।
२ कुरल ११५२।
३ कुरल ११५३।
४ कुरल ११५५, तुलनीय—दुसह विरह दारुन दसा, रहै न और उपाइ।
जात जात ज्यौं राखियतु, प्यौ कौ नाऊँ सुनाइ॥
—बिहारी, ६६१।
५ कुरल ११५६।
६ कुरल ११५७।
७ कुरल ११६४।
८ कुरल ११६६।
९ कुरल ११६७।
१०. कुरल ११६८।
११ कुरल ११६९। तुलनीय रह्यौ ऐंचि, अतु न लहै, अवधि-दुसासनु बीरु।
आली, बाढ़तु बिरहु ज्यौं पचाली कौ चीरु॥—बिहारी, ४००।

करती है।[१] नायिका के नेत्रो मे अश्रु देख सखी समझाती है पर विवश नायिका का कथन है— मैं इस जल को छिपा तो लू पर यह तो स्रोत के जल के समान निकाले जाने पर भी पुनः भर जाता है।[२]

वियोग मे शरीर के प्रत्येक अग पर प्रभाव होता है पर नेत्रो की स्थिति विशिष्ट है। प्रथम-मिलन में इन्ही नेत्रो ने भाग कर प्रिय के दर्शन किए थे, आज ये स्वय विलाप कर रहे हैं। नायिका के अनुसार यह हास्यास्पद स्थिति है।[३] इन कामुक नेत्रो ने पहले तो बिना विचार किये प्रेम किया, वही अब धैर्यहीन होकर विलाप कर रहे हैं।[४] नायिका के हृदय मे असह्य और अनन्त काम-वेदना उत्पन्न कर कामुक नेत्र स्वय रो-रो कर सूख गये हैं।[५] यह असह्य काम-वेदना समुद्र से भी विशाल है और इसे देने वाले नेत्र भी निद्राहीन और वेदना-पीडित हैं।[६] पर यह नायिका के सतोष का कारण भी है क्योकि 'मुझमे इस प्रकार की काम-वेदना उत्पन्न करने वाले नेत्र अब दु ख से पीडित हैं—यह अच्छा ही हुआ।'[७]

प्रिय-वियोग में निरन्तर स्मरण, चिन्तन का एक स्वाभाविक परिणाम है स्वप्न मे प्रिय-दर्शन। निद्रावस्था मे देश-काल की सीमाए लाघ कर अवचेतन प्रिय-दर्शन करता है। यद्यपि 'स्मरण' मे प्रिय-चित्र समक्ष ही रहता है, पर निद्रावस्था मे प्रिय के दर्शनो का विशिष्ट आनन्द है। नायिका अतिथि-सत्कार मे विशेष आस्था रखती है, पर प्रियतम का सदेश लाने वाले स्वप्न का आतिथ्य तो विशेष ही होना चाहिए।[८] नायिका के प्राण अभी टिके हुए है, उसका कारण है जाग्रतावस्था मे अप्राप्त प्रियतम को स्वप्नावस्था मे देख लेना।[९] नायिका इसी कारण जाग्रत अवस्था की कामना न कर केवल निद्रावस्था की कामना करती है क्योकि उस स्थिति मे प्रियतम कभी पृथक् नही होते।[१०] जागते हुए प्रिय-समागम का आनन्द सयोग के क्षणो मे ही रहता है, इसी प्रकार स्वप्न भी देखने भर तक मधुर होना है।[११] निद्रा के समय स्वप्न मे तो प्रिय बाहुओ मे रहते हैं, स्वप्न टूटते ही भाग कर हृदय मे छिप जाते है,[१२] पर नायिका के लिए तो स्वप्न जाग्रतावस्था मे प्रेम न करने वाले प्रियतम को खोज लाने का साधन बन गया है,[१३] और प्रियतम भी कितना निष्ठुर है, जाग्रतावस्था मे तो दूर रहना है, पर स्वप्न मे आकर छेड-

---

१ कुरल ११७०।
२ कुरल ११६१।
३ कुरल ११७३।
४ कुरल ११७२।
५ कुरल ११७४।
६ कुरल ११७५।
७ कुरल ११७६।
८ कुरल १२११।
९ कुरल १२१२।
१० कुरल १२१६।
११ कुरल १२१५।
१२ कुरल १२१८।
१३ कुरल १२१४।

खाई प्रारम्भ कर देता है।[1] स्वप्न-मिलन से प्राप्त संतुष्टि के फलस्वरूप नायिका को अब प्रिय से कोई शिकायत नही क्योंकि स्वप्न में जो प्रियतम के दर्शन नहीं करती वही वियोग में प्रियतम को बुरा भला कहेगी।[2]

समग्रत: यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि प्रिय वियोग में स्वप्न एक उपलब्धि के समान बन जाता है। चेतन-अवचेतन का भेद समाप्त हो अवचेतन चेतन पर हावी हो जाता है। सामान्य जीवन में अतृप्त आकाक्षा स्वप्न के माध्यम से सतुष्टि प्राप्त करती है। यह स्थिति मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अस्वाभाविक हो सकती है, प्रेम में पगे, गहरे पैठे लोगो के लिए तो यह प्रिय-मिलन की अत्यन्त स्वाभाविक प्रक्रिया है। तिरुवल्लुवर की नायिका की दृढ़-आस्था, भाव की अनन्यता, आदर्श प्रेम का श्रेष्ठ उदाहरण है, यह गृहिणी का विरह है, शात-सरिता के समान, गाम्भीर्य से युक्त, पर सहज, कोमल भावनाओं से ओतप्रोत ; रीतिकालीन दरबारी कवियों के उफान-युक्त प्रेम से इसकी भिन्नता स्पष्ट है।

सध्या—विरह में प्रत्येक क्षण दु खप्रद होता है, पर सध्या का अवसर विशेष पीडा-जनक है। दैनिक जीवन के कार्यों मे सलग्न नायिका का हृदय सध्या आते-आते धैर्यहीन हो उठता है। 'सध्या' रात्रि की सूचना है और प्रिय-विरह मे रात्रि पीडा और व्याकुलता का समय है। सध्या के आने ही उसकी मद प्रभा को देख नायिका उससे प्रश्न करती है—क्या तू भी मेरे प्रियतम के समान निर्दय है?[3] प्रियतम के सयोग के अवसर पर आनन्दप्रदायिनी इस सध्या के इस दु खप्रद व्यवहार से अनभिज्ञ नायिका[4] के मन मे स्वाभाविक प्रश्न उठता है—प्रात काल का मैंने क्या उपकार किया था और दु खदायिनी इस सध्या का क्या अपकार?[5] पर ओसकण युक्त, मन्द-प्रभा सध्या नायिका को अतीव क्लेश देती हुई बढती आती है।[6] प्रात काल मे प्रेम की पीडा कली-रूप मे होती है, सम्पूण दिवस मे वह विकास प्राप्त करती है और सध्या मे पूर्ण विकास प्राप्त कर लेती है।[7] दु खदायिनी सध्या के आने की सूचना देने वाली ग्वाले की मुरली नायिका के लिए सहारक अस्त्र का कार्य करती है।[8] दिन भर तो प्राण प्रिय-स्मरण से वश में रहते हैं, पर बुद्धि को विकार-ग्रस्त करते हुए ढलने वाली सध्या के समय तो प्राण कूच कर रहे प्रतीत होते हैं।[9]

स्मरण—नायिका अपनी स्थिति से धीरे-धीरे समझौता कर लेती है। प्रिय के प्रेम मे दृढ़ आस्था और प्रबल विश्वास इसका आधार है। पर यह समझौता प्रिय स्मरण में बाधा नही बनता। प्रिय का स्मरण अनन्त आनन्दप्रद है। मद्यपान का स्मरण मधुर नहीं होता, पर

---

१ कुरल १२१७।
२ कुरल १२१९, तुलनीय मैन न खोलूं बरपते मत सपना हो जाए।"
३. कुरल १२२२।
४ कुरल १२२६।
५. कुरल १२२५।
६ कुरल १२२३।
७. कुरल १२२७।
८. कुरल १२२८।
९ कुरल १२२९, १२३०।

प्रेम की मस्ती का स्मरण मधुर होता है।[1] प्रियतम के स्मरण मात्र से ही वियोग से उत्पन्न सम्पूर्ण दु:ख अगोचर हो जाते हैं।[2] नायिका विचार करती है कि मेरे हृदय में वे तो उपस्थित हैं, क्या मेरे लिए भी उनके हृदय में स्थान है ?[3] यदि ऐसा है तो प्रिय-विरह शीघ्र दूर होगा, पर सम्भवत प्रिय अपने हृदय से मुझे निरन्तर अलग रखते हैं। यदि ऐसा है तो मेरे हृदय में प्रवेश करते हुए लज्जित क्यो नही होते ?[4] वियोग में जीवन का आधार सयोग के मधुर-क्षण ही होते हैं अन्यथा जीवित रहने के लिए शेष रह ही क्या जाता है ?[5] प्रियतम ने सयोग के क्षणो में कहा था—हम दो नही हैं। ऐसा कथन कह कर भी विरह-पीडा देने वाले प्रियतम मे प्रेम के अभाव का अनुमान कर नायिका के स्नेहयुक्त प्राण सूखे जा रहे हैं।[6] नायिका चन्द्र से अनुनय-विनय करती है—हे चन्द्र ! पहले अभिन्न रहकर, फिर बिछुड जाने वाले प्रियतम को जब तक इन नेत्रो से न देख लू तब तक यही बने रहो।[7] सकेत स्पष्ट है, ज्योतित चन्द्र में ही वह अपने प्रिय चन्द्र-मुख को देख कर सतुष्ट हो लेगी।

कबीर-काव्य में वियोग-शृगार

कबीर ने प्रेम को दो रूपो मे ग्रहण किया है—(क) अलौकिक अथवा आध्यात्मिक रूप मे प्रस्तुत ऐहलौकिक प्रेम, यह परम सत्य, परम तत्त्व, परम आनन्द इत्यादि के ससर्ग से नवीन अर्थवत्ता ग्रहण करता है। आध्यात्मिक सदर्भ मे देखने से ही उसका रूप स्पष्ट हो सकता है। अप्रस्तुत आधार लौकिक है अत लौकिक प्रेम-विषयक अनेक निष्कर्ष इससे प्राप्त हो सकते हैं। (ख) प्रेम का मानवतावादी रूप जिसमे अनन्त करुणा, अहिंसा, सद्भाव, सौजन्य, मैत्री आदि मानवीय गुणो से मानव का मानवमात्र के प्रति प्रेम है। यह प्रेम धर्म का मूलाधार है, अत इसका अध्ययन 'धर्म' के अन्तर्गत हुआ है।

कबीर का उपास्य निर्गुण, निराकार परब्रह्म है। भक्ति की साधना के लिए इस निर्गुण, निरुपाधि ब्रह्म मे गुणो का आरोप आवश्यक है अत उन्होने परमात्मा के साथ सासारिक प्रेममूलक सम्बन्धो की स्थापना की। दाम्पत्य भाव मे सम्पूर्ण समर्पण, दृढ-निष्ठा-आधृत-अनुरक्ति सम्भव देख उन्होने इस लौकिक सम्बन्ध को अपनी साधना का अग बनाया।

कबीर के विरह-वर्णन को परम्परागत शास्त्रीय मनोदशाओ—यथा अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, गुण-कथन इत्यादि के क्रमबद्ध विवेचन मे बाध पाना सम्भव नही। इनके वियोग मे निरन्तर एक प्रवाह है जो अपने मूलरूप मे चरम-आस्था पर आधृत है। इसी प्रकार विरह की स्थितियों—पूर्वराग, मान, प्रवास, करुण इत्यादि का आधार यहा नही है। शुद्ध पूर्वराग

---

१ कुरल १२०१।

२ कुरल १२०१। तुलनीय—ध्यान आनि ढिग प्रानपति, रहति मुदित दिन राति।
पलकु कँपति, पुलकति पलकु, पलकु पसीजति जाति।।
—बिहारी, ५६४।

३. कुरल १२०३।

४ कुरल १२०५।

५. कुरल १२०६।

६ कुरल १२०६।

७. कुरल १२१०।

का यही अभाव है क्योंकि यहा प्रेम पति-पत्नी रूप को धारण कर लेता है, प्रिय का आगमन ही पतिरूप में होता है। विरह प्रवासजन्य न होकर वियोग-जन्य है, एकाध स्थल पर प्रवास का उल्लेख केवल साकेतिक है।

"कबीरदास का प्रियतम 'दु ख का राजा' है। उसका रास्ता देखते-देखते आखों में झाई पड़ गई है, नाम पुकारते-पुकारते जीभ में छाले पड़ गए हैं। रात-दिन आखों से निर्झर झर रहा है, मुख से पपीहे की रट लगी हुई है—विरह-वेदना से सारा शरीर म्लान हो गया है।"[1] यहा दु ख है, पर उसकी लीला विचित्र है। यह कन्त "हसि हसि न पाइये"[2] इसे प्राप्त करने का मार्ग रुदन है। विरह की यह अग्नि प्रबल है, शरीर को जलाकर भस्मीभूत कर रही है।[3] दिवस जिसकी प्रतीक्षा मे व्यतीत होता है, रात्रि भी उसी का पथ जोहने में बीत जाती है, प्रिय लौट कर नही आते और हृदय निरन्तर तड़पन का अनुभव करता है।[4] दिवस-रात्रि की पीडा तो है ही, स्वप्न में भी सुख प्राप्त नही होता।[5]

व्याकुलता—यहा स्थिति लोक में प्रचलित शृङ्गार-वर्णन से नितात भिन्न है। नायक का परस्त्री-सम्बन्ध का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता, प्रवास की स्थिति भी यहा नहीं है, विरह का समस्त आधार ही भिन्न है। यहा प्रिय भी विचित्र है, प्रिया भी, पर दूरी विद्यमान है, "आइ न सकौं तुझ पैं, सकू न तुझ बुलाइ"[6] से असहायावस्था और मार्मिक स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है। इस पीडा-जन्य व्याकुलता को वही समझ सकता है जिसने इसका स्वय अनुभव किया हो।[7] 'बहुत दिनन कै बिछुरै' प्रिय के दर्शन के लिए आतुर प्रिया विरह की अग्नि मे रात्रि-दिवस जल रही है, वह प्रिय से शीघ्र लौट आने की अत्यन्त कातर भाव से प्रार्थना करती है।[8]

प्रिय-मिलन की उत्कट अभिलाषा—प्रियतम के प्रति अनन्य निष्ठा एव मिलन की प्रबल कामना से युक्त प्रिया के मन मे अनेक इच्छाए उमडती हैं। मिलन-सुख और हिलमिल कर खेलने की प्रबल कामना उसे व्याकुल करती है। प्रिय की प्रतीक्षा मे शय्या सिंह के समान हो गई है, जब वह उस पर सोने का उपक्रम करती है, वह खाने को दौडती है। शय्या पर पड़े-पड़े

---

१ कबीर—ह० प्र० द्विवेदी, पृ० १६३ ('दु ख रातेर राजा'—रवीन्द्रनाथ ठाकुर)

२ हँसि हँसि कत न पाइये, जिनि पाया तिनि रोइ।—कबीर ग्रथावली, पृ० ७।

३ यहु तन जालौ मसि करू, ज्यू धूवा जाइ सरग्गि॥—वही, पृ० ६।

४ कबीर देखत दिन गया, निस भी देखत जाइ।
बिरहणि पिव पावै नही, जियरा तलपै माइ॥—वही, पृ० ८।

५ बासुरि सुख नाँ रैंणि सुख, नाँ सुख सुपनैं माँहि॥—वही, पृ० ६।

६ वही।

७ सोई पैं जानै पीर हमारी, जिहि सरीर यहु ब्यौरी॥—वही, पृ० १४३।

८ हो बलिया कब देखोगी तोहि।
अह निस आतुर दरसन कारनि, ऐसी ब्यापै मोहि।
नैन हमारे तुम्ह कू चाहैं, रती न मानैं हारि॥
बिरह अगिन तन अधिक जरावै ऐसी लेहु बिचारी।
× ×
बहुत दिनन कैं बिछुरै माधो, मन नहीं बांधै धीर॥—वही, पृ० १४३।

रात्रि भर जाग कर शरीराग्नि मे निरन्तर जलते हुए भी यही कामना रहती है कि 'मिलैं जे सांई, मिलिकरि मंगल गाइ।'[1] वियोग में व्याकुल प्रिया को न अन्न अच्छा लगता है, न रात्रि में नींद आती है, प्रिय बिना जीवन व्यर्थ है ऐसा भाव उसके मन में बार-बार आता है। प्रिय के स्नेह का प्रमाण तो तभी मिलेगा जब वह आकर प्रिया के सग एक ही शय्या पर सोवेगा।[2] वह सखी से विनती करती है—'चलौ सखी जाइये तहा, जहा गयें पाइयें परमानद।'[3] मछली के समान तड़पती हुई वह दीन भाव से कहती है—'कोई मोहि राम मिलावै।' विरह की यह अग्नि अन्दर-ही-अन्दर जलती रहती है, इसका धुआ बाहर प्रकट नही होता, विरह जन्य व्याकुलता का अनुमान तो 'जाके लागी सो लखै।'[4] प्रिय ने जब से चित्त चुराया है तब से कुछ भी अच्छा नही लगता[5] और 'बिसरे ग्यान बुद्धि सब नाही, भई विकल मति भौरी' की स्थिति हो गई है।[6]

एकनिष्ठता एव प्रेम का दुस्तर मार्ग—कबीर के प्रेम मे सम्पूर्ण एव सर्वांगीण त्याग की भावना का स्वर है। गृहस्थ मे दम्पत्ति का प्रेम पारस्परिक सहयोग, विश्वास, सद्भाव एव समझौते पर आधृत होता है। *प्रिय का वियोग पत्नी को अस्थिर कर सकता है व्याकुल कर सकता है*, पथभ्रष्ट नही। कबीर-काव्य का दाम्पत्य-प्रेम आदर्श पतिव्रता की असीम त्याग भावना, एकनिष्ठता और अपने 'स्व' को पूर्णरूपेण लीन कर देने के भाव से युक्त है। 'ज्यू' हरि राखै त्यू रहौं, जो देवै सौ खाउ' मे मनसा, वाचा, कर्मणा समर्पण है।[7] लौकिक प्रेम मे इस त्याग एवं उत्सर्ग का महत्त्व सर्वस्वीकृत है। यह आदर्श प्रेम का प्रमुख आधार है, पर कबीर की प्रिया तो निरन्तर बलिदान का साकार रूप है। विषय वासना से प्रेरित सामान्य मनुष्य तो मृत्यु से भयभीत रहता है, पर यहा तो शूरवीरता का चिह्न ही हसते हसते मृत्यु का आलिगन करना है। यह पतिव्रता सती तो मृत्यु का आवाहन करती है, उसे सामने से भेटती है, उसे प्राप्त कर हर्षातिरेक से आनन्द-विभोर हो उठती है। जो शूर है, वह तो सीस उतार कर हाथ मे रखता

---

१ वै दिन कब आवैंगे माइ।
जा कारनि हम देह धरी है, मिलिबौ अंगि लगाइ।
हौं जानूं जे हिल मिलि खेलूं, तन मन प्रान समाइ।
या कांमना करौ परपूरन, समरथ हौ राम राइ।
माहि उदासी माधौ चाहै, चितवति रैंनि बिहाइ।
सेज हमारी स्यध भई है, जब सोऊ तब खाइ॥—कबीर ग्रथावली, पृ० १४३-१४४।

२ एक मेक ह्वै सेज न सोवै तब लग कैसा नेह रे।
आन न भावै नींद न आवै ग्रिह बन धरै न धीर रे।
× × ×
... . बिन देखे जीव जाइ रे॥—वही, पृ० १४४।

३. वही, पृ० १४३।

४ हिरदा भीतरि दौं बलै, धुवा न प्रगट होइ॥—वही, पृ० ६।

५. च्यतामणि चित चोरियौ, ताथैं कछू न सुहाइ॥—वही, पृ० १४३।

६ वही।

७ वही, पृ० १५।

है।[1] प्रेम के इस घोड़े पर चैतन्य सवार ही चढ़ सकता है।[2] यह मार्ग तो 'खांडे की धार' और 'अगनि की झाल' है।[3] इस प्रेम के मार्ग में दूरी का कोई महत्त्व नहीं, यहा तो 'जो, जाही कौ भावता, सो ताही कै पास'[4] की स्थिति है। कुमुदिनी जल में वास करती है, पर आकाश के निवासी चन्द्र से प्रेम करती है। जो प्रेम करता है, उसे प्रिय कभी-न कभी अवश्य मिलेंगे क्योंकि जिसे तन और मन सौंपा जाता है वह कभी छोड़कर नहीं जा सकता।[5] यहा प्रेम के मूल में आस्था और पूर्ण विश्वास का स्वर प्रमुख है, निरन्तर आशावती प्रेयसी के हृदय में स्पष्ट धारणा है कि प्रिय-मिलन होगा। वह विचार करती है—एक बार प्रिय मिल जाये तो उसे अपने नेत्रों मे इस प्रकार बन्द कर लूगी कि मैं अन्य किसीको न देख सकूं और नेत्रों में बन्द प्रिय भी तब किसी अन्य को नही देख पाएगे।[6] अपने प्रिय पर इतना प्रबल विश्वास और अधिकार का दावा तो वही कर सकता है जो एकनिष्ठ भाव से प्रेम करे। यही भाव 'जे मन लागै एक सू, तौ निरबाल्या जाइ', 'जिन दिल बंधी एक सू, ते सुख सोवैं नचींत', और 'आसा एक जु राम की, दूजी आस निरास'[7] इत्यादि अनेक प्रसगो मे अभिव्यक्त हुआ है।

दृढ़ आस्था और प्रबल इच्छा शक्ति—इस सम्बल का आश्रय ग्रहण करने पर ही प्रेयसी कह सकती है—

जेते तारे रैणि के, तेतै बैरी मुझ।
धड सूली सिर कगुरै, तऊ न बिसारौं तुझ॥[8]

प्रिया की इसी निष्ठा का ही परिणाम है कि वह अपने तन और मन को 'राम पियारे जोग' ही मानती है। 'राम भरतार' के लिए ही वह शृगार करती है।[9] जो स्वय को निरन्तर उत्सर्ग कर सकता है, वह मृत्यु को भी हसते-हसते ग्रहण कर सकता है। प्रिय-मिलन मे बाधा तो 'स्व' ही है, इस 'स्व' का त्याग ही तो मृत्यु है, इस मृत्यु की कामना कौन शूर नही करेगा ? पतिव्रता का प्रेम आदर्श है क्योकि यहा प्रेम आवेश नही, एक स्वभाव है, यह क्षणिक उफान नही, निरन्तर बना रहने वाला सरिता का शान्त प्रवाह है। यह गम्भीर, कर्त्तव्य और दायित्व से प्रेरित, स्निग्ध, कोमल भावनाओ पर आधृत है। कबीर काव्य मे सती और शूर प्रेम का आदर्श रूप माने गए है। डा० ह० प्र० द्विवेदी के शब्दो मे 'जो प्रेम पद पद पर भाव-विह्वल कर देता है, जो मन और बुद्धि का मथन कर मनुष्य को परवश बना देता है, जो उत्तम भावावेश प्रेमी को हतचेतन बना देता है, वह कबीरदास का अभीष्ट नही है। भक्त का सग्राम शूर के सग्राम से

---

१ सीस उतारै हाथि करि सो लेसी हरि नाम॥—कबीर ग्रथावली, पृ० ५५।

२ वही, पृ० ५५।

३ वही।

४ वही, पृ० ५३।

५ जो है जाका भावता, जदि तदि मिलसी आइ।
जाको तन मन सौंपिया, सो कबहू छाडि न जाइ॥—वही, पृ० ५३।

६ नैनां अंतरि आव तू, ज्यू हौ नैन झंपेऊ।
नां हौं देखौं और कूं, नां तुझ देखन देउ॥—वही, पृ० १४।

७. वही, पृ० १५।

८ वही, पृ० ५५।

९ वही, पृ० १५३।

भी बढ़ कर है, सती के आत्म-बलिदान से भी श्रेष्ठ है।'[1] प्रेमिका सखी से पूछती है—

"हूँ तोहि पूछौं हे सखी, जीवत क्यू न मराइ।
मूँवा पीछै सत करै, जीवत क्यूं न कराइ॥[2]

सती को प्रेम का आदर्श मान कर कबीर ने प्रेम-मार्ग की दुस्तरता का उल्लेख अनेक स्थलो पर किया है।[3] मृत्यु का यह प्रेम अगम्य है, खाला का घर नहीं, यहा तो जो 'सीस उतारै हाथि करि, सो पैसे घर माहि।'[4] यहा दूरी तो है पर नैकट्य शीश-दान से ही प्राप्त हो सकता है, और अन्य मार्ग नही है—जब लग सिर सौंपे नाहि, कारिज सिधि न होइ। यह प्रेम अद्भुत है, असाधारण है, पर सर्वसुलभ है, यह खेत से उत्पन्न नहीं होता, दुकान पर नही बिकता, 'राजा परजा जिस रुचै, सिर दे सो ले जाइ'।[5]

निष्कर्ष

तिरुवल्लुवर एव कबीर के शृगार-सम्बन्धी वर्णनो के तुलनात्मक अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि दोनो कवि प्रेम की गहनता और गम्भीरता को विशेष महत्त्व प्रदान करते हैं, इनका 'प्रेम' मर्यादित है। दोनो कवियो के शृगार-वर्णन की मूल-सामग्री मे अन्तर है। तिरुवल्लुवर के शृगार-वर्णन का धरातल लौकिक है एव नायक-नायिका का प्रकृत प्रेम वर्णन का विषय है। कबीर ने अलौकिक, आध्यात्मिक प्रेम को वर्णन का विषय बनाया है, इस आध्यात्मिक प्रेम की आधार-सामग्री प्रकृत प्रेम ही है। लक्ष्य-वैभिन्य होने पर भी प्रेम की मादकता, प्रिय-हृदय की अद्भुत व्याकुलता, प्रिय-वियोग मे मिलन की उत्कट अभिलाषा इत्यादि के वर्णन मे अद्भुत साम्य दृष्टिगत होता है। तिरुवल्लुवर ने प्रेम मे जिस प्रणय-मान और काल्पनिक ईर्ष्या पर आधृत 'ईर्ष्यामान' का वर्णन किया है वह कबीर मे उपलब्ध नही, कबीर मे उत्सर्ग एव सम्पूर्ण-समर्पण का भाव अधिक प्रबल है। शूरवीर एव पतिव्रता के आदर्श ग्रहण करने का यही कारण है। प्रेम की सूक्ष्मता और प्रेमी-हृदयो की कोमल भावनाओ को समझने एव अभिव्यक्त करने मे दोनो कवि अत्यन्त सफल रहे हैं, इनके काव्य का अनुभूति-पक्ष भारतीय साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति है।

---

१. कबीर, पृ० १६४।

२. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ५६।

३ (क) सती जलन कू नीकली, पीव का सुमरि सनेह।
सबद सुनत जीव नीकल्या, भूलि गई सब देह॥

(ख) सती जलन कूं नीकली चित धरि एकबमेख।
तन मन सौंप्या पीव कू, तब अतरि रही न रेख॥—वही, पृ० ५६।

(ग) सती सूरा तन साहि करि, तन मन कीया घाण।
दिया महौला पीव कू, तब मडहट करै बषाण॥—वही, पृ० ५५।

(घ) टूटी बरत अकास थै, कोइ न सकै झड़ झेल।
साध सती अरु सूर का, अणी ऊपिला खेल॥—वही।

(ङ) सती बिचारी सत किया, काठौं सेज बिछाइ।
ले सूती पिव आपणा, चहु दिसि अगनि लगाइ॥—वही' ' ' इत्यादि।

४. वही, पृ० ५४।

५ वही, पृ० ५५।

५

तिरुवल्लुवर एवं कबीर-काव्य में सामाजिक अभिव्यक्ति

(क) सामाजिक अभिव्यक्ति : परिवार—पति, पत्नी, सतति, मित्र (तृतीय अध्याय मे), राज्य—प्रजा, अधिकारी-वर्ग।

(ख) तिरुवल्लुवर-काव्य में सामाजिक अभिव्यक्ति : पूर्वराग, दाम्पत्य-जीवन, निषिद्ध प्रेम, वेषभूषा, आभूषण, शृगार-प्रसाधन सामाजिक विभाजन—गृहस्थ सन्यासी, ढोंगी तपस्वी, भोजन-पान, मासाहार निषेध एव मद्य-निषेध, सामाजिक जीवन में व्याप्त कुरीतियां—जुआ, वेश्यावृत्ति औषधि, कृषि-प्रधान समाज।

(ग) कबीर काव्य में सामाजिक अभिव्यक्ति : गृहस्थ एव वैरागी, दाम्पत्य जीवन में पत्नी, संतति, निषिद्ध-प्रेम, सामाजिक-विभाजन, शृगार-प्रसाधन एव आभूषण, भोजन-पान, मासाहार-निषेध एवं मद्य-निषेध, वेश्यावृत्ति, कृषि। निष्कर्ष।

सामाजिक अभिव्यक्ति

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। कोई भी मनुष्य समाज से असम्पृक्त नहीं। जन्म से मृत्यु पर्यन्त हमारा प्रत्येक विचार, प्रत्येक कर्म सामाजिक-सगठन एवं परिवेश से प्रभावित होता है। विकास के क्रम मे हम निरन्तर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप मे समाज से सम्पृक्त रहते हैं। खान-पान, वस्त्र इत्यादि से लेकर हमारे चिन्तन-मनन एव विभिन्न क्रिया-कलापो को सामाजिक जीवन की परिधि मे ही विकास एव दिशा प्राप्त होती है।

कवि स्रष्टा है, वह समाज से प्रेरणा प्राप्त कर अपने काव्य से समाज को प्रभावित करता है। इस प्रकार काव्य मे समाज एव सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। पर जो कलाकार अपने युग के समाज एव उसकी परिस्थितियो के प्रति विशेष जागरूक होता है, उसकी कला एक ओर सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों का उद्घाटन करती है तो दूसरी ओर समाज को दिशा देने का कार्य भी सपन्न करती है। ऐसा कवि अपने युग की चेतना को अभिव्यक्त करने वाला युग-प्रतिनिधि कहा जाता है।

तिरुवल्लुवर एव कबीर के काव्य मे सामाजिक अभिव्यक्ति अत्यन्त सहज है। ये दोनो कवि समाज के विभिन्न पक्षो के प्रति इतने अधिक जागरूक हैं कि अनायास ही समाज अनेकानेक प्रसगो मे इनके द्वारा स्वत चित्रित होता चला गया। इन कवियो के काव्य में सामाजिक अभिव्यक्ति के रूप मे अध्ययन करने के उद्देश्य से सामाजिक ढाचे को विभक्त कर लेना उचित होगा। इसके लिए हमें समाज के स्वरूप और उसकी इकाइयो का परिचय प्राप्त करना होगा।

मनुष्य की प्रवृत्ति एक ऐसे सगठन के निर्माण और पुनर्निर्माण करने मे व्यक्त होती है जो उसके व्यवहार का अनेक प्रकार से मार्ग-दर्शन और नियन्त्रण करता है। यह सगठन 'समाज' है, जो मनुष्य की क्रियाओ को स्वतन्त्र और सीमित करता है, उनके लिए स्तर निश्चित करता है जिन्हे वे अपनाते और बनाये रखते हैं। 'समाज कार्य-प्रणालियो और प्रकारो की, अधिकार-सत्ता और पारस्परिक सहायता की, अनेक समूहो और वर्गों की तथा मानव-व्यवहार के नियन्त्रणो और स्वतन्त्रताओ की एक व्यवस्था है। इस निरन्तर परिवर्तनशील व जटिल व्यवस्था को हम समाज कहते हैं।''[१]

परिवार

समाज मे परिवार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण इकाई है। "परिवार लैगिक सम्बन्धो से परि-

---

१ Society is a system of usages and procedures of authority and mutual aid, of many groupings and divisions, of controls of human behaviour and of liberties This ever-changing complex-system we call society It is the web of social relationships, and it is always changing
—*Society*, R. M. Maciver and H. Charles, p. 5.

आश्रित एक समूह है जो सन्तानोत्पत्ति व उसके पालन-पोषण में पर्याप्त सुनिश्चित एवं सहिष्णु है। उसके भीतर सगोत्री तथा गौण सम्बन्ध हो सकते हैं, किन्तु वह अपनी सन्तान तथा सहचर व्यक्तियों के साथ जीने की सुस्पष्ट इकाई है।"[१] यह ठीक है कि गणनात्मक अथवा संख्यात्मक रूप प्राय. व्यक्तियो का ही लिया जाता है पर वास्तविक सामाजिक सगठन का आधार परिवारों का समूह है। इसीलिए सामाजिक जीवन का आधार, सबसे छोटी इकाई परिवार ही है।[२] समरूपता, अन्योन्याश्रित होना, सहकारिता इत्यादि गुण समाज के महत्त्वपूर्ण लक्षण हैं। परिवार को तीन अगो मे विभक्त किया जा सकता है—(अ) पति, (आ) पत्नी, (इ) सतति। इन तीनों के सम्मिलन से ही परिवार का निर्माण पूर्ण होता है। यद्यपि परिवार के अस्तित्व के लिए सन्तान अनिवार्य आवश्यकता नही तथापि साधारणतया सतति के महत्त्व को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। परिवार समाज का प्रमुख आधार है और परिवार-मुक्त सन्यासी, साधु आदि भी परिवार अथवा गृहस्थ पर निर्भर करते हैं। इस आधारभूत इकाई के अतिरिक्त सामाजिक सस्थाओं में अतिम और प्रमुख सस्था राज्य है। राज्य के अन्तर्गत (अ) प्रजा, और (आ) शासक तथा अधिकारी-वर्ग, दो प्रमुख वर्ग हमारे समक्ष आते हैं।

भारतीय परम्परा मे गृहस्थ अथवा परिवार को सदा विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ है। मनु के अनुसार गृहस्थ सभी आश्रमो के लिए उसी प्रकार आश्रय है जिस प्रकार समस्त जीवो के लिए प्राणवायु।[३] समाज मे गृहस्थ इतर तीनो आश्रम गृहस्थाश्रम से ही ज्ञान तथा अन्न को प्राप्त करते हैं, इस कारण गृहस्थ ही सबसे श्रेष्ठ है।[४] कालिदास के दिलीप ने गृहस्थ के लिए सन्तान को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण मानकर कहा—

लोकान्तरसुख पुण्य तपोदानसमुद्भवम्।
सन्तति शुद्धवश्या हि परत्रेह च शर्मणे॥[५]

सन्तान से विरहित मनुष्य स्वय को अपूर्ण अनुभव करता है। इस प्रकार गृहस्थ एक ओर समाज के अन्य आश्रमो के लिए आधार है और दूसरी ओर जीवन की पूर्णता की ओर अग्रसर होने का सुनियोजित एव सुनिश्चित मार्ग है।

तिरुवल्लुवर-काव्य मे सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति

गृहस्थ की पूर्वभूमिका स्त्री और पुरुष का पारस्परिक आकर्षण अथवा पूर्व-राग है। अत तिरुवल्लुवर काव्य में सामाजिक चित्रण का अध्ययन इसी प्रसग से प्रारम्भ करते हैं—

---

१ समाज—एक परिचयात्मक विश्लेषण, अनु० जी० विश्वेश्वरय्या, पृ० २४२।

२ Socially and morally considered, family groups are the smallest units into which social life can be resolved

—*On Society*, Fredrick Harrison, p. 34

३. यथा वायु समाश्रित्य वर्तन्ते सर्व जन्तव।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमा॥—मनु०, ३।७७।

४. यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥—वही, ३।७८।

५. रघुवश, १।६६।

पूर्व-राग

तिरुवल्लुवर ने तमिल के परम्पराश्रित ढंग से प्रेम के दो रूपों को स्वीकार किया है। पूर्व राग एवं दाम्पत्य-प्रेम (क्रमश कलवु एवं करपु)। पूर्वराग (कलवु) सम्बन्धित सामग्री के अध्ययन से तिरुवल्लुवर के समाज मे व्याप्त विवाह-पूर्व प्रेम-जीवन का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। युवक-युवतियों को प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करने की पर्याप्त स्वतन्त्रता थी पर यह स्वतन्त्रता होते हुए भी सामाजिक परिवेश पर्याप्त दृढ था और गन्धर्व विवाह का सामाजिक अनुमोदन अत्यन्त सरल नहीं था। शारीरिक आकर्षण से बन्धे हुए युवक और युवती के हृदय मे उत्पन्न अनेक भावों की अभिव्यक्ति करते हुए कवि ने युवती की स्वाभाविक लज्जाशीलता, उसकी हिरणी के सदृश यौवन-दृष्टि[१] तथा सकोच-युक्त दृष्टि में छिपे हुए आनन्द का उल्लेख किया है।[२] प्रथम दृष्टि मे ही प्रेम का उदय होता है पर लज्जा के कारण नायिका सिर झुका लेती है,[३] जब नायक उसको निहारता है तो वह पृथ्वी पर दृष्टि डालती है, जब उसका ध्यान हटता है तो उसकी ओर देखकर मन्द-मन्द मुस्कान[४] सरल स्वाभाविक प्रकृत-प्रेम के विकास की सामग्री बनती है। जब नायिका सीधी दृष्टि से अपने आकर्षण के पात्र को देखने मे स्वय को असमर्थ पाती है तो नेत्र सिकोड कर मुस्काती है,[५] अपरिचित के समान बात करती हुई भी स्नेह-भीने शब्द बहुत कुछ कह देते हैं।[६] नायक को नायिका के मधुर एव कठोर शब्द तथा दृष्टि बाह्य रूप से अपरिचित प्रतीत होती है पर उसका हृदय नायिका के हृदय के स्नेह की सूचना प्राप्त कर ही लेता है।[७] धीरे-धीरे यह आकर्षण विकास प्राप्त करता है, नायक के देखने पर नायिका मुस्काती है और उस क्षण उस कोमलागी मे एक अनुपम सौन्दर्य की झलक नायक प्राप्त करता है।[८] यह प्रक्रिया नयनो के नयनो से मिलने से पूर्ण होती है क्योकि नयनो के नयनो से मिलते ही शब्दो की आवश्यकता समाप्त हो जाती है।[९] नायक के हृदय मे भी इसी प्रकार प्रथम दर्शन से प्रेम का उदय दिखाया गया है। वह उसके नेत्रो, उभरे हुए वक्षस्थल,[१०] उज्ज्वल मस्तक,[११] वक्र-भृकुटि[१२] एव सौन्दर्य मे अभिभूत हो जाता है। इस प्रकार के वर्णन से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि युवक-युवतियो के परस्पर एकान्त मिलन, आकर्षण और प्रेम की स्थिति विद्यमान थी और इसे अत्यन्त स्वाभाविक माना जाता था।

---

१. कुरल १०८९।
२. कुरल १०९२।
३ कुरल १०९३।
४ कुरल १०९४।
५ कुरल १०९५।
६. कुरल १०९६।
७ कुरल १०९७।
८ कुरल १०९८।
९. कुरल ११००।
१०. कुरल १०८७।
११. कुरल १०८८।
१२ कुरल १०८६।

यह आकर्षण एकान्त-मिलन से विकास प्राप्त कर प्रेम का रूप धारण करता है। नायक नायिका का शरीर-सम्बन्ध स्थापित होता है। शरीर का सम्पर्क एक विचित्र क्रिया है, निकट पहुँचने पर बाला की शरीराग्नि युवक के लिए शीतलता प्रदान करने वाली बनती है।[1] युवक को अपनी प्रिया के सुकोमल स्कन्धो का आलिंगन विष्णुलोक के आनन्द से भी श्रेष्ठ दिखाई देता है।[2] कल्पलता के समान ही पुष्प-गुथित केश-युक्त बाला उसे इच्छित पदार्थ का विचार करते ही उन्ही के समान आनन्द प्रदान करती है।[3] नायिका के प्रत्येक स्पर्श में नायक को नवस्फूर्ति प्राप्त होती है।[4] आलिंगन, अद्भुत शरीर-सुख एव मानसिक उल्लास का आधार बनता है और फिर ऐसा आलिंगन कि मध्य में वायु भी न रह सके, दोनो को अतीव आनन्द प्रदान करता है।[5] मनुष्य ज्यो-ज्यो अध्ययन करता है वह अपने अज्ञान से परिचित होता है, उसी प्रकार प्रत्येक बार स्वर्णाभूषिता के परिरम्भन से नवीन अनुभव की उपलब्धि नायक को होती है।[6] उसे आलिंगनाबद्ध नायिका का शरीर अनिच्चम् (शिरीष) के पुष्प से भी अधिक कोमल प्रतीत होता है।[7] उसके नेत्र कुमुदिनी से श्रेष्ठ, मुख चन्द्रमा से श्रेष्ठ और कोमल चरण अनिच्चम् तथा हंस के पखो से भी कोमल प्रतीत होते हैं।[8] प्रेम-सम्बन्धो के स्वाभाविक विकास के इस प्रकार के अनेक चित्र तत्कालीन समाज के स्वतन्त्र चिन्तन एव उल्लासमय जीवन का स्पष्ट प्रमाण हैं।

दाम्पत्य जीवन

तिरुवल्लुवर सामाजिक जीवन के लिए गृहस्थ की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं। उनके युग के गृहस्थ एव दाम्पत्य जीवन की स्थिति का अनुमान तद्विषयक कथनो मे हो सकता है। गृहस्थ जीवन समाज मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्वीकार किया जाता था क्योकि गृहस्थ अन्य तीनो आश्रमो मे धर्मानुकूल जीवन व्यतीत करने वालो के लिए स्थायी आधार होता है।[9] गृहस्थ जीवन का निर्वाह करने वाले व्यक्ति के लिए अन्य मार्ग की आवश्यकता का अनुभव नहीं किया जाता था[10] क्योकि नियमानुसार गृहस्थ-जीवन व्यतीत करने वाला जीवन मे प्रवृत्त सभी आश्रमवासियो से श्रेष्ठ माना जाता था।[11] साधु, निर्धन, निराश्रित और मृतक का सहायक गृहस्थ ही था।[12] गृहस्थ के प्रमुख कर्त्तव्यो मे अतिथि-सत्कार, धन-सग्रह और सन्तान-प्राप्ति था।

---

१ कुरल ११०४।
२ कुरल ११०३।
३ कुरल ११०५।
४. कुरल ११०७।
५ कुरल ११०८।
६ कुरल १११०।
७ कुरल ११११।
८ कुरल ११२०।
९ कुरल ४१।
१०. कुरल ४४।
११ कुरल ४७।
१२ कुरल ४२।

सन्तान के पालन-पोषण पर अत्यधिक बल दिया जाता था। इसका लक्ष्य था निष्कलंक एवं सच्चरित्र नागरिक प्रस्तुत करना।[१] बुद्धिमान सन्तान[२] ही वास्तविक सम्पत्ति मानी जाती थी। पारिवारिक जीवन साधारणतया मधुर एवं उल्लासयुक्त होता था—शिशु की तोतली बोली, सन्तान का तन-स्पर्श, बच्चे के शिशु-हाथों से भोजन से खिलवाड़ इत्यादि परिवार में आनन्द और सुख की वर्षा करते थे।

पत्नी प्राय. धर्म-कार्यों मे पति का साथ देती थी। पत्नी के प्रमुख गुणों मे गृहस्थ को पति की आय के अनुसार सचालित करना,[३] सुदृढ सतीत्व से युक्त रहना[४] एव अपनी मर्यादा को बनाये रखना[५] था। पर सामाजिक जीवन मे यदाकदा यह नियम भग भी हो जाता था। पर-पुरुष अनुरक्ता स्त्री का उल्लेख भी प्राप्त होता है। इस प्रकार की स्त्री का पति अपमानित करने वालों के समक्ष पुरुष-सिंह के समान ऊंचा शीश करके चलने मे स्वयं को असमर्थ पाता है।[६] पर यह जन-जीवन का साधारण रूप न होकर निन्दनीय घटना के रूप मे ही था। साधारणतया गृहिणी सद्‌गुण-सम्पन्ना, गृहस्थ की मर्यादा को बनाये रखने वाली ही होती थी। ऐसी स्त्री को गृहस्थ की मागलिका शोभा स्वीकार किया गया है।[७]

पत्नीतर प्रेम (निषिद्ध प्रेम)

तिरुवल्लुवर का समाज प्राय गृहस्थ की मर्यादा का दृढतापूर्वक निर्वाह करता है, पर यदाकदा परस्त्री से प्रेम के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं। उस समाज मे परस्त्री अनुरक्त पुरुष एवं परपुरुष अनुरक्ता स्त्री का सम्मान नष्ट हो जाता था। अन्य की स्त्री के गृहद्वार पर प्रतीक्षा करने वाला अधर्म-पथगामियो मे सर्वाधिक मूढ माना गया है।[८] अति सुलभ मानकर अन्य स्त्री पर आसक्त होने वाला स्थायी निन्दा का पात्र बनता था।[९] दूसरे की पत्नी को कामेच्छा से निहारना मूल सदाचरण के विपरीत माना जाता था।[१०] इस प्रकार के मनुष्य को सामाजिक निन्दा के अतिरिक्त शत्रुता और पाप-भय का भी सामना करने के लिए तत्पर रहना होता था।[११] धर्म-परायण गृहस्थ से वल्लुवर अन्य की धर्म-पत्नी मे कभी भी आसक्त होने की आशा नही करते।[१२]

स्पष्ट है कि तिरुवल्लुवर के समाज मे स्व-पत्नी के अतिरिक्त किसी अन्य की स्त्री से

---

१ कुरल ६२।
२ कुरल ६१।
३ कुरल ५१।
४. कुरल ५४।
५ कुरल ५६।
६ कुरल ५९।
७ कुरल ६०।
८ कुरल १४२।
९. कुरल १४५।
१०. कुरल १४८।
११. कुरल १४६।
१२. कुरल १४७।

सम्पर्क करना धर्म और सदाचार का उल्लघन माना गया है। स्त्री से आशा की जाती थी कि वह पर-पुरुष मे अनुरक्त न हो, गृहस्थ की मर्यादा को अपने सतीत्व से बनाये रखे और पुरुष से भी आशा की जाती थी कि वह परस्त्री की ओर कामेच्छा से न देखे, पर-स्त्री के स्कन्धों का आलिगन कर पाप का अधिकारी न बने। इस प्रकार के सम्बन्धो का दायित्व स्त्री और पुरुष दोनों पर होता है, इसलिए दोनो के लिए सामाजिक विधान उपलब्ध था। पर इस प्रकार के सम्बन्धो के विषय में समाज-निन्दा और पाप के भय के अतिरिक्त और किसी प्रकार के दण्ड-विधान का कोई उल्लेख प्राप्त नही होता।

वेशभूषा, आभूषण, शृगार-प्रसाधन आदि

तिरुवल्लुवर-काव्य के आधार पर यदि इस युग के इस पक्ष का अध्ययन करना चाहे तो दो प्रकार के आभूषणो का उल्लेख प्राप्त होता है। स्वर्णभूषण और पुष्प-आभूषण। अपार प्राकृतिक वैभव एव पुष्पो के भडार से युक्त इस कृषि-प्रधान समाज मे आभूषण प्राय पुष्पो के होते थे। तिरुवल्लुवर ने नायिका के 'पुष्प गुथित केश'[१] और अनिच्चम् (शिरीष) के पुष्प को केशो मे धारण करने[२] का वर्णन किया है। स्वर्ण आभूषणो मे किसी आभूषण विशेष का उल्लेख प्राप्त नही होता, पर स्त्रिया प्राय सौन्दर्य-अभिवृद्धि के लिए स्वर्ण आभूषण धारण करती थी, इसका सकेत 'स्वर्ण-कुण्डल भूषिता युवती'[३], 'भूषण-भूषिता'[४] 'स्वर्णाभरण भूषिता'[५] इत्यादि से मिलता है। आभूषणो मे सर्वाधिक प्रिय आभूषण चूडी था, चूडिया घनी और शृखलाबद्ध पहनी जाती थी। इनको सम्भवत चमकीला बनाया जाता था। वल्लुवर 'प्रकाश-पूर्ण चूडियो से आभूषित बाला'[६] 'माला जैसी शृखलाबद्ध चूडिया'[७], 'घनी चूडियो से युक्त मेरी प्रेयसी'[८] का वर्णन करते है। इसके अतिरिक्त भी अनेक प्रसगो मे नायिका की चूडियो का वर्णन आया है। वियोग मे शरीर की दुर्बलता का परिचय देने का कार्य भी चूडियो का ही है।[९] सौन्दर्य-प्रसाधन मे केवल काजल (अजन) का वर्णन उपलब्ध है, 'अजन रजित नयन'[१०] और प्रियतम के नेत्रो मे बसे होने के कारण काजल लगाने से भयभीत नायिका[११] का वर्णन मिलता है। सम्भव है अन्य सौन्दर्य-प्रसाधन भी रहे हो, पर उनका वर्णन तिरुक्कुरल मे नही हुआ।

---

१ कुरल ११०५।
२. कुरल १११५।
३ कुरल १०८१।
४ कुरल ११०२।
५ कुरल १११०, और देखें, कुरल ११०२ एव ११२४।
६. कुरल ११०१।
७ कुरल ११३५।
८. कुरल १२७५।
९. कुरल ११५७, १२३४, १२३५, १२३६, १२३८, १२७७, १२७९।
१०. कुरल १०९१।
११. कुरल ११२७।

सामाजिक विभाजन

तिरुवल्लुवर के काव्य से सामाजिक विभाजन के दो प्रमुख रूपों की सूचना उपलब्ध होती है—गृहस्थ और संन्यासी। गृहस्थ जीवन को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। नियमानुसार गृहस्थ जीवन व्यतीत करने वाला मनुष्य जीवन मे प्रवृत्त सभी आश्रमवासियों से श्रेष्ठ माना गया है।[१] गृहस्थ ही धर्म का पूर्ण रूप है[२], स्नेह एव धर्म से युक्त होने पर यह स्वय ही अपना फल है।[३] गृहस्थ की तुलना स्वर्ग के देवता के साथ की गई है।[४]

गृहस्थ के प्रमुख कर्त्तव्यो मे धर्म का पालन, साधु, निर्धन और निराश्रित मृतकों की सहायता,[५] पाप से बचकर धन-सग्रह करना और परोपकार का उल्लेख आता है।[६] इस प्रकार से गृहस्थ-जीवन व्यतीत करने वाला तपस्वियो के जीवन से कहीं अधिक महान् माना गया है।[७]

तपस्वी अथवा सन्यासी वेशधारी मनुष्यो का भी तिरुवल्लुवर ने उल्लेख किया है। सन्यासी के प्रमुख लक्षणो मे 'स्व' का ज्ञान प्राप्त करना,[८] कामना का नियन्त्रण करना, पचेन्द्रिय की वासनाओ का सहार और उनकी आधारभूत वस्तुओं का परित्याग,[९] 'मैं' और 'मेरा' के अहकार का दमन करना[१०] तथा बन्धन-मुक्त होकर भव से मुक्ति प्राप्त करना था।[११] समाज मे सन्यासी का पर्याप्त आदर सम्मान था। तपस्वी के भोजनादि की व्यवस्था करने का दायित्व गृहस्थ पर था।[१२] तपस्वियो के दो रूप समाज मे थे—(क) सत्य की आराधना करने वाले, तपस्या के आचरण से युक्त, (ख) ढोंगी तपस्वी।

सत्य मार्ग पर अग्रसर सन्यासी—सदाचरण को स्थिर रूप से धारण कर समाज मे सम्मान के अधिकारी बनते थे।[१३] दृढता रूपी अकुश द्वारा पचेन्द्रिय रूपी हाथियो को वशीभूत करने वाले[१४] ये सन्यासी जन्म से मुक्ति प्राप्त करने के लिए सन्यास ग्रहण करते थे।[१५] प्राय माना जाता था कि सन्यासी, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध के गुण-ज्ञाता हो जाते हैं।[१६] बन्धन मुक्त

---

१ कुरल ४७।
२ कुरल ४९।
३ कुरल ४५।
४. कुरल ५०।
५ कुरल ४२।
६. कुरल ४४।
७ कुरल ४८, (विस्तृत विवेचन द्वितीय अध्याय मे देखें।)
८ कुरल २६८।
९ कुरल ३४३।
१० कुरल ३४६।
११. कुरल ३४९।
१२. कुरल २६३।
१३. कुरल २१।
१४ कुरल २४।
१५ कुरल २३।
१६. कुरल २७।

होने की प्रबल कामना संन्यास का कारण बनती थी क्योकि यह मान्यता थी कि जिन-जिन वस्तुओं से मानव बन्धन-मुक्त हो जाता है उन-उन वस्तुओ से उसे दु:ख नहीं होता।

ढोंगी तपस्वी—अन्त करण में बन्धन-मुक्त हुए बिना ही त्यागी का ढोंग रचने वाले पापाचारी लोगों का भी वल्लुवर ने उल्लेख किया है। इन वंचक तपस्वियो के विषय में उनका कथन है—बाहर से जगली सेब के समान सुन्दर अरुणवर्ण से युक्त दीखते हुए भी हृदय के काले व्यक्ति संसार में अनेक हैं।[1] तपस्वी वेश मे दुराचारी उस बहेलिये के सदृश्य माना गया है जो झाडी में छिपकर, जाल बिछाकर पक्षियो को पकडता है।[2] इस प्रकार के ढोंगी तपस्वियो की स्थिति पापाचार मन मे रख परम तपस्वी के समान तीर्थ-स्नान करके दुष्ट-प्रवृत्ति में लीन व्यक्ति के समान है।[3] सामाजिक दृष्टि से सत्कर्म और दुष्कर्म मे प्रवृत्त व्यक्ति का अन्तर अधिक कठिन नही था। वल्लुवर इन दो प्रकार के तपस्वियो मे भेद करने का आधार उनका आचरण ही मानते हैं। बाण सीधा होने पर भी कर्म मे निर्दय होता है, पर वीणा टेढ़ी होने पर भी कर्म मे मधुर होती है। इसी प्रकार मानव को उसके कर्म से जानना चाहिए।[4] अन्त करण की शुद्धि और सत्कर्म के पथ पर चलना तपस्वी के लिए अनिवार्य लक्षण माने जाते थे।

भोजन-पान

तिरुवल्लुवर का समाज मूलत कृषि-प्रधान समाज है। उस कृषि-प्रधान समाज मे खाद्य-सामग्री की यथोचित उपलब्धि है। समाज मे शाकाहार और मासाहार दोनो प्रचलित थे परन्तु मासाहार समाज मे प्राय स्वीकृत नही था। इसके मूल मे अहिंसा और धर्म की प्रवृत्ति रही होगी। मासाहार-निषेध प्रसग मे वल्लुवर अहिंसा को धर्म का अग मानते हुए मासाहार को अधर्म मानकर उसका पूर्ण निषेध करते है। पशु-मास के विक्रय का सकेत कुरल २५६ से प्राप्त होता है। "भक्षण के लिये लोग यदि मास क्रय न करें तो मास विक्रय करने वाला भी कोई न रहेगा।" मास-भक्षण के विरोध मे वल्लुवर कहते हैं —अपने मास की वृद्धि के लिए दूसरे प्राणी के शरीर का भक्षण करने वाला कैसे दयावान हो सकता है?[5] जीवहत्या एव मास-भक्षण न करने वाला आदर और सम्मान का अधिकारी बनता है।[6] इन कथनो से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि समाज मे यद्यपि मासाहार भी प्रचलित था पर उसके विरोध में प्रबल जनमत विद्यमान था। सम्भवत सामाजिक विकास की प्रक्रिया मे जैन, बौद्ध और अन्य अहिंसा पर बल देने वाले धर्मों के उत्तरोत्तर प्रवेश से यह दृष्टि विकास प्राप्त कर रही थी।

मद्यपान—सामाजिक जीवन की एक कुरीति के रूप मे विद्यमान था। इसका सकेत 'मद्य-निषेध' (कल्लुण्णामै) अध्याय मे प्राप्त होता है। इस सम्बन्ध मे वल्लुवर के कथनो से

१ कुरल २७७।
२. कुरल २७४।
३. कुरल २७८।
४ कुरल २७९।
५ कुरल २५१।
६. कुरल २६०।

यह स्पष्ट हो जाता है कि मद्यपान के विरोध में भी जनसमाज का एक प्रबल वर्ग था। मद्य से होने वाली बुरी दशा देखकर ही कई लोग मद्यपान से दूर रहते थे।[1] धन देकर मद्य मोल लेने का उल्लेख वल्लुवर ने किया है, इससे मद्य के विक्रय का प्रमाण मिलता है।[2] मद्यप स्व-नियन्त्रण खो बैठता है[3], समाज मे आदर और सम्मान से वंचित हो जाता है[4]। अपने शरीर की सुध-बुध उसे नहीं रहती[5] और वास्तव में वह मद्य नही, विष का पान करता है।[6] इस प्रकार के कथनों से मद्यप और मद्यपान के प्रति समाज में व्याप्त विरोधी-दृष्टि का अनुमान लगाया जा सकता है।

कुछ लोग चोरी-छिपे मद्यपान करते थे पर नगर के लोगो को जब यह ज्ञात होता था तो वे छिपे-छिपे हसते थे।[7] शरीर की विस्मृति और मानसिक सन्तुलन के अभाव मे इस प्रकार के मनुष्यो को तर्क द्वारा उचित मार्ग पर लाना प्राय सम्भव नही होता था। वल्लुवर का कथन है कि मद्यपान किये हुए व्यक्ति को कारण दिखाकर ठीक मार्ग पर लाने का प्रयास करना जल के नीचे डूबे हुए व्यक्ति को दीपक लेकर ढूढने के समान होता है।[8] मद्यपान के भयकर शारीरिक एव मानसिक प्रभावो से वल्लुवर का समाज परिचित था पर इस प्रकार का कोई सकेत उपलब्ध नही जिससे यह अनुमान लगाया जा सके कि मद्य बेचने अथवा मद्यपान करने पर किसी प्रकार का वैधानिक बन्धन रहा होगा। यहां भी समाज मे सम्मान-नाश और सभव शारीरिक-रोग मद्यपान की आदत के विस्तार को रोकने का कार्य करते थे।

सामाजिक जीवन मे व्याप्त कुरीतिया

तिरुवल्लुवर के युग मे सामाजिक जीवन सुगठित एव सुनियोजित था। सामाजिक मर्यादा ही मनुष्य को नियत्रित करने का उपाय था पर मानव स्वभाव विचित्र है, वह कब किस प्रकार से कर्म करेगा यह कह पाना सम्भव नही और प्रत्येक समाज में जुआ, मद्यपान और वेश्या वृत्ति इत्यादि कुरीतियां न्यूनाधिक मात्रा मे विद्यमान रहती हैं। तिरुवल्लुवर ने अपने काव्य मे जिस जागरूक रूप से सामाजिकजीवन को अभिव्यक्ति प्रदान की है, उसे ध्यान मे रख विश्लेषण करने पर स्पष्ट हो जाता है कि जुआ, मद्यपान और वेश्यावृत्ति—ये तीन प्रकार की कुरीतिया सामाजिक जीवन मे विद्यमान थी। मद्यपान का उल्लेख 'भोजन-पान' के अन्तर्गत किया जा चुका है।

जुआ—जुआ खेलने के लिए पासे का प्रयोग होता था और इसके लिए कुरल ९३७ में द्यूतशाला का उल्लेख हुआ है। कवि का कथन है—अनेक मनुष्य पांसा, जुआघर और द्यूत-

---

१ कुरल ९३० ।
२ कुरल ९२५ ।
३. कुरल ९२८ ।
४. कुरल ९२४ ।
५. कुरल ९२५ ।
६. कुरल ९२६ ।
७. कुरल ९२७ ।
८. कुरल ९२९ ।

कौशल का अभिमान करते हैं पर अन्त में सभी कष्ट को प्राप्त करते हैं।[१] लुढकने वाले पाँसे और जुआघर का उल्लेख अन्यत्र भी हुआ है।[२] जुए के व्यसन से शत्रु द्वारा धन छीने जाने का उल्लेख भी मिलता है।[३] वल्लुवर ने जुए को सम्मान नष्ट करने वाला,[४] पैतृक सम्पत्ति और सदाचार का नाश करने वाला[५] माना है। वस्त्र, धन, भोजन, यश और विद्या—ये पाचो जुए में हाथ डालने वाले के पास नही फटकेंगे।[६] उनका स्पष्ट मत है कि विजय ही क्यो न प्राप्त हो, जुए की इच्छा न रखो, क्योकि यह विजय बसी के लोहे को मछली के निगलने के समान होती है।[७] जुए मे ज्यो-ज्यो धन जाता है, मोह की वृद्धि होती है[८] और यह धन का नाश करके, असत्य-भाषण करवा कर हृदय को भी भ्रष्ट कर विपत्तियो को प्रस्तुत कर देता है।[९]

समग्रत यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि समाज मे कुछ व्यक्ति इस कुवृत्ति के कारण कष्ट प्राप्त करते थे, उनकी धन-सम्पत्ति नष्ट हो जाती थी और वे अपयश के भागी बनते थे। मद्यपान, जुआ, वेश्यावृत्ति इत्यादि के विषय मे किसी प्रकार के दण्ड-विधान का उल्लेख न होने का कारण स्पष्ट है—वल्लुवर का काव्य नीति-शास्त्र है, धर्म-शास्त्र नहीं। वह स्वस्थ सिद्धान्तो का वर्णन करता है, उचित-अनुचित का सदेश देता है, उसके विधि-निषेध और दण्डादि की व्यवस्था नही करता।

वेश्यावृत्ति—वेश्याओ के प्रचुर सकेत वल्लुवर-काव्य मे मिलते हैं। यह शरीर-विक्रय का कार्य प्राय धन-प्राप्ति के उद्देश्य मे होता था।[१०] वेश्या पर्याप्त चतुर और अपने उद्देश्य मे प्रवीण होती थी।[११] मधुर-भाषण,[१३] नृत्य और गान की कला मे प्रवीण,[१२] सौन्दर्य-प्रसाधन मे चतुर ये स्त्रियां शरीर-विक्रय के साथ-साथ धन को सर्वाधिक महत्त्व देती थी। वेश्या को समाज मे किसी प्रकार का स्थान प्राप्त नही था। वल्लुवर ने जिस शब्दावली मे वेश्या से दूर रहने का उपदेश दिया है, वह अपेक्षाकृत कठोर है और यह इस बात का सकेत है कि इस प्रथा को सामाजिक जीवन के लिए किसी प्रकार भी ग्राह्य नही माना जाता था पर दोषारोपण पूर्णरूपेण वेश्या पर ही हुआ है। उसे आचरणहीन, उभय-हृदयवाली स्त्री, मायाविनी, मोहिनी और सामान्य-स्त्री, धनलोलुप इत्यादि विशेषणो से सम्बोधित किया गया है। वेश्या के साथ भोग

---

१ कुरल ९३५।
२ कुरल ९३३, ९३७।
३. कुरल ९३३।
४ कुरल ९३४।
५. कुरल ९१७।
६. कुरल ९३९।
७ कुरल ९३१।
८ कुरल ९४०, ९२०।
९ कुरल ९३८।
१०. कुरल ९१४।
११ कुरल ९११।
१२ कुरल ९१२।
१३. कुरल ९१६।

करने वाले मनुष्यों को अज्ञानी, पतित और दुर्बल-हृदय कहा गया है। उनके मतानुसार ज्ञान-सम्पन्न विशिष्ट बुद्धिमान, सामान्य-स्त्री के तुच्छ सौन्दर्य का स्पर्श न करेंगे।[१] वेश्या, मद्य और जुए से उसी व्यक्ति का सम्पर्क होता है जिसे लक्ष्मी परित्यक्त करती है।[२] सामाजिक सम्मान और मर्यादा के नाश का भय अवश्य रहता होगा पर ये कुरीतियां समाज में वर्तमान थीं और विचारकों के लिए यह चिन्ता का विषय था, ऐसा निष्कर्ष निकाला जा सकता है।

औषधि

आयुर्वेद की प्रणाली का सम्यक् विकास इस युग में हो चुका था। तिरुवल्लुवर ने इस विषय को काव्य में वर्णन करने योग्य समझा और तत्सम्बन्धी अध्ययन का परिचय दिया, यह इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि समाज मे रोगादि के कारणों और निदान पर पर्याप्त विचार हो चुका था। वैद्यक-शास्त्र का वर्गीकरण चार भागों मे किया है—रोगी, वैद्य, औषधि और उसे देने वाला।[३] रोगी का परीक्षण कर वैद्य औषधि का निर्णय करता था। औषधि तैयार कर उसे रोगी को देने का कार्य किसी अन्य प्रशिक्षित व्यक्ति का था। रोग का प्रमुख कारण वात, पित्त और कफ मे से किसी का अधिक अथवा कम होना माना जाता था।[४] वैद्य का दायित्व था कि वह बीमारी का पता लगाए, उसके कारण को समझे और उसके निग्रह का उपाय खोज कर उसके अनुकूल उपचार करे।[५] इस समस्त प्रक्रिया मे रोगी की आयु, रोग की मात्रा और काल का ध्यान रखना आवश्यक माना जाता था।[६] इससे स्पष्ट है कि वल्लुवर का समाज भैषज-शास्त्र से परिचित था। इसके अतिरिक्त रोग से बचने के उपायों मे सबसे अधिक प्रमुखता 'मित-भोजन' को दी जाती थी।[७] खाए हुए भोजन के पच जाने पर ही भोजन करना,[८] भूख लगने पर मात्रा का ध्यान रखकर भोजन करना,[९] उपयुक्त पदार्थ का सेवन करना,[१०] स्वास्थ्य-सुख की रक्षा और दीर्घजीवी होने का मार्ग माना गया है। औषधियों का वर्णन तिरुक्कुरल मे नही मिलता।

कृषि-प्रधान समाज

वल्लुवर-काव्य मे जिस समाज का चित्रण हुआ है वह सम्पन्न कृषि-प्रधान समाज है। सामाजिक जीवन की विविधताओं को अभिव्यक्ति देने का कवि ने कोई क्रमबद्ध प्रयास नही किया, पर 'कृषि' (उळवु) तथा 'वर्षा का महत्त्व' (वान्-चिरप्पु) के अन्तर्गत वल्लुवर ने

---

१. कुरल ६१५।
२. कुरल ६२०।
३. कुरल ६५०।
४ कुरल ६४१।
५. कुरल ६४८।
६. कुरल ६४९।
७ कुरल ६४६।
८ कुरल ६४२।
९. कुरल ६४३।
१० कुरल ६४४।

समाज के कृषि-प्रधान होने और कृषि के लिए वर्षा पर निर्भर करने के पर्याप्त संकेत दिये हैं। कृषि के विषय में वल्लुवर कहते हैं—संसार कुछ भी करता फिरे, हल पर ही आश्रित है अतएव कष्टप्रद होने पर भी कृषि-कर्म ही श्रेष्ठ है।[१] कृषक समस्त संसार के लिए धुरी के समान है, क्योंकि वही अन्य सभी का भार वहन करता है।[२] कृषको का जीवन ही जीवन है,[३] अनेक छत्रों की छाया से युक्त सम्राट भी अन्न की फली की छाया में रहने वाले कृषक पर निर्भर करता है।[४] गृहस्थ ही नही, त्यागी सन्यासी भी कृषक-आश्रित है।[५] जुताई, खाद डालना, अनावश्यक घास-पात को नष्ट करना, सिंचाई और सुरक्षा के क्रमिक महत्व से वल्लुवर का समाज पूर्णतया परिचित है। इस सम्बन्ध मे श्रम के महत्व का पर्याप्त प्रतिपादन कवि ने किया है। एक कथन है—'अपने हाथ मे कुछ नहीं—ऐसा समझ कर जो आलस्य करे उसे देख धरती रूपी सुन्दरी-वधू मन-ही-मन हसेगी।'[६]

वल्लुवर ने अपने काव्य-ग्रन्थ में प्रभु-वन्दना के तुरन्त उपरान्त 'वर्षा के महत्त्व' का उल्लेख किया है। इसका स्पष्ट कारण वर्षा और जीवन का निकट सम्बन्ध ही है। उनका कथन है—संसार का अस्तित्व वर्षा पर आधृत होने के कारण वही ससार की सुधा कहलाने योग्य है।[७] वर्षा के अभाव मे कृषि-कर्म के रुकने का उल्लेख हुआ है।[८] जलद के जल के अभाव मे असीम समुद्र के सूखने का भय,[९] वर्षा के अभाव मे विशाल वसुधा से दान और तपस्या का सम्भव लोप[१०] और ससार मे जीवन का सम्भावित अन्त[११] इत्यादि के द्वारा वर्षा के महत्त्व की स्वीकृति ही मिलती है। कृषि के वर्षा पर निर्भर होने के कारण जीवन का वर्षा-आश्रित होना स्वाभाविक है। प्रभुप्रदत्त होने के कारण प्रभु-वन्दना के तुरन्त बाद इस विषय को कवि ने प्रस्तुत किया है। तिरुक्कुरल के प्रसिद्ध टीकाकार मनक्कुडवर का यही मत है।

कबीर एवं तिरुवल्लुवर की दृष्टि समाज को अत्यन्त पैनी दृष्टि से देखती है, पर दोनो में एक तात्त्विक भेद विद्यमान है। वल्लुवर-काव्य प्राय व्यवस्थित, क्रमबद्ध विवेचन प्रस्तुत करता है, कबीर-काव्य मे समाज का रूप ग्रहण करने के लिए अनेकानेक पदो मे आए कथनो की खोज करते हुए कई आवरणो को हटा कर हमें समाज-सम्बन्धी सामग्री का सकलन करना होगा। समाज के अन्तर्गत व्याप्त अनेक कुरीतिया भी इसी प्रकार से उद्घाटित करनी होगी। कबीर मूलत भक्त कवि हैं, उनमे उपदेश का स्वर प्रमुख है, वल्लुवर मे भक्ति का अश कम, आदर्श का आधार अधिक है।

---

१. कुरल १०३१।
२ कुरल १०३२।
३ कुरल १०३३।
४. कुरल १०३४।
५ कुरल १०३६।
६. कुरल १०४०।
७ कुरल ११।
८ कुरल १४।
९. कुरल १७।
१०. कुरल १९।
११ कुरल २०।

कबीर-काव्य में सामाजिक अभिव्यक्ति

गृहस्थ : कबीर ने समाज में गृहस्थ एवं गृह-त्यागी का उल्लेख किया है। गृहस्थ के महत्त्व से कबीर पूर्णरूपेण परिचित हैं, गृहस्थ और बैरागी दोनों को धर्म के मार्ग पर चलना चाहिए पर बैरागी का बन्धन में पड़ना अनुचित मानते हुए कबीर ने कहा है—

जौ ग्रिह करहि त धरम करु, नाहिं त करु बैराग।
बैरागी बंधन करै, ताको बड़ो अभाग ॥[1]

गृहस्थ को अपना चित्त उदार रखना चाहिए और बैरागी को 'विरक्त' रहना चाहिए।[2] विरक्ति से रहित बैरागी और उदारता से रहित गृहस्थ का जीवन व्यर्थ है।

समाज में सत्य की आराधना मे रत, विरक्त संन्यासी कम थे, जोगी, जती, तपी, जटाधर, लुंचित, मुंडित, मौनी इत्यादि अनेक वेशों एवं रूपों में घूमने वालों में सच्चे तत्त्व-चिन्तक कम थे, ढोंगी अधिक—

मुनिजन सती सिध अरु साधिक, तेऊ न आयँ छूटे।
जोगी जती तपी सन्यासी, अह-निसि खोजैं काया ॥[3]

इसी प्रकार का संकेत 'जोगी जती तपी सन्यासी बहुतीरथ भरमणा, लुंचित मुंडित मोनी जटाधर, अंति तऊ मरणा'[4] इत्यादि उक्तियों से लिया जा सकता है। कबीर यह अनुभव कर रहे थे और इसीलिए उन्हें कहना पड़ा—

कबीर कलियुग आइया, मुनियर मिलै न कोइ।
कामी क्रोधी मसखरा, तिनका आदर होई ॥[5]

योगी के स्थान पर ढोंगी साधुओं और समाज को भ्रमित करने वालों के सम्मान को देखकर कबीर जैसा फक्कड़ संत शान्त नहीं रह सकता था। उसने मिथ्या बाह्याडम्बर का प्रबल विरोध किया और कहा—

निरबैरी निहकामता, साईं सेती नेह।
बिखया सौं न्यारा रहै, संतनि को अंग एह ॥[6]

बैरागी और गृहस्थ का उल्लेख एक साथ अन्यत्र भी हुआ है।[7] गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए भी जो मन एवं इन्द्रिय-नियन्त्रण में सफल हैं, ऐसे मनुष्य कम ही होते हैं पर यह

---

१. कबीर ग्रंथावली, (पा० ना० ति०), पृ० १६५।
२ बैरागी बिरकत भला, गिरही चित्त उदार ॥—वही, पृ० १६०।
३. कबीर ग्रंथावली, पृ० ११४।
४. वही, पृ० १२८।
५ कबीर ग्रंथावली (पा० ना० ति०), पृ० २१४।
६ वही, पृ० १५६।
७. (अ) कबीर कहता जात हू, चेतै नही गवार।
बैरागी गिरही कहा, कामी वार न पार ॥—कबीर ग्रंथावली, (पा० ना० ति०), पृ० २३३।
(आ) घाटै बाटै सब जग दुखिया क्या गिरही बैरागी हो ॥—वही, पृ० ५३।
(इ) इक बैरागी ग्रिह करै, एक ग्रिही बैराग ॥—वही, पृ० २४०।

आदर्शों की स्थिति है। कबीर का कथन है कि मन के विकार का त्याग प्रथम आवश्यकता है, यदि 'बनहि बसें' 'मन नहीं तजै विकार' तो 'का कीजिये' और इसी प्रकार 'घर बन समकरि जिनि किया ते विरला संसार।'[1] गृहस्थ के सन्दर्भ मे विवाहादि विषयक कबीर के कथनों का उल्लेख प्रासंगिक है। विवाह की विभिन्न क्रियाओं का सूक्ष्म चित्रण 'दुलहिनी गावहु मंगलचार', पंक्ति से प्रारम्भ होने वाले प्रसिद्ध पद मे हुआ है।[2] इस पद में बरात, अतिथि, बेदी, बेदो-च्चार, भावर इत्यादि का वर्णन आया है। एक पुरुष के एक से अधिक विवाहों का संकेत भी मिलता है।[3] एक अन्य पद में भी अप्रस्तुत रूप मे स्त्री के श्वसुरालय गमन का चित्र प्रस्तुत किया गया है। इसमें मडप, लगन लिखाना, मगलाचरण, हल्दी चढाना, भावर, फेरे, गठजोड इत्यादि का उल्लेख आया है।[4]

स्त्री

कबीर-काव्य में स्त्री के स्वतन्त्र अस्तित्व की स्वीकृति नही है। यहां तो स्त्री अपने प्रिय को रिझाने वाली पर दृढ आस्थायुक्त एकनिष्ठ प्रेम के मार्ग पर अग्रसर है। प्राय स्त्री और माया को पर्याय रूप में प्रयुक्त किया गया है। प्रस्तुत सन्दर्भ मे स्त्री के पत्नी-रूप विषयक अप्रस्तुत कथनो को आधार बनाकर ही हम किसी निष्कर्ष पर पहुच सकते हैं। प्रिय के प्रेम से ही स्त्री को धन्य माना जाता है। 'धनि पिउ एकै सगि बसेरा। सेज एक पै मिलन दुहेरा'[5] से स्त्री के पति-आश्रित होने का सकेत ग्रहण किया जा सकता है। 'बहुत दिनन के बिछुरे' हरि (पति) को प्राप्त कर वह 'चरनन लागि करौं सेवकाई' और 'प्रेम प्रीति राखौ उरझाई' की कामना करती है।[6] 'बालम' के बिना व्याकुल स्त्री उसे घर आने के लिए कहती है—'तुम्ह बिन दुखिया देह रे।'[7] इससे स्त्री के प्रति समाज के दृष्टिकोण की एक झलक मिल सकती है। सुख-साधन की सामग्री के रूप मे स्त्री को देखने वाला कबीर-युग स्त्री के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करने मे असमर्थ है। वह तो स्त्री से एकनिष्ठ और अनन्य प्रेम की आशा ही करता है। वहां तो 'बहुत दिनन मे प्रीतम' के आने पर भाग्य को सराहा जाता है क्योकि 'भाग बडे

---

१ वही, पृ० १००।

२ वही, पृ० ५।

३ एक भाई दीसैं सब नारी, नां जानौं को पियहिं पियारी।
कहै कबीर जाकै मस्तकि भाग, सभ परिहरि ताकौं मिलै सुहाग।। - वही, पृ० ७।

४ मैं सासुरे पिय गौहनि आई।
सांई सगि साध नहिं पूजी गयौ जोबन सुपिनै की नाईं।
पांच जना मिली मडप छायौ तीनि जना मिली लगन लिखाई।
सखी सहेली मगल गावै सुख दुख माथै बाबै पतियाई।
नाना रगै भावरि फेरी गाठि जोरि बाबै पतियाई।
पूरि सुहाग भयो बिनु दूलह, चोकै राड भई सग सांई।।—वही, पृ० ६३। इत्यादि

५ कबीर ग्रथावली, (पा० ना० ति०), पृ० ८।

६ वही, पृ० ६।

७ वही, पृ० ६।

करि बैठे बाए'।[१]

'पत्नी होने का प्रमाण भी इसी के अनुकूल है—

सब कोइ कहै तुम्हारी नारी मोकौं यह सन्देह रे।
एकमेक ह्वै सेज न सोवै तब लगि कैसा नेह रे॥[२]

इसी प्रकार 'सुरति देखि लुभानी' और 'तन की तपनि बुझानी'[३] इत्यादि में निहित अर्थ भी स्त्री के शरीर-पक्ष को अधिक बल प्रदान करते हैं।

पत्नी के लिए पातिव्रत धर्म के निर्वाह को कबीर ने अनिवार्य माना है।[४] यह परम्परागत भारतीय दृष्टि के अनुकूल भी है और कबीर-युग में व्याप्त व्यभिचार और परस्त्री-लोलुप कामी जनों के कारण भी। पतिव्रता स्त्री की लज्जा और मर्यादा का दायित्व पति का माना गया है।[५] कबीर-काव्य की स्त्री एकनिष्ठ प्रेम का सुन्दर उदाहरण है—

प्रीति रीति जो तुझ सौं मेरे बहु गुनियाले कंत।
जो हसि बोलू और सौं तौ नील रंगाऊं दंत॥[६]

वह तो प्रिय को नयनों के भीतर सजो कर रखना चाहती है। इस अनन्य भावना में दोनों पक्षों को मर्यादित होना होता है।[७]

"कबीरदास भक्त और पतिव्रता को एक कोटि में रखते थे। दोनों का कर्म कठोर है, दोनो की वृत्ति कोमल है, दोनो के सामने प्रलोभन का दुस्तर जंजाल है, दोनो ही काचन-पद्मधर्मी हैं—बाहर से मृदु, भीतर से कठोर, बाहर से कोमल, भीतर से परुष। सबकी सेवा मे व्यस्त, पर एकाकी आराधिका पतिव्रता ही भक्त के साथ तुलनीय हो सकती है।"[८]

संतति

सन्तान परिवार के सुख का प्रबल आधार होती है। कबीर ने परिवार मे संतति का उल्लेख करते हुए उस नारी को धन्य माना है जिसने 'बैसनो पूत' को जन्म दिया है।[९] नारी का मातृरूप सन्तान-प्राप्ति से ही पूर्णता की ओर अग्रसर होता है। सन्तान की भूल को क्षमा करना, बालक के दुःख मे स्वयं दुःख का अनुभव करना मातृत्व के स्वाभाविक परिणाम हैं।

---

१ कबीर ग्रंथावली (पा० ना० ति०), पृ० ६।

२ वही, पृ० ६।

३ वही, पृ० ११।

४ सोइ तिरिया जाके पतिव्रत आग्याकार न लोपै।
और सकल ए कूकरि सूकरि सुंदरि नाउ न ओपै॥—वही, पृ० १०२।

५ पतिबरता नागी रहै, तो उसही पुरिख कौं लाज॥—वही, पृ० १७६।

६ वही, पृ० १७६।

७ नैना अतरि आव तूं, ज्यौं हौं नैन झपेउं।
ना हौं देखौं और कौं, नां तुझ देखन देउं॥—वही।

८ कबीर—ह० प्र० द्विवेदी, पृ० १६१।

९. कबीर धनि सो सुन्दरी, जिन जाया बैसनौं पूत।
राम सुमिरि निरभै भया, सब जग गया अऊत॥—कबीर ग्रंथावली, (पा० ना० ति०), पृ० १५८।

संतति के सन्दर्भ में कबीर ने दो प्रकार के कथन प्रस्तुत किये हैं—(क) इस असार संसार में सब कुछ नश्वर होने के कारण पुत्र-जन्म के अवसर पर आनन्द मनाना व्यर्थ है क्योंकि जन्म-मृत्यु का चक्र मनुष्य को निरन्तर बांधे हुए है।[1] (ख) दूसरा 'हरि जननी मैं बालिक तोरा' का रूप है जहां भक्त स्वयं को प्रभुसंतति और प्रभु को जननी के रूप मे ग्रहण करता है। यहां जननी की स्वाभाविक कोमलता, पुत्र के प्रति उसका अगाध, अकारण प्रेम, उसके सुख-दुःख मे सुखी और दुःखी होने का भाव चित्रित है। 'बालक दुखी दुखी महतारी', 'सुत अपराध करै दिन केते, जननीं के चित रहैं न तेते'[2] से परिवार के परिवेश और मातृ-हृदय दोनो को अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। सन्तान प्रभु को प्राप्त करने के ज्ञान से युक्त हो, ऐसी मान्यता कबीर की है। इस विषय मे उनके कथन सीधे और मर्मस्पर्शी हैं, यहा कोई समझौते की भावना नही, अपितु दृढ भाव से कथन है, जो उनके तद्-विषयक दृढ विचारो की अभिव्यक्ति है, जिस कुल मे ज्ञान का विचार करने वाला पुत्र नही, उसकी माता गर्भ को ही नष्ट करके बध्या क्यो न हो गई? जो पुत्र सूअर की तरह कलियुग मे भ्रमण करते रहते हैं, 'वाकी विधवा काहे न भई महतारी।'[3] कबीर के लिए जीवन का लक्ष्य 'राम-भक्ति' और 'ज्ञान-प्राप्ति' है, अत वे संतति से इसी लक्ष्य पर अग्रसर होने की कामना करते हैं। वल्लुवर की दृष्टि समाज के लिए श्रेष्ठ नागरिक प्रस्तुत करना है अत वहा संतति से इस लक्ष्य की पूर्ति की आशा की जाती है। सूक्ष्म रूप मे दोनो लक्ष्य एक ही हैं, सत्य की आराधना और श्रेष्ठ नागरिक बनने के लिए ज्ञान प्राप्त करना मूलत एक ही हैं। युग और जीवनादर्शों मे परिवर्तन से दोनो कवि अपने-अपने ढग से आदर्श की स्थिति की कल्पना करते हैं।

निषिद्ध प्रेम

कबीर-काव्य मे अनेक पदो मे परस्त्रीगमन की निन्दा की गई है। परस्त्रीगमन को कबीर लहसुन खाने के समान मानते हैं। यह कर्म चाहे कितना ही छिपाकर किया जाये प्रकट हो ही जाता है।[4] परनारी तो प्रत्यक्ष छुरी के समान है, स्वर्ण-निर्मित होने पर भी नाश ही का कारण बनेगी।[5] परनिंदा, परधन, और परदारा के त्याग का संदेश कबीर ने दिया है।[6] कारण स्पष्ट

---

१ बेटा जाए क्या हुआ, कहा बजावै थाल।
आवन जावन ह्वै रहा, ज्यो कीडी का नाल॥—कबीर ग्रथावली, पृ० २०३।

२ कबीर ग्रथावली, पृ० ६४।

३ जा नरि राम भगति नही साधी,
सो जनमत काहे न मूवो अपराधी॥
गरभ मुचे मुचि भई किन बाझ, सूकर रूप फिरै कलि माझ।
जिहि कुलि पुत्र न ग्यान बिचारी, वाकी विधवा काहे न भई महतारी॥
—वही, पृ० ६७।

४ परनारी को राचनौं जस लहसुन की खानि।
कौनै बैठे खाइए परगट होइ निदानि॥—कबीर ग्रथावली (पा० ना० ति०), पृ० २३१।

५ परनारी परतखि छुरी, बिरला बांचै कोइ।
नाऊ पेट सचारिए जौ सोने की होइ॥—वही, पृ० २३२।

६ वही, पृ० २४।

है—'तै अनेक पुरुष का लियो है भोग' पर उससे 'सुख न भयो तन बढ्यो रोग ।'[1] समाज में इस निषिद्ध प्रेम के मूल में काम का आकर्षण प्रमुख है। कबीर के समाज में इस प्रकार के सम्बन्ध विद्यमान थे, इसके लिए इतिहास के प्रमाण गिनवाए जा सकते हैं, पर कबीर द्वारा इसका उल्लेख इस सन्दर्भ मे पर्याप्त होना चाहिए। कबीर स्त्री को अन्य पुरुष-प्रेम की अनुमति नहीं देते। उनका स्पष्ट कथन है—

नारि कहावै पीव की, रहै और संग सोइ।
जार मीत हृदया बसै, खसम खुसी क्यों होइ ॥[2]

यहां स्त्री द्वारा व्यभिचार करने का परिणाम आदर और सम्मान का नाश है—

कबीर जे कोइ सुन्दरी जांनि करै बिभिचारि।
ताहि न कबहू आदरै, परम पुरिख भरतार ॥[3]

और पुरुष के लिए इसका परिणाम अन्त मे समूल नाश है।[4]

इसीलिए प्रेम की एकनिष्ठता पर बल देते हुए उन्होंने कहा—

जिन दिल बधी एक सू, ते सुखु सोवै नचीत ॥[5]

ऐसी सुन्दरी का प्रिय भी उसे कभी नही छोड सकता, निरन्तर अपने सग रखता है।[6] परनारी से प्रेम अवगुण है, गुण नही। खारे समुद्र मे मत्स्य जिस प्रकार बहा चला जाता है, उसी प्रकार इस मार्ग पर अग्रसर होने वाले की गति होती है।[7] पुरुष को चाहिए कि प्रेम उसी से करे जो अत तक निर्वाह कर सके, क्योकि 'बनिता बिवधि न राचिये, देषत लागै षोड़ि।'[8] आचरण की पवित्रता के इस सन्देश मे कबीर की दृढ आस्था इस सीमा तक गई है कि उन्होने कन्या का सम्मान करने वाले ससारी 'साकत' को दुराचारी 'बैश्नों' से श्रेष्ठ माना है।[9]

विदेशी शक्तियो के आगमन और मुगल-शासन के कारण सामाजिक व्यवस्था मे पहले के समान प्रभावशाली अनुशासन नही था, पर प्रबुद्ध-जन अब भी समाज मे स्त्री और पुरुष के अनुचित लैगिक सम्बन्धो को हेय मानते थे।

शृगार-प्रसाधन एव आभूषण

कबीर काव्य की 'जोबन मैंमाती'[10] नायिका का शृगार-प्रसाधन अत्यन्त सीमित है।

---

१ कबीर ग्रथावली (पा० ना० ति०), पृ० ४५।
२ वही, पृ० १७५।
३ वही, पृ० १७७।
४ पर नारी राता फिरै चोरी बिढता खाहि।
दिवस चारि सरसा रहै अत समूला जाहि ॥—वही, पृ० २३४।
५ कबीर ग्रथावली, पृ० १५।
६ जे सुन्दरि साई भजै, तजै आंन की आस।
ताहि न कबहू परहरै, पलक न छाडै पास ॥—वही, पृ० ६३।
७ पर नारी कै राचणैं, औगुण है गुण नाहि।
षार समद मैं मछला, केता बहि बहि जाहिं ॥—कबीर ग्रथावली, पृ० ३१।
८. वही, पृ० ३८।
९. वही, पृ० ५२।
१० वही, पृ० ६६।

वह जो अपने प्रिय के साथ आनन्द प्राप्त कर उसी की कान्ति से अपने शरीर में उजाला कर लेती है।[१] वह शृंगार की ओर ध्यान न देकर 'चरनन लगि करो बरि आई' और 'प्रेम प्रीति राखौं उरझाई'[२] में विश्वास करती है। यहा प्रिय के ससर्ग में शृगार शोभा देता है, कुमारी कन्या के शृंगार को वर्जित माना गया है।[३] शृगार प्रसाधन का लक्ष्य प्रिय को रिझाना है पर कबीर इसका साधन पातिव्रतधर्म को मानते हैं क्योकि 'जौ पै पतिव्रता ह्वै नारी कैसे हीं रहौ सो पियहि पियारी' अत इसके लिए तन मन और जीवन को समर्पित करने वाली नारी ही 'सुहागिन' कहलायेगी।[४] यहा शृगार का समस्त प्रयोजन प्रिय-मिलन है।[५]

कबीर ने प्रसगवश जिन शृंगार-प्रसाधनो का उल्लेख किया है, उनमे 'सिन्दूर' और 'काजल' का विशेष स्थान है। इसके अतिरिक्त उजले कपडे एव 'पटम' पहनना, पान-सुपारी खाने इत्यादि का उल्लेख आया है। निम्न स्थलो पर आये तद्विषयक उल्लेख महत्त्वपूर्ण हैं—

(क) काजल देइ सबै कोइ, चषि चाहन माहि बिनान।[६]
(ख) कबीर रेख स्यदूर की, काजल दिया न जाइ।[७]
(ग) उजल कपडा पहरि करि, पान सुपारी खाहि।[८]
(घ) पीव के मन भावै नहीं, पटम कीये क्या होइ।[९]
(ङ) काजल स्यदूर कै दीयै सोलह स्यगार कहा भयौ कीयै।[१०]
(च) हार गुह्यो मेरो राम ताग, बिचि बिचि मान्यक एक लाग।[११]
(छ) रतन प्रवालै परम जोति, ता अतरि अतरि लागे मोती।[१२]
(ज) जैसै बहु कचन के भूषन, ये कहि गालि तवावहिगे।[१३]

आभूषणो मे चूडा, पायल और बिछुवा का उल्लेख आया है।[१४] इसके अतिरिक्त उपर्युक्त उद्धरणों में कचन के आभूषणो, रत्न, प्रवाल, माणिक्य से बने हार इत्यादि के प्रयोग का अनुमान लगाया जा सकता है। कबीर के लिए इन आभूषणो, शृङ्गार-प्रसाधन और

---

१ मदिर माहि भया उजियारा, ले सूती अपना पीव पियारा ॥
—कबीर ग्रथावली, पृ० ६९।

२ वही, पृ० ६९।

३. कवारी कन्या करै स्यगार, सोभ न पावै बिन भरतार ॥—वही, पृ० ६८।

४ वही, पृ० १००।

५ किया स्यगार मिलन कै ताई, काहे न मिलौ राजा राम गुसाई ॥—वही, पृ० ६५।

६ वही, पृ० ७६।

७ वही, पृ० १४।

८ वही, पृ० २०।

९ वही, पृ० २७।

१० वही, पृ० १००।

११ वही, पृ० १६१।

१२ वही।

१३ वही, पृ० १०२।

१४. का चूरा पायल झमकायें, कहा भयो बिछुवा ठमकायें ॥
—वही, पृ० १००।

मूल्यवान वस्त्र इत्यादि का प्रयोग विशेष महत्त्व नहीं रखता, वहाँ तो निरन्तर यह ध्यान बना हुआ है कि 'तन-मन जोबन अँजुरी को पानी, जात न लागै बार'।[१] यही कारण है कि शृंगार के स्थान पर यहाँ "तन मन जीवन सौंपि सरीरा, ताहि सुहागिन कहै कबीरा"[२] को अधिक महत्त्व प्राप्त हुआ है।

भोजन-पान

कबीर ने मांस-भक्षण को अनुचित माना है और जीव को मार कर अपने शरीर की वृद्धि करने की अनुमति वह नहीं देते।[३] 'जिबह', 'हलाल' इत्यादि विभिन्न रूपों से की जाने वाली हत्या को हेय माना गया है।[४] 'जियत न मारि मुआ मति लावै, मास बिहूँना घरि मति आवै ही कंता'[५] से मास-भक्षण का पर्याप्त प्रमाण मिलता है पर सत कबीर ने इसका पूर्णरूपेण वर्जन किया है एवं इसे पाप-कर्म माना है। मांस-भक्षण के विरोध के मूल में अहिंसापरक दृष्टि तथा स्वस्थ एव सभ्य समाज के निर्माण की कामना रही है।[६]

विभिन्न प्रकार के भोजन कबीर जैसे सन्त के लिए कोई आकर्षण नहीं, परन्तु पूजा के नाम पर भक्तो से विभिन्न प्रकार के व्यजन प्रभु-अर्पित करवा स्वयं उनका आनन्द उठाने वाले पुजारियों को उन्होने देखा था। इसीलिए उन्होंने कहा—

लुचरी लपसी आप सघारै, द्वारै ठाढा राम पुकारै।[७]

लुचरी (मैदे की पूडी) के अतिरिक्त लड्डु, खीर का भी उल्लेख आया है।[८]

कबीर तो भिक्षा मे प्राप्त भाति-भाति के अन्न से बनी 'मधुकरी' को सर्वोत्तम मानते हैं।[९] खीर, खाड और घृत से शरीर को सवारने का क्या काम? इस झूठे तन कौं कहा, रखइये, मरियै तौ पल भरि रहण न पइये।"[१०] के ज्ञान से युक्त मनुष्य तो व्यजनों के स्थान पर 'इस मन को मैदा करौं, नान्हां करि करि पीसि' का ही सन्देश दे सकता है।[११] जब 'मोट चून' 'मैदा भया' तो कबीर उसका आनन्द लेते हैं।[१२] अपनी मस्ती में रमे हुए कबीर तो तनिक नमक से युक्त खिचडी में ही आनन्द मानते हैं, वही उनके लिए अमृत है।

---

१. कबीर ग्रथावली, पृ० १४५।

२ वही, पृ० १००।

३ जीवहि मारि जीव प्रति पारै देखत जनम आपनौं हारै॥
—वही, पृ० १८२।

४ कबीर ग्रन्थावली (पा० ना० ति०), पृ० २११।

५. वही, पृ० ७२।

६ इस विषय पर विस्तृत विवेचन के लिए द्वितीय अध्याय देखें।

७ कबीर ग्रथावली, पृ० १००।

८ लाडू लावण लापसी, पूजा चढ़ै अपार॥—वही, पृ० ११६।

९ मीठा खाण मधूकरी, भाँति-भाँति कौ नाज॥
—वही, पृ० ४६।

१०. वही, पृ० ६१।

११ वही, पृ० ६४।

१२ मोट चून मैदा भया बैठि कबीरा जीम॥—वही, पृ० ४२।

रोटी और पेड़े के लिए यदि धर्म-भ्रष्ट होना पड़े तो वह व्यर्थ है।[1]

मद्यपान

कबीर ने मद्यपान को हेय माना है। साधु स्वर्ण-कलश मे भरी सुरा को भी निंद्य मानता है।[2] मास और मदिरा का सेवन करने वालो को मुक्ति की नहीं, कोटि नरक की प्राप्ति होगी।[3] परन्तु कबीर राम नाम के रस की मदिरा पीने की खुली छूट देते हैं। वास्तव मे यह कवि प्रत्येक स्थिति मे प्रभु और ज्ञान को सर्वोपरि मानता है। यही कारण है कि वह 'हरि रस' पीने की बात करते हैं जिसका खुमार कभी नही उतरता।[4] पर यह प्रेम-रस 'पीवण दुलभ' है क्योकि 'मागे सीस कलाल'। कबीर इस सदर्भ मे अप्रस्तुत रूप मे मद्य बनाने की प्रक्रिया का उल्लेख करते हैं, और महुवा तथा गुड को भट्टी की आग मे पकाकर चुवाने का संकेत आया है।[5] इस रस को पीकर खुमारी चढती है, प्याले पर प्याले पीने के बाद भक्त इसी रस मे विभोर हो जाता है और तदुपरान्त 'दूजा कछु न सुहाई'। कबीर का यह प्रेम का मद अद्भुत है। इसमे 'शिव सनकादिक माते' पर 'पीवत अजहू न अघाई'। यह 'राम रस' है इसे प्राप्त करने के बाद 'तार्थे बिसरि गये रस और।' इसे ईश्वर और गौरी पीते हैं। यह महारस है, अत्यन्त महगा है, इसे तो कोई 'पीवणहार' ही पी सकता है। इसे पीने के उपरान्त—

> पूरा मिल्या तबै सुष उपज्यौ, तन की तपति बुझानी।
> कहै कबीर भवबधन छूटै, जोतहि जोत समानी ।।[6]

की स्थिति आ जाती है।

कबीर-समाज मे मद्यपान की कुरीति उनके काव्य मे अमृत का सदेश लेकर आई। विभिन्न रूपो मे मद्य को प्रभु के नाम के साथ सयुक्त कर कबीर ने इसे नई अर्थवत्ता प्रदान की, रस यहा प्रेम का रस हो गया, भट्टी यहा इगला-पिंगला हो गई, अत सम्पूर्ण सन्दर्भ ही परिवर्तित हुआ, समस्त कल्मष धुल गया और यह 'मद्यपान' एक काम्य वस्तु बन गया।

---

१ खूब खाड है खीचडी, माहि पड टुक लूण।
पेडा रोटी खाइ करि, गला कटावै कौंण ।।—कबीर ग्रथावली, पृ० ३३।

२ सोवन कलस सुरै भरधा, साधू निंद्या सोइ ।।—वही, पृ० ३७।

३ पापी पूजा बैसि करि, भषै मास मद दोइ।
तिनकी दष्या मुकति नही, कोटि नरक फल होइ ।।—वही, पृ० ३३।

४ हरि रस पीया जाणिये, जे कबहू न जाइ खुमार ।।—वही, पृ० १३।

५ (क) गुड करि ग्यान ध्यान कर महुवा भव माठी करि भारा।

× × ×

दोइ पुड जोडि चिगाई भाठी, चुया महारस भारी ।।—वही, पृ० ८६।

(ख) बहुत मोलि महगै गुड़ पावा, लै कसाब रस रांम चुवावा ।।—वही।

(ग) इला प्यगुला भाठी कीन्ही, ब्रह्म अगनि परजारी ।।—वही।

(घ) चन्द सूर दोइ भाठी कीन्ही, सुषमनि चिगवा लागी रे ।।
—वही, पृ० ८५।

६. वही, पृ० ८६।

वेश्यावृत्ति

सन्त कवियों ने नारी के कामिनी रूप को प्रलोभन का कारण मान त्याज्य माना है। वेश्या समाज में सर्वाधिक गर्हित मानी गई है, पर कामुक मनुष्य की इच्छा-तृप्ति का साधन बनी रही। पुरुष के अनाचार का शिकार यह नारी एक ओर समाज के पाप को ढोती रही और दूसरी ओर सम्मानित जीवन से वंचित की जाती रही। कबीर-काव्य मे वेश्या का उल्लेख प्राय. माया के पर्याय के रूप मे हुआ है। 'माया बेसा लाइ' और 'बेस्वा केरा पूत ज्यौं, कहै कौंन सौं बाप'[1] मे वेश्या का उल्लेख केवल प्रासगिक है। जिस प्रकार वेश्या पुरुष को भ्रमित करती है, वही स्थिति माया की है। यह जग एक बाजार है, इन्द्रियों के आस्वाद रूपी ठग इसमे विचरण करते हैं और 'माया' वेश्या है।[2] यह माया पापिन है, लोगों को आसक्ति में फसा लेती है। वेश्या की भाति इसका भी पूरा भोग कोई नही कर पाता।[3] यह माया-वेश्या आसक्ति के फंदे को लेकर ससार रूपी बाजार मे बैठी हुई है, सभी लोग इसके फदे में आ जाते हैं, पर कबीर इसे काट कर मुक्त हो गया।[4] यह माया वेश्या पापिन है, हरि के प्रति भी धर्म-विरुद्ध आचरण करती है, मनुष्यो को दुर्बुद्धि की ओर अग्रसर कर धर्म-मार्ग से विमुख करती है।[5] विषय-सुख की कामना से 'गणिका' से प्रीति लगाने को कबीर ने हेय माना है।[6] स्पष्ट है कि वेश्यावृत्ति समाज मे विद्यमान थी, कबीर ने वेश्या को 'माया' का पर्याय बना कर अपने विचारो की अभिव्यक्ति का एक साधन बना लिया।

कृषि

कबीर ने भी वल्लुवर के समान 'कृषि' के महत्त्व को स्वीकार किया है। निरन्तर भ्रमणकारी प्रवृत्ति होने के कारण अपने युग के प्रमुख व्यवसाय के रूप मे कृषि से उनका सम्पर्क स्वाभाविक है। कृषि के लिए सिंचाई साधनो मे 'ढीकुली' का उल्लेख आया है।[7] सदाफल, अगूर, बिजौरा, नीबू इत्यादि की लहलहाती वाटिकाओ का उल्लेख भी हुआ है।[8] जल उलीचने के लिए टोकरे का उपयोग, वाटिका की निरन्तर सेवा और रक्षा की आवश्यकता, रखवाले

---

१ कबीर ग्रथावली (पा० ना० ति०), पृ० १५१।

२ जग हटवाडा स्वाद ठग माया बेसा लाइ ॥
—कबीर ग्रथावली, पृ० २५।

३ कबीर माया पापणी, लालै लाया लोग।
पूरी किनहू न भोगई, इनका इहै बिजोग ॥—वही।

४ कबीर माया पापणी, फध लै बैठि हाटि।
सब जग तौ फधै पडया, गया कबीरा काटि ॥—वही, पृ० २५।

५ कबीर माया पापणी हरि सू करै हराम।
मुखि कुड़ियाली कुमति की, कहण न देइ राम ॥—वही।

६ बिषिया सुख कै कारनै, जाइ गणिका सूं प्रीति लगाई रे।
अधे आगि न सूझई, पढ़ि पढ़ि लोग बुझाई ॥—वही, पृ० ९८।

७. ल्यौकी लेज पवन की ढींकू, मन मटका ज बनाया ॥—वही, पृ० १२०।

८. ······ ········ फल लगा बडहूली।
सदा सदाफल दाख बिजौरा कौतिक हारी भूली ॥—वही, पृ० १२०।

द्वारा वर्णित हरी-भरी वाटिकाओ में शीतल जल-युक्त कुआं इत्यादि एक सुन्दर शब्द चित्र प्रस्तुत करते हैं।[1] पर यहा भी ससार से निर्लिप्त रहने की अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि मेरे लिए तो 'नांउ मेरी खेती नाउ मेरे बारी, भगति करौं मैं सरनि तुम्हारी।'[2] कृषि को मृग इत्यादि पशुओ द्वारा नष्ट होने से बचाने के लिए विशेष ध्यान देने की बात कही है, इसी प्रसंग मे रक्षा हेतु रखवालो की सहायता के लिए 'बिजूका' के प्रभाव का उल्लेख हुआ है।[3] 'पूरब जनम करम भूमि बीज नाहीं बोयो'[4] इत्यादि कथनों से स्पष्ट है कि कबीर कृषि-विषयक कथनों में भी आध्यात्मिक दृष्टि की ही अभिव्यक्ति करना चाहते हैं। सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति के प्रसंग मे कृषक की स्थिति विषयक कतिपय सकेत उपलब्ध होते हैं। इस विषय मे निम्न पद महत्त्वपूर्ण है—

गांइ कु ठाकुर खेत कु नेपै, काइथ खरच न पारै।
जोरि जेवरी खेति पसारै, सब मिलि मोको मारै हो राम।
खोटौ महतौ बिकट बलाही, सिर कसदम का पारै।
बुरौ दिवांन दादि नहिं लागै, इक बाधै इक मारै हो राम।

यही कारण है कि कबीर ने कहा कि—'अब न बसू इहिं गाइ गुसाईं।'

इस सदर्भ मे यह उल्लेख आवश्यक है कि इस प्रकार के अशो मे विद्यमान आध्यात्म परक दृष्टि लक्ष्य है पर अपने युग के जीवन का जो रूप कवि हमे प्रदान करता है, वह पर्याप्त प्रामाणिक है।

तिरुवल्लुवर एव कबीर-काव्य मे सामाजिक अभिव्यक्ति के उपर्युक्त अध्ययन से दोनों कवियो के युग का एक चित्र उभर कर हमारे समक्ष आता है, यह चित्र विभिन्न रगो से युक्त चाहे न हो, पर इसकी रेखाए अत्यन्त स्पष्ट हैं। तिरुवल्लुवर के युग का यह मौलिक अध्ययन साहित्य के द्वारा सामाजिक इतिहास प्रस्तुत करने का एक प्रयास है। ठोस ऐतिहासिक सामग्री का अभाव होने के कारण तिरुवल्लुवर-युग के तमिल-प्रदेश का यह अध्ययन निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है। कबीर के युग का इतिहास उपलब्ध है, पर सामाजिक जीवन के तत्त्वो का अध्ययन इतिहास की सामग्री का पूरक बनता है। तिरुवल्लुवर एवं कबीर दोनो समाज को आदर्श रूप प्रदान करने के लिए कृत-सकल्प थे। फलत सामाजिक अभिव्यक्ति के उपर्युक्त अशो का अध्ययन आदर्श सामाजिक धारणाओ को भी उद्घाटित करता है।

●

---

१. बाधि लै धोरा सीचि लै क्यारी ज्यू तू पेड भरै।
काया बाड़ी माहैं माली, टहल करै दिन राती।
कबहुं न सोवै काज सवारै, पाणतिहारी माती।
सेमैं कूवा स्वाति अति सीतल, कबहुकुवा वनही रे॥—कबीर ग्रंथावली, पृ० १२०।

२ वही, पृ० १२१।

३ जतन बिन मृगनि खेत उजारे।
× × ×
बुद्धि मेरी किरषी, गर मेरी बिझुका, आखिर दोइ रखवारे॥—वही।

४. कबीर ग्रन्थावली (पा० ना० ति०), पृ० ३५।

६

भाव-साम्य के ज्वलन्त उदाहरण

(कतिपय संस्कृत ग्रन्थ एवं तिरुक्कुरल)

अध्ययन का उद्देश्य—भाव-साम्य का उद्घाटन

(क) तिरुक्कुरल एवं महाभारत।

(ख) तिरुक्कुरल एवं मनुस्मृति।

(ग) तिरुक्कुरल एवं कौटिलीय अर्थशास्त्रम्।

अध्ययन का उद्देश्य

प्रस्तुत अध्ययन मे कई स्थलो पर तिरुक्कुरल एव अन्य कई ग्रन्थो यथा महाभारत, गीता, मनुस्मृति, कौटिलीय-अर्थशास्त्रम्, कामसूत्र इत्यादि के साथ भाव-साम्य का उल्लेख किया गया है। साधारणतया इस अध्ययन के अन्तर्गत तिरुवल्लुवर एव कबीर के काव्य का तुलनात्मक विवेचन ही ग्रहण किया जाना चाहिए, पर हिन्दी मे तिरुक्कुरल विषयक प्रथम अध्ययन होने के कारण इस ग्रन्थ के अध्ययन की सम्भावनाओ का सकेत देने के लिए 'तिरुक्कुरल तथा महाभारत', 'तिरुक्कुरल तथा मनुस्मृति', 'तिरुक्कुरल तथा कौटिलीय अर्थशास्त्रम् शीर्षको से साम्य दर्शाने वाले कुछ अशो का उल्लेख इस अध्याय मे किया जा रहा है। भारतीय चिन्तन की विशालता, गहनता एव निरन्तरता के मूल में विद्यमान भावात्मक एकता को उद्घाटित करने का यह एक लघु प्रयास मात्र है। निश्चय ही तिरुक्कुरल की तुलना मे इन ग्रन्थो के अनेक अशों मे विपरीत भाव भी खोजे जा सकते है, पर यहा 'साम्य' का उद्घाटन ही विषय की सीमा मान ली गई है।

तिरुक्कुरल एवं महाभारत

महाभारत की महिमा जगत्-विख्यात है। अखिल-ज्ञान के भण्डार के रूप में इस ग्रन्थ का भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानो में बहुत आदर है। आकार की विशालता, विषयों की व्यापकता की दृष्टि से महाभारत भारतीय संस्कृति का विश्वकोष बन गया है। 'यन्न भारते तन्न भारते' की लोक-प्रचलित उक्ति इसी ओर संकेत करती है। तिरुक्कुरल में वर्णित धर्म, अर्थ, काम का महाभारत मे आए तद्विषयक अशो से अद्भुत साम्य है। दोनो महान् ग्रन्थों में भारतीय सास्कृतिक धारा का आकलन हो गया है। महाभारत अपनी विशालता के लिए प्रसिद्ध है, 'तिरुक्कुरल' सक्षिप्त रूप में अभिव्यक्ति के लिए विख्यात है। यहा दोनो ग्रन्थों के कुछ ऐसे अश उद्धृत किये जा रहे हैं जिनमे भाव-साम्य प्रत्यक्ष है।

गृहस्थ-धर्म (इलवाळक्कै) शीर्षक के अन्तर्गत वल्लुवर का कथन है. गृहस्थ अन्य तीनो आश्रमो मे धर्मानुकूल जीवन व्यतीत करने वालो का स्थायी सहायक होता है।[1] महाभारत मे गृहस्थ के महत्त्व को स्वीकृत किया गया है

यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तव ॥
एव गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्त इतरेऽऽश्रमा ॥[2]

वल्लुवर ने पूर्वज, देवता, अतिथि, बन्धु के लिए धर्मानुकूल निरन्तर कर्म करना गृहस्थ का प्रधान कर्त्तव्य माना है।[3] महाभारत के अनुसार

देवतातिथिभृत्यानां पितृणां प्रतिपूजनात्।[4]

सतति (मक्कटपेरु) के सन्दर्भ मे तिरुवल्लुवर कहते हैं—

सतान का अपने से अधिक बुद्धिमान होना विशाल भूतल के सभी मनुष्यो को आनन्द प्रदान करता है।[5] महाभारत मे यह भाव निम्नलिखित रूप मे अभिव्यक्त हुआ है—

एकमेव हि लोकेऽस्मिन्नात्मनो गुणवत्तरम्।
इच्छन्ति पुरुषा पुत्र लोके नान्य कथचन ॥[6]

प्रसन्नवदन से श्रेष्ठ अतिथियो का सत्कार करने वालो के गृह मे लक्ष्मी का सानन्द निवास रहता है।[7] वल्लुवर का यह विचार महाभारत में इस प्रकार अभिव्यक्त है—

---

१ कुरल ४१।
२ महाभारत (भण्डारकर) १२।२६१।६।
३. कुरल ४३।
४ महाभारत, (भण्डारकर) अरण्य० १९९।४।
५ कुरल ६८।
६ महाभारत, द्रोण०, १९४।५।
७ कुरल ८४।

सुमुख सुप्रसन्नात्मा धीमानतिथिमागतम् ।
स्वागतेनासनेनाद्भिरन्नाद्येन्न च पूजयेत् ॥[1]

कृतज्ञता (चेयन्नरि अरिदल्) के सदर्भ में वल्लुवर मानते हैं—'मरण सदृश अति विषम अपकार करने पर भी अपकारी के पूर्वकृत एक उपकार का स्मरण उस अपकार को भुला देगा।'[2] महाभारतकार की मान्यता भी यही है—

पूर्वोपकारी यस्ते स्यादपराधे गरीयसि ।
उपकारेण तत् तस्य क्षन्तव्यमपराधिन ॥[3]

मांसाहार-निषेध प्रसंग में वल्लुवर कहते हैं—

'मास भक्षण के लिए लोग जीवहत्या न करें तो मूल्य के लिए मास विक्रय करने वाला भी कोई नहीं रहेगा।'[4] इस भाव को महाभारत का निम्न अश अभिव्यक्त करता है—

यदि चेत् खादको न स्यान्न तदा घातको भवेत् ।
घातक खादकार्थाय तद्घातयति वै नर ॥[5]

वल्लुवर तपस्या के महत्त्व का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि उमग सहित तपस्या मे लीन व्यक्ति के लिए 'यम' पर विजय प्राप्त करना भी सम्भव है।[6] महाभारत मे इसी भाव को अभिव्यक्त करते हुए कहा गया है—

सचरन्ति तपो घोर व्याधिमृत्युविवर्जिता ।
स्ववशादेव ते मृत्यु भीषयन्ति च नित्यश ॥[7]

'सत्य' की व्याख्या वल्लुवर करते हैं—'किसी प्रकार की हानि से रहित कथन को सत्य बोलना कहते हैं।'[8]

महाभारत के शान्ति पर्व मे नारद का कथन है—

सत्यस्य वचनं श्रेय सत्यादपि हित भवेत् ।
यद्भूतहितमत्यन्तमेतत्सत्य मत मम ॥[9]

अक्रोध (वेहुलामै) के अन्तर्गत वल्लुवर ने किसी पर भी अवस्थित क्रोध को भूलने का सदेश दिया है, क्योकि इससे अनिष्टकारी परिणाम ही उत्पन्न होते हैं।[10] महाभारत मे क्रोध के विषय मे कहा गया है—

---

१. महाभारत, आश्व०, ६२ ।
२. कुरल १०६ ।
३. महाभारत, वन० २८।२६ ।
४ कुरल २५६ ।
५ महाभारत, अनु० ।
६ कुरल २६६ ।
७ महाभारत, अनु० ।
८. कुरल २६१ ।
९ महाभारत, (भण्डारकर) १२।३१६।१३ ।
१० कुरल ३०३ ।

क्रोधमूलो विनाशो हि प्रजानामिह दृश्यते ।
तत्कथं मादृशः क्रोधमुत्सृजेल्लोकनाशनम् ॥[१]

'कोई अपनी रक्षा करना चाहे तो क्रोध से करे, अन्यथा क्रोध ही उसको मार डालेगा।'[२] वल्लुवर के इन वचनों की ध्वनि निम्नलिखित पद में है :—

क्रोधो हन्ता मनुष्याणां क्रोधो भावयिता पुन. ।
इतिविद्धि महाप्राज्ञे क्रोधमूलौ भवाभवौ ॥[३]

सन्यास (तुरवु) के अन्तर्गत वल्लुवर का कथन है—'जिन-जिन वस्तुओ से मानव बन्धन-मुक्त हो जाता है, उन उन वस्तुओं से उसे दु ख प्राप्त नहीं होता ।'[४]

यह भाव महाभारत के प्रस्तुत श्लोक में उपलब्ध है—

यथा यथा च पर्येति लोकतन्त्रमसारवत् ।
तथा तथा विरागोऽत्र जायते नात्र सशय ॥[५]

इसी भाव की अभिव्यक्ति एक अन्य स्थल पर भी हुई है—

यतो यतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते ।
निवर्तनाद्धि सर्वतो न वेत्ति दु खमण्वपि ॥[६]

कुरलकार का मत है—बधनमुक्त होने पर ही भव से मुक्ति प्राप्त होगी अन्यथा जन्म-मृत्यु की अस्थिरता बनी रहेगी ।[७] महाभारत में उल्लेख है—

प्रवृत्त कर्म ससेव्य देवानामेतिसाम्यताम् ।
निवृत्त सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै ॥[८]

तिरुवल्लुवर प्रश्न करते है—'भाग्य से बढकर शक्ति कौन है ?'[९] उत्तर महाभारत में निर्दिष्ट है—'दैव तु बलवत्तरम्',[१०] तिरुवल्लुवर के अनुसार 'मैं' और 'मेरा' के अहंकार का जो दमन कर डाले वह देवताओ मे श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करेगा।[११] महाभारत मे यह भाव इस रूप मे व्यक्त हुआ है—

---

१ महाभारत, (भण्डारकर) आरण्यक०, ३०।३।

२ कुरल ३०५ ।

३ महाभारत, (भण्डारकर) आरण्यक०, ३०।१।

तुलनीय ' यो हि सहरते क्रोध भावस्तस्य सुशोभने ।
य पुन पुरुष क्रोध नित्य न सहते शुभे ।
तस्य भावाय भवति क्रोध परमदारुण' ॥
—वही, ३०।२ ।

४ कुरल ३४१ ।

५ महाभारत, शांति०, २२७।६६ ।

६ वही, उद्योग० ३६।१४ ।

७ कुरल ३४९ ।

८ महाभारत, अश्व०, ३६।१० (देखें मनु० १२।९०) ।

९. कुरल ३८० ।

१०. महाभारत, कर्ण०, २२।३१ ।

११ कुरल ३४६ ।

ध्यानयोगेन शुद्धेन निर्ममा निरहङ्कृता ।
आप्नुवन्ति महात्मानो महान्तं लोकमुत्तमम् ॥[१]
एव निर्ममो निरहकारो मुच्यते नात्र सशय ॥[२]

भाग्य (ऊऴ्) अध्याय के अन्तर्गत तिरुवल्लुवर का कथन है—

'धन-प्राप्ति के सौभाग्य से परिश्रम प्रकट होता है और विसर्जन के दुर्भाग्य से आलस्य।[३] इसी विचार की अभिव्यक्ति महाभारत के विराट पर्व मे निम्न ढग से हुई है—

दैवेन किल यस्यार्थं पुनीतोऽपि विपद्यते ।
सदा दैवागमे यत्र तेन कार्यो विजानता ॥[४]

इसी प्रकार के अन्य सन्दर्भों का भी उल्लेख किया जा सकता है।

वल्लुवर के अनुसार 'धन खोने का दुर्भाग्य मनुष्य को मन्द-बुद्धि और धनोपलब्धि का सौभाग्य उसे विशालबुद्धि बना देगा।[५] यही भाव महाभारत मे इस प्रकार उपलब्ध है—

बल बुद्धिश्च तेजश्च प्रतिपत्तिश्च भारत ।
भवन्ति भवकालेषु विपद्यन्ते विपर्यये ॥[६]

वल्लुवर कहते है कि भाग्य के फलस्वरूप ससार का स्वभाव दो प्रकार का है। एक है सम्पत्ति-सम्पन्नता और दूसरा है सद्ज्ञान-सम्पन्नता।[७]

महाभारत मे इसी विचार को निम्न रूप मे प्रस्तुत किया गया है—

न विधिं ग्रसते प्रज्ञा प्रज्ञा तु ग्रसते विधि ।
विधिपर्यागतानर्थान् प्रज्ञावान्प्रतिपद्यते ॥[८]

महाभारत एव तिरुक्कुरल मे भाव-साम्य के अनेकानेक स्थलो मे से कुछ का उल्लेख द्वितीय अध्याय की पाद-टिप्पणियो मे किया जा चुका है। यहा इसी प्रकार के कुछ और अश प्रस्तुत किए जा रहे हैं—

तिरुक्कुरल 'धर्मज्ञ व अपने से बडे ज्ञानी पुरुषो की मित्रता उनकी महानता को समझ कर यथानुसार प्राप्त करो।'[९]

महाभारत
गुणवन्तो महोत्साहा धर्मज्ञा साधवश्च ये ।
सदधीत नृपस्तैश्च राष्ट्र धर्मेण पालयन् ॥[१०]

तिरुक्कुरल 'इच्छित कर्म की शक्ति, अपनी शक्ति, शत्रु की शक्ति तथा दोनो के सहायको की शक्ति को तौल कर ही उक्त कर्म मे प्रवृत्त होना चाहिए।''[११]

---

१ महाभारत, आश्व०, ५१।२२।
२ वही, ३६।१६।
३ कुरल ३७१।
४ महाभारत।
५ कुरल ३७२।
६ महाभारत, मौसल०, ६।३७।'
७. कुरल ३७४।
८ महाभारत।
९ कुरल ४४१।
१० महाभारत, शाति० (भण्डारकर) ६९।१६।
११ कुरल ४७१।

महाभारत : सारासारं बलं वीर्यमात्मनो द्विषतश्च य ।
जानन्विचरति प्राज्ञो न स याति पराभवम् ।।[1]

तिरुक्कुरल · सैन्य, प्रजा, धन, अमात्य, मित्र, दुर्ग—ये छहों जिसके पास हों वह राजाओं में पुरुष-सिंह के समान होता है ।[2]

महाभारत . आत्मामात्यश्च कोशश्च दण्डो मित्राणि चैव हि ।
तथा जनपदश्चैव पुर च कुरुनन्दन ।
एतत्सप्तात्मक राज्य परिपाल्य प्रयत्नत ।।[3]

तिरुक्कुरल गहरे जल के भीतर मगरमच्छ सबको जीतने मे समर्थ है पर जल से बाहर उसे पराजय ही प्राप्त होगी ।[4]

महाभारत नक्र स्वस्थानमासाद्य गजेन्द्रमपि कर्षति ।
स एव प्रच्युत' स्थानाच्छुनापि परिभूयते ।।[5]

तिरुक्कुरल 'राजा वही है जो शासननीति से च्युत न होते हुए राज्य से अधर्म को हटा कर अपनी वीरता को सम्मान से बनाए रखे ।'[6]

महाभारत अप्रमादेन शिक्षेथा क्षमा बुद्धि धृति मतिम ।
भूताना सत्वजिज्ञासा साध्वसाधु च सर्वदा ।।[7]

तिरुक्कुरल 'अभिमान, क्रोध व विषयवासना के दोषो से रहित व्यक्ति अधिकाधिक वैभव सम्पन्न होते जाएगे ।'[8]

महाभारत 'एतेभ्यो नित्ययत स्यान्नक्तचर्यां च वर्जयेत् ।
अत्याय चातिमान च दम्भ क्रोध च वर्जयेत् ।।[9]

तिरुक्कुरल 'कोई स्वय अपनी रक्षा करना चाहे तो क्रोध से रक्षा करे, अन्यथा क्रोध ही उसको नष्ट कर देगा ।'[10]

महाभारत किन्तु रोषान्वितो जन्तुर्हन्यादात्मानमात्मना ।
यो हि सहरते क्रोध भावस्तस्य सुशोभने ।
यो न सहरते क्रोध तस्याभावो भवत्युत ।।।[11]

---

१ महाभारत, शान्ति० (भण्डारकर), ११४।१३ ।

२ कुरल ३८१ ।

३ महाभारत, शाति० (भण्डारकर), ६९।६२, ६३ ।

४ कुरल ४९५ ।

५ महाभारत ।

६ कुरल ३८४ ।

७ महाभारत, शाति० (भण्डारकर), ९२।४२ ।

८ कुरल ४३१, तुलनीय न हि कामात्मना राज्ञा सतत शठबुद्धिना ।
नृशसेनातिलुब्धेन शक्या' पालयितु प्रजा ।।
—महाभारत, शाति० (भण्डारकर), ७६।१४ ।

९ महाभारत, शांति०, (भण्डारकर), ९१।२९ ।

१० कुरल ३०५ ।

११ महाभारत, वन०, २९।४ ।

तिरुक्कुरल : 'मन मे क्रोध को स्थान न दो तो सभी इच्छित वस्तुओं की तुरन्त प्राप्ति होगी।'[1]

महाभारत : य' समुत्पतित क्रोधमक्रोधेन निरस्यति।
देवयानि विजानीहि तेन सर्वमिद जितम् ॥[2]

तिरुक्कुरल 'धर्मो मे अतुलनीय अग्रिम स्थान अहिंसा का है। उसके अनन्तर 'असत्य न बोलना' उचित है।[3]

महाभारत अहिंसा सर्वभूतानामेतत्कृत्यतम मतम्।[4]
तथा अनृत तु भवेद्वाच्य न तु हिंसा कदाचन।[5]
तथा सत्य धर्मइतिह्येके वदन्ति बहवोजना।
यनस्यादहिंसासयुक्त स धर्म इति निश्चय ॥[6]

इस प्रकार के अध्ययन से भारत की सास्कृतिक एकता का जो चित्र उभर कर हमारे समक्ष आता है वह वर्तमान युग मे एक प्रबल आवश्यकता है। महान विभूतियो का चिन्तन, आदर्श की स्थापना द्वारा मानव-मात्र के मार्ग-दर्शन का कार्य करता है। तिरुक्कुरल एव महाभारत मे भारतीय जीवन एव सस्कृति की सफल अभिव्यक्ति हुई है। उपर्युक्त प्रकरण इस सास्कृतिक ऐक्य का सकेत-मात्र देने का एक लघु प्रयास है। दोनो ग्रन्थो के इस पक्ष का विस्तृत विवेचन भावी शोध का सम्भव विषय है।

१ कुरल ३०६।
२. महाभारत, आदि०, ७३।३।
३ कुरल ३२३।
४ महाभारत, अश्व०, ५०।२।
५ महाभारत, कर्ण०, ७२।२४।
६ महाभारत, कर्ण०, ७२।५६, ५८।
तुलनीय अहिंसा सकलो धर्मो हिंसा धर्मस्तथाहित।
—वही, शांति०, २७२।२०।

तिरुक्कुरल एवं मनुस्मृति

तिरुवल्लुवर-काव्य के अध्येताओं का विचार है कि तिरुक्कुरल एवं मनुस्मृति में पर्याप्त साम्य है। मनुस्मृति एवं तिरुक्कुरल दोनों ग्रन्थों मे कर्म-फल के सिद्धान्त में आस्था का भाव विद्यमान है। धर्म के मार्ग पर अग्रसर होने का एक लाभ श्रेष्ठ पुनर्जीवन अथवा जन्म-चक्र से मुक्ति है।[1] कर्म-फल-सिद्धान्त अपने व्यापकत्व के कारण समस्त भारतीय वाङ्मय में अनेक रूपों मे समाहित हो गया है। तिरुक्कुरल एवं मनुस्मृति मे साम्य का अध्ययन करने के अनेक अन्य उदाहरण लिये जा सकते हैं—

धर्म के महत्त्व का वर्णन करते हुए वल्लुवर का कथन है—'धर्म यशप्रद है और धन-प्रद भी, अत. जीवन के लिए धर्म से श्रेष्ठ और कौन-सा पदार्थ है?'[2] इस कुरल में 'चिरप्पु' (श्रेयस्) और 'चेलवम्' (प्रेयस) की तुलना मनुस्मृति से की जाये तो अद्भुत साम्य दिखाई देता है

"सुखाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च"[3]

गार्हस्थ्य जीवन के विषय मे वल्लुवर का कथन है—'वस्तुत गार्हस्थ्य जीवन ही धर्म का पूर्ण रूप है और वह भी दोषारोपण से मुक्त हो तो फिर कहना ही क्या?'[4] मनुस्मृति मे निम्नलिखित विचार प्रतिपादित है—

यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥[5]

वल्लुवर कहते हैं—गृहस्थ अन्य तीनों आश्रमों मे धर्मानुकूल जीवन व्यतीत करने वालों का स्थायी सहायक होता है।[6] मनुस्मृति का कथन है—

यथा वायु समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तव।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमा.॥[7]

---

१ "In the ethics of the Kural, as in those of the laws of Manu, the idea of reward has a place The way of virtue is recommended because it leads to a better re-incarnation or to liberation from re-birth"

—*Indian Thought and Its Development*—Albert Schweitzer, p 201.

२ कुरल ३१।

३. मनुस्मृति, १२।८८।

४. कुरल ४९।

५ मनुस्मृति, ३।७८।

६ कुरल ४१।

७ मनुस्मृति, ३।७७।

'वाळ्क्कैत्तुणैनलम्' अर्थात् जीवन-सगिनी के गुणो के अन्तर्गत स्त्री की मर्यादा का वर्णन करते हुए वल्लुवर ने माना है कि घर की दीवारो मे स्त्री को मर्यादित रखना व्यर्थ है, उसकी वास्तविक मर्यादा तो उसका सतीत्व है।[1]

अरक्षिता गृहे रुद्धा पुरुषैराप्तकारिभि.।
आत्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ता सुरक्षिता ॥[2]

इसी प्रकार, 'पयनिल चोल्लामै' अर्थात् 'प्रलाप न करना' मे वल्लुवर कहते हैं—'व्यर्थ प्रलाप से दूसरो को अप्रसन्न करने वाला मनुष्य सभी द्वारा असम्मान प्राप्त करेगा।'[3] मनुस्मृति मे कटु-भाषण, असत्य-भाषण, परोक्ष मे किसी का दोष कहना एव निष्प्रयोजन बात करना अशुभ माना गया है।[4] इन सभी का उल्लेख वल्लुवर ने भी किया है।

मासाहार-निषेध (पुलाल् मरुत्तल्) के सदर्भ मे वल्लुवर का कथन है—अपने मांस की वृद्धि के लिए दूसरे प्राणी के शरीर का भक्षण करने वाला दयावान् कैसे हो सकता है?[5] मनुस्मृति मे इस सदर्भ मे कथन है—

स्वमांसं परमासेन यो वर्धयतुमिच्छति।
अनभ्यर्च्य पितृन्देवास्ततोऽन्यो नास्त्य पुण्यकृत् ॥[6]

इसी प्रसग में कुरलकार का मत है—मनुष्य का सशरीर जीवित रहना मासाहार निषेध के तत्त्व पर आधृत है, अत मामाहारी को नरक से भी मुक्ति नही मिलेगी।[7] इसी भाव को अभिव्यक्त करने वाली मनुस्मृति की पक्तियां इस प्रकार हैं —

समुत्पत्ति च मासस्य वधबन्धौ च देहिनाम्।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमामस्य भक्षणात् ॥[8]

मास-भक्षण की वर्जना वल्लुवर इस आधार पर भी करते हैं कि 'विश्लेषण करने पर समझे कि मास दूसरे जीव का घाव ही है।'[9] इसी कारण 'मास का भक्षण ही अधर्म है',[10] अत 'निर्दोषबुद्धि वाले एक जीव के शरीर से पृथक् होकर आए हुए मास का भक्षण नही करेंगे।'[11] मनुस्मृति मे कथन है—

---

१ कुरल ५७।
२ मनुस्मृति, ९।१२।
३ कुरल १९१।
४. पारुष्यमनृत चैव पैशुन्य चापि सर्वश ।
असबद्धप्रलापश्च वाङमय स्याच्चतुर्विधम् ॥—१२।६।
५ कुरल २५१।
६. मनुस्मृति, ५।५२।
७ कुरल २५५।
८ मनुस्मृति, ५।४९।
९ कुरल २५७।
१० कुरल २५४।
११ कुरल २५८।

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् ।
न च प्राणिवध. स्वर्ग्यस्तस्मान्मांस विवर्जयेत् ॥[१]

तिरुवल्लुवर कहते हैं—घृत की आहुति देकर किए गए सहस्र हवनों से श्रेष्ठ है—जीवहत्या एवं मांस-भक्षण न करना।[२] मनु इसी भाव को इस प्रकार अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं—

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शत समाः ।
मांसानि च न खादेद्यस्तयो. पुण्यफल समम् ॥[३]

तिरुवल्लुवर आगे कहते हैं—जो अहिंसक हो और मास न खाता हो, उसको सभी जीव करबद्ध प्रणाम करेंगे।[४] मनु का कथन अधिक विस्तार ग्रहण करता है, पर 'स लोके प्रियता' विशेष तुलनीय है—

न भक्षयति यो मांसं विधिं हित्वा पिशाचवत् ।
स लोके प्रियता याति व्याधिभिश्च न पीड्यते ॥[५]

तपस्या (तवम्) का वर्णन करते हुए तिरुवल्लुवर कहते हैं—जिस प्रकार स्वर्ण तपते-तपते निर्मल एव प्रकाशमान होता है, उसी प्रकार तपस्वी भी कष्ट से तपते-तपते निर्मल एवं ज्ञान के प्रकाश से युक्त हो जाता है।[६] मनु मे यह भाव निम्नलिखित रूप मे उपलब्ध है—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मला ।
तथेन्द्रियाणा दह्यन्ते दोषा प्राणस्य निग्रहात् ॥[७]

सन्यास (तुरवु) का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए तिरुवल्लुवर मानते हैं कि बंधन मुक्त होने पर ही भव से मुक्ति होगी अन्यथा अस्थिरता बनी रहेगी।[८] इसका कारण यह है कि 'बधनयुक्त व्यक्ति को विविध प्रकार के दु ख बांध कर उसे कभी मुक्त न करेंगे।'[९] मनु कहते हैं—निवृत्त कर्म का सेवन करता हुआ, पचभूत का अतिक्रमण करता हुआ (पुनर्जन्म रहित होकर) मोक्ष प्राप्त करता है।[१०]

राजा के गुणो का वर्णन करते हुए वल्लुवर का मत है—राजा वही है जो धन के सप्रयत्न उपार्जन, उसकी वृद्धि, रक्षा एव वितरण मे प्रवीण हो।[११] मनु ने—

अलब्ध चैव लिप्सेत लब्ध रक्षेत्प्रयत्नत ।
रक्षित वर्धयेच्चैव वृद्ध पात्रेषु नि क्षिपेत् ॥[१२]

---

१ मनुस्मृति, ५।४८।
२ कुरल २५९।
३ मनुस्मृति, ५।५३।
४. कुरल २६०।
५ मनुस्मृति, ५।५०।
६ कुरल २६७।
७ मनुस्मृति, ६।७१।
८ कुरल ३४९।
९ कुरल ३४७।
१० निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै ॥—१२।९०।
११. कुरल ३८५।
१२. मनुस्मृति, ७।९९।

में राजा के लिए कहा है—'अप्राप्त को पाने की इच्छा करे, प्राप्त की यत्नपूर्वक रक्षा करे, रक्षा किए गए को बढ़ाये और बढ़ाये हुए को सत्पात्र को दान कर दे।' (कल्वि) शिक्षा अध्याय में वल्लुवर कहते है—'पृथ्वी मे कुआ जितना गहरा खुदेगा, उतना ही अधिक जल निकलेगा; एवम् मानव में जितनी ही शिक्षा अधिक होगी, उतनी ही बुद्धि तीव्र बनेगी।'[१] मनु में गुरु की सेवा करने वाले शिष्य के संदर्भ में आया है—

यथा खनन्खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति।
तथा गुरुगता विद्या शुश्रुषुरधिगच्छति ॥[२]

यहाँ भावसाम्य यद्यपि केवल अभिव्यक्ति मे है, पर अत्यन्त आकर्षक है। सम्राट् से सहयोग (मन्नरैचेरन्दु ओळुकल्) शीर्षक से सम्राट् के प्रति व्यवहार का विश्लेषण करते हुए तिरुवल्लुवर ने परामर्श दिया है—अल्पवयस्क, अथवा बन्धु कहकर सम्राट् का अपमान न कर अपनी स्थिति के अनुकूल मर्यादित व्यवहार करना चाहिए।[३]

दूत के गुणो का विवेचन करते हुए तिरुवल्लुवर ने स्नेह-सम्पन्नता, कुलीनता, इच्छानुसार सदाचरण, तीक्ष्ण बुद्धि, वाक्चातुर्य, विद्वत्ता एव निर्भयता का उल्लेख किया है।[४] मनु द्वारा दूत के लक्षणो मे इन सब गुणो का आकलन हुआ है—

दूत चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम्।
इगिताकारचेष्टज्ञ शुचि दक्ष कुलोद्गतम् ॥
अनुरक्त शुचिर्दक्ष स्मृतिमान्देशकालवित्।
वपुष्मान्वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञ प्रशस्यते ॥[५]

तिरुवल्लुवर कहते हैं—'अन्यायपूर्ण एव विचारहीन शासन करने वाला नरेश धन एव प्रजा से वचित हो जाएगा।'[६] मनु का निम्नलिखित कथन ठीक इसी भाव की अभिव्यक्ति कर रहा है—

मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं य कर्षयत्यनवेक्षया।
सोऽचिराद्भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धव ॥[७]

तिरुवल्लुवर राजा को परामर्श देते है कि असीम दण्ड का भय दिखाकर भी मृदु-व्यवहार स्थायी समृद्धि प्रदान करता है।[८] मनु भी यही उचित मानते हैं—

तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च स्यात्कार्यं वीक्ष्य महीपति।
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति समत ॥[९]

इन उद्धरणो का अधिक विस्तार न करते हुए इनसे उपलब्ध निष्कर्ष पर विचार करें

---

१ कुरल ३९६।
२. मनुस्मृति, २।२१८।
३ कुरल ६९८।
४ तिरुक्कुरल, अध्याय ६९।
५ मनुस्मृति, ७।६३-६४।
६ कुरल ५५३।
७ मनुस्मृति, ७।१११।
८. कुरल ५६२।
९ मनुस्मृति, ७।१४०।

तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वल्लुवर और मनु अनेक विषयों पर समान दृष्टिकोण अपनाकर चले हैं। इसके मूल में एक ही परम्परा एव सास्कृतिक चेतना का प्रभाव है। यद्यपि अनेक भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने मनुस्मृति का तिरुक्कुरल पर प्रभाव स्वीकार किया है, परन्तु प्रस्तुत अध्ययन के अन्तर्गत इस प्रश्न का विवेचन लक्ष्य नहीं रहा। तिरुवल्लुवर ने मनु से कुछ प्रभाव ग्रहण किया अथवा स्मृतिकार ने तिरुवल्लुवर से कुछ प्रभाव ग्रहण किया, इससे साहित्य एव धर्म के विश्लेषण मे कोई अन्तर नही आता। सच तो यह है कि दोनों ही अपनी परम्परा एव सस्कृति से प्रभाव ग्रहण कर रहे हैं। प्रभाव-ग्रहण विषयक प्रश्न का निर्णय इतिहासकार करें, दोनों ग्रन्थों के साहित्यिक एव सामाजिक साम्य का उल्लेख इस अध्ययन की विषय-सीमा है।

तिरुक्कुरल एव कौटिलीय अर्थशास्त्रम्

अनेक विद्वानो ने यह मत अभिव्यक्त किया है कि तिरुक्कुरल ग्रथ के लिए तिरुवल्लुवर ने कौटिल्य के अर्थशास्त्र की सामग्री का उपयोग किया है। इनमें श्री आर० सी० मजूमदार, श्री नीलकण्ठ शास्त्री, श्री के० एस० रामास्वामी शास्त्री, श्री वी० आर० रामचन्द्र दीक्षितार, डा० पी० एस० सुब्रह्मण्यम् शास्त्री इत्यादि विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। श्री आर० सी० मजूमदार ने उल्लेख किया है कि लगभग समकालीन तमिल साहित्य मे वर्णित राज्य-गठन इत्यादि की सामग्री अर्थशास्त्र से मेल खाती है।[1] श्री नीलकण्ठ शास्त्री के मतानुसार राज्य (नाडु) के उपादानो के विषय मे तिरुवल्लुवर की धारणाए अर्थशास्त्र का पुनराख्यान हैं एव अनेक स्थलो पर उनमे अपेक्षाकृत अधिक स्पष्टता है।[2] श्री रामास्वामी आयगर का मत है कि 'यह स्मरण रहना चाहिए कि 'कुरल' मे मात्र दक्षिण-भारतीय सस्कृति के श्रेष्ठ अशो का ही सकलन नही अपितु इसमे उत्तर भारत के कौटिल्य-अर्थशास्त्र जैसे ग्रथो का निचोड भी ग्रहण कर लिया गया।'[3]

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि हमारे अध्ययन का लक्ष्य इस प्रकार के किसी प्रभाव का विवेचन करना नही अपितु तिरुक्कुरल एव कौटिलीय अर्थशास्त्र मे आए समान अभिव्यक्ति के कुछ अशो का उल्लेख करके दोनो ग्रन्थो के विचार-साम्य को प्रस्तुत करना मात्र है।

तिरुक्कुरल मे शक्ति (वलियरित्तल्), समय (कालम्अरित्तल्) एव स्थल (इटन् अरित्तल्) तीनो को समान महत्त्व प्रदान किया गया है। शक्ति, देश और काल का उल्लेख करते समय कौटिल्य भी यही भाव अभिव्यक्त करता है—'परस्पर साधका हि शक्तिदेशकाला'।[4] इसी प्रकरण मे वल्लुवर का कथन है—

दिन के समय उलूक पर (उससे दुर्बल) कौआ विजय प्राप्त कर लेता है। शत्रु पर विजय प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले सम्राट् के लिए तदनुकूल अवसर की आवश्यकता होती है।[5]

कौटिल्य द्वारा उल्लिखित निम्नलिखित मत इससे अद्भुत साम्य रखता है—

'काल. श्रेयानित्येके। दिवा काक कौशिक हन्ति, रात्रौ कौशिक काकम् इति।'[6]

---

१. The Political data supplied by presumably contemporary Tamil Literature tally with the Arthasastra
—*History and Culture of the Indian People*, Vol II, p 324

२. *The Cholas*, Nilakantha Sastri, p 79

३ *Studies in South Indian Jainism*

४ कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, ६।१३५-३६।४।

५ कुरल ४८१।

६ कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, ६।१३५-३६।३।

परन्तु कौटिल्य ने स्पष्ट किया है कि शक्ति देश और काल एक-दूसरे के पूरक हैं।

शिक्षा (कल्वि) के सदर्भ में वल्लुवर का कथन है—'आवश्यक विषयों का निर्दोष-पूर्ण अध्ययन करना चाहिए। तदनन्तर उनके अनुसार व्यवहार करने मे स्थिर रहना चाहिए।'[१] कौटिल्य का इस सदर्भ में कथन है—विद्यानां तु यथास्वमाचार्यप्रामाण्याद्विनयो नियमश्च।[२]

शक्ति का बोध (वलियरितल्) प्रसग मे वल्लुवर इच्छित कर्म की शक्ति, अपनी शक्ति, शत्रु की शक्ति तथा दोनो के सहायको की शक्ति को तोल कर ही कर्म मे प्रवृत्त होने का[३] परामर्श देते हैं। कौटिल्य का 'शक्तिदेशकाल बलाबल ज्ञान' प्रसग मे कथन है—'विजिगीषुरात्मन परस्य च बलाबल शक्तिदेशकालयात्राकालबलसमुत्थानकालपश्चातकोपक्षयव्यय-लाभापदा ज्ञात्वा विशिष्टबलो यायात्। अन्यथासीत।'[४] इसी सदर्भ में वल्लुवर आगे कहते हैं—अपने कर्म तथा उसके लिए आवश्यक बल को समझकर उस पर दत्तचित्त होकर दृढता-पूर्वक कार्य करने वाले के लिए कुछ भी असम्भव नही है।[५] कौटिल्य ने 'मन्त्रशक्ति श्रेयसी। प्रज्ञाशास्त्रचक्षुर्हि राजा अल्पेनापि प्रयत्नेन मन्त्रमाधातु शक्ते'[६] मे बुद्धि और शास्त्र तथा प्रयत्न करने पर अच्छी प्रकार अनुष्ठान करने का उल्लेख किया है। दत्तचित्त होकर दृढतापूर्वक कर्म में प्रवृत्त होना और अच्छी प्रकार अनुष्ठान करना एक ही स्थिति का द्योतन करने वाले प्रसग हैं।

'तेरिन्दु तेलित्तल्'—'विचारपूर्ण चुनाव' के अन्तर्गत वल्लुवर धर्म, अर्थ, काम व प्राणभय इन चारो का विचार करके ही किसी को कर्म के उपयुक्त मानने की बात कहते हैं।[७] कौटिल्य ने धर्मोपधा, अर्थोपधा, कामोपधा, एव भयोपधा इत्यादि चार परीक्षाओं का उल्लेख किया है। विस्तृत विवेचन करने के उपरान्त वह कहते हैं—

त्रिवर्गभयसशुद्धानमात्यान् स्वेषु कर्मसु।
अधिकुर्याद् यथाशौचमित्याचार्या व्यवस्थिता॥[८]

दूत के लिए वल्लुवर का कथन है कि मरण-सकट मे भी निर्भय हो अपने सम्राट् को श्रीसम्पन्न कराने वाला,[९] विज्ञ, निडर, हृदयबेधक वक्ता एव प्रत्युत्पन्नमति होना चाहिए।[१०] कौटिल्य ने इस विषय मे विस्तृत विवेचन किया है। एक स्थल पर आया है—शासन च यथोक्तं ब्रूयात प्राणाबाधेऽपि दृष्टे।[११] कुरलकार 'इरैमाट्चि'—'नरेश के गुणकर्म' के अन्तर्गत 'सैन्य, प्रजा, धन, अमात्य, मित्र एव दुर्ग—इन छः से युक्त राजा को राजाओ मे पुरुष-सिंह सदृश मानता

---

१ कुरल ३६१।

२ कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, २।४।३।

३ कुरल ४७१।

४ कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, ९।१३५-१३६।१।१।

५ कुरल ४७२।

६ कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, ९।१३५-१३६।१।३।

७ कुरल ५०१, ५१७, ५१८।

८ कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, १।५।६।२।

९ कुरल ६९०।

१० कुरल ६८६।

११ कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, १।११।१५।२।

है।[1] कौटिल्य कहते हैं—स्वाम्यमात्य जनपददुर्गकोशदण्ड मित्राणि प्रकृतयः।[2] तिरुवल्लुवर के अनुसार जिसके दर्शन सुलभ हो, जो कठोर वचन नही कहता हो, उस नृपति के राज्य की प्रशंसा होती है।[3] कौटिल्य का लगभग यही भाव इस कथन मे है—उपस्थानगत. कार्यार्थिनामद्वार-सङ्ग कारयेत्।[4] राजा के विशिष्ट गुणो में तिरुवल्लुवर बुद्धिमत्ता, दान और उत्साह,[5] सतर्कता, विद्या तथा निर्भीक-प्रकृति,[6] दान, दया, धर्म-नीति और प्रजा-सरक्षण[7] का उल्लेख करते हैं। कौटिल्य ने इन गुणो का अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से वर्णन किया है

'तस्मान्नित्योत्थितो राजा कुर्यादर्थानुशासनम्'।[8] के अतिरिक्त निम्न अश द्रष्टव्य हैं·

राज्ञो हि व्रतमुत्थान यज्ञ कार्यानुशासनम्।
दक्षिणा वृत्तिसाम्य च दीक्षितस्याभिषेचनम्॥
प्रजासुखे सुख राज्ञ प्रजाना च हिते हितम्।
नात्मप्रिय हित राज्ञ प्रजाना तु प्रिय हितम्॥[9]

राजा एव अधिकारी वर्ग के लिए तिरुवल्लुवर जिन दोषो से मुक्त रहने का उल्लेख करते हैं उनमे अभिमान, क्रोध, विषय-वासना, दानहीनता, अनुचित आनन्द, कृपणता इत्यादि महत्त्वपूर्ण हैं।[10] कौटिल्य ने इस विषय मे यही परामर्श दिया है—विद्याविनयहेतुरिन्द्रियजय, कामक्रोधलोभमानमदहर्षत्यागात्कार्य।

एक अन्य स्थल पर तिरुवल्लुवर ने कहा है—प्राप्ति का सुअवसर प्राप्त हो तो असम्भव कार्य भी उसी समय कर लेना चाहिए।[11] कौटिल्य का कथन 'यदा वा प्रयात कर्शयितुमुच्छेत्तु वा शक्नुयादमित्र तदा यायात्'[12] में अभिव्यक्त भाव भी यही सकेत देता है। सुशासन (चेंगोण्मै) के अन्तर्गत वल्लुवर कहते है—ब्राह्मण के ग्रन्थ एव धर्म का मूल आश्रय सम्राट् का राजदण्ड है,[13] कौटिल्य का कथन—'पवित्र मर्यादा में अवस्थित, वर्णाश्रम-धर्म से नियमित और त्रयी धर्म से रक्षित प्रजा दुःखी नहीं होती'[14] इसी भाव की अभिव्यक्ति भिन्न रूप मे करता है।

---

१. कुरल ३८१।
२ कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, ६।९६।१।२।
३ कुरल ३८६।
४ कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, १।१४।१८।१।
५ कुरल ३८२।
६ कुरल ३८३।
७ कुरल ३८०।
८ कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, १।१४।१८।१।
९ कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, १। १४।१८।४-५।
१०. कुरल ४३१,४३२, ४३८।
११ कुरल ४८९।
१२ कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, ६।१३५-१३६।१।६।
१३ कुरल ५४३।
१४ व्यवस्थितार्यमर्याद कृतवर्णाश्रमस्थिति।
त्रय्या हि रक्षितो लोक· प्रसीदति न सीदति॥ १।१।२।४।

इस प्रकार के अनेक प्रसंगों का संग्रह किया जा सकता है। इस संदर्भ में उल्लेखनीय साम्य को देखते हुए यह निष्कर्ष अनिवार्य है कि इसके मूल में चिन्तन-पद्धति का साम्य है। भारतीय चिन्ताधारा के इन दो महान् चिन्तकों ने बाद की परम्परा को अत्यधिक प्रभावित किया है। तिरुवल्लुवर सिद्धान्ततः 'अर्थ' को 'धर्म' द्वारा संचालित करते हैं, पर कौटिल्य में अर्थ को प्राथमिकता मिली है।

●

उपसंहार

सांस्कृतिक दृष्टि से भारत अखण्ड है। राष्ट्रीय एकता का आधार सांस्कृतिक एवं भावात्मक एकता हुआ करती है। भिन्नत्व में एकत्व का परिचय भारत-देश में वर्तमान परि-स्थितियो की अनिवार्य आवश्यकता है। भाषा, रचना-काल एवं भौगोलिक वैविध्य के होते हुए भी यदि दो कवियों—तिरुवल्लुवर एव कबीर—मे भाव-साम्य है तो यह स्पष्टत ही इस एकत्व का प्रत्यक्ष प्रमाण है। तिरुवल्लुवर ईसा की प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी मे हुए और कबीर मध्ययुग मे, परन्तु विभिन्न विषयो पर मूलत एक जैसी दृष्टि से प्रेरित ये दो महान् विभूतिया आज भी हमारा मार्ग-दर्शन करने मे सक्षम हैं।

तिरुवल्लुवर-काव्य आदर्श-समाज की कल्पना साकार करता है, कबीर-काव्य अपने युग के भ्रमित समाज का खण्डन कर कर्त्तव्याकर्त्तव्य एव औचित्य-अनौचित्य का संकेत देता है। तिरुवल्लुवर के समक्ष समाज का आदर्श-रूप विद्यमान है, उसमे जो काम्य नही, उसकी ओर उन्होने स्पष्ट सकेत किया। फलत तिरुवल्लुवर की दृष्टि मण्डनात्मक है, विधि और निषेध के प्रसग मे विधि प्रमुख है। यहा निषेध भी विधि की ओर इगित करता है। कबीर के काव्य मे मण्डन कम, खण्डन अधिक है। कारण, समाज मे व्याप्त अनाचार, विदेशी शासन के फलस्वरूप उत्पन्न अस्त-व्यस्त स्थिति एव सामाजिक विघटन मे विद्यमान है। कबीर के व्यक्तित्व मे व्याप्त फक्कड़पन, उनकी मस्ती, उनकी स्पष्ट चिन्तन-क्षमता ने समाज के इस रूप मे आवश्यक परिवर्तन लाने के लिए उन्हे प्रेरित किया।

सामाजिक वैषम्य, रूढ़िवादिता, बाह्य आडम्बर इत्यादि के विरुद्ध रणभेरी बजाने वाले सत कबीर की दृष्टि खण्डन की ओर अधिक उन्मुख हुई। दोनों कवियो का जीवन-वृत्त अनेक अनुश्रुतियो से आच्छन्न है, ये अनुश्रुतिया इन्हे जुलाहा-परिवारो से सम्बद्ध करती हैं, दोनो गृहस्थ थे, आदर्श गृहस्थ की कामना से प्रेरित। सन्यास अथवा ससार-त्याग के स्थान पर कर्मरत होकर भी सन्यासी के समान त्यागमय जीवन व्यतीत करते हुए ये दो मनीषी दो विभिन्न युगो में अनादि सत्य की उपासना में अनुरत रहे। सासारिक व्यवहारो का सम्यक् आचरण करते हुए भी 'स्थितप्रज्ञ' की उक्ति को चरितार्थ करने वाले ये दो महान् चिन्तक हमारी परम्परा की विशिष्ट अभिव्यक्ति करने में सलग्न रहे। तमिल-प्रदेश मे तिरुवल्लुवर के ग्रन्थ को शताब्दियो से वही सम्मान प्राप्त है जो उत्तर-भारत मे वैदिक-वाङमय को प्राप्त है। शिलप्पदिकारम्, मणिमेखलै, आलवार-सतो, कम्ब-रामायण एव वर्तमान कवियों—यथा सुब्रह्मण्यम् भारती तक में तिरुवल्लुवर द्वारा निर्दिष्ट सामाजिक मार्ग की स्वीकृति है।

एक ही ग्रथ में धर्म, अर्थ एवं काम—'पुरुषार्थत्रय' को प्रस्तुत कर तिरुवल्लुवर ने अभूतपूर्व सिद्धि प्राप्त की है। कबीर-काव्य आध्यात्मिक चिन्तन की दृष्टि से अधिक सम्पन्न है, उनकी वाणी सत्य की खोज मे लीन साधक की वाणी है। अन्य मध्यकालीन सतों के समान वे भी भावात्मक एकता की प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्नशील हैं। अल्लाह, राम, रहीम, इत्यादि

सभी नाम जिस सत्ता की ओर सकेत करते हैं, उस ईश्वर को धर्म एवं जाति की मान्यताओं के बंधन से मुक्त कराने का सत्प्रयास करने वाले कबीर 'मानव-बन्धुत्व' एवं 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के मार्ग को प्रशस्त कर रहे थे। तिरुवल्लुवर का आदर्श भी इसी विश्व-बधुत्व की स्थापना है परन्तु इसके लिए उनकी पद्धति तनिक भिन्न है।

धर्म के व्यक्ति-परक रूप के अन्तर्गत मन, वचन एव कर्म की पवित्रता का समावेश हो जाता है। दोनों कवियो की दृष्टि में इन्द्रिय-निग्रह, आत्म-सयम, सत्यभाषण, मृदुभाषण, मित-भाषण, मांसाहार-निषेध इत्यादि विभिन्न विषयो पर अद्भुत भाव-सादृश्य विद्यमान है। तद्विषयक अध्ययन से स्पष्ट है कि धर्म और मानव-सहानुभूति एव प्रेम-भाव के महत्त्व को दोनों कवि स्वीकार करते हैं। गृहस्थ के महत्त्व की स्वीकृति, और सन्यासी के लिए आदर्श-रूप में तप एव त्याग के सिद्धान्त मे दोनो एकमत हैं। समाजगत धर्माचरण अथवा लोकाचार सामाजिक मर्यादा की आवश्यकता है। इस सदर्भ मे भी अपरिग्रह, पर-निन्दा-त्याग, अक्रोध, पर स्त्री-वर्जन, बाह्य-आडम्बर विरोध इत्यादि अनेक विषयो पर दोनों के काव्य का भाव-साम्य निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है। यदि काल-भेद, भाषा-भेद एव स्थान-भेद के परिप्रेक्ष्य मे विचार करें तो यह साम्य अद्भुत है और इसके मूल मे भारतीय सास्कृतिक एकता विद्यमान है। ईश्वर, जगत् की नश्वरता और कर्म-सिद्धान्त के विषय मे विचारैक्य इस धारणा को सम्पुष्ट करता है। इस भाव-साम्य का अभिप्राय यह नही कि दोनो कवि एक ही कथन की आवृत्ति कर रहे हैं, इसका अभिप्राय इन कथनो के मूल मे निहित भाव में अवस्थित दृष्टिकोण का ऐक्य है।

अर्थ (पोरुल्) विषयक अध्ययन से स्पष्ट है कि इस विषय मे तिरुवल्लुवर एव कबीर की विवेचन-पद्धति भिन्न है। तिरुवल्लुवर क्रम-परम्परा-बद्ध विवेचन और काव्यत्व का सयोग कर आदर्श राजा, अमात्य, एव राज्य के अन्य अगों का उल्लेख करते हैं। कबीर-काव्य मे तद्-विषयक विवेचन अत्यल्प हैं और जो हैं भी, वे भिन्न सदर्भ मे। कबीर के लिए नाम-रूपात्मक जगत् के समस्त पदार्थों की नश्वरता अधिक महत्त्व रखती है। अपने युग के भ्रष्ट राजा एव अधिकारी-वर्ग के कारण कबीर आदर्श की कल्पना 'राम' के माध्यम से करते हैं। दोनो कवियो के काव्य के इस पक्ष के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि कबीर ने 'अर्थ' का सामान्य, प्रचलित रूप ग्रहण किया फलत उनकी तद्विषयक दृष्टि सीमित रही। तिरुवल्लुवर मे 'अर्थ' परम्परागत शास्त्रानुरूप अर्थ मे आया और इससे उनके काव्य में राज्य, अधिकारी-वर्ग, प्रजा एव अन्य सम्बद्ध विषयो पर विस्तृत विवेचन उपलब्ध है।

शृ गार-विषयक अध्ययन मे दोनो कवियो की दृष्टि का वैभिन्य द्रष्टव्य है। तिरुवल्लु-वर शुद्ध लौकिक, शरीरी शृङ्गार की अभिव्यक्ति कर रहे हैं। वे प्रिय-प्रिया का मिलन, आलिंगन, परिरभण, गन्धर्व-विवाह, वियोग, वियोग-जन्य व्याकुलता, स्वप्न मे प्रिय दर्शन, अग-सौन्दर्य-क्षति इत्यादि की अभिव्यक्ति अपने काव्य में इसी रूप मे करते हैं, अनेक भावना-पूर्ण शब्द-चित्रो के माध्यम से तमिल-प्रदेश के तत्कालीन प्रेम-सम्बन्धो की पद्धति एवं समाज मे युवा-वर्ग के शरीरी-सुख से उत्पन्न मानसिक उल्लास की अभिव्यक्ति इस सदर्भ मे हुई है। कबीर का प्रिय इससे नितान्त भिन्न अलौकिक परब्रह्म है, वहां की पद्धति भिन्न है, वहां केवल समर्पण है—मनसा, वाचा, कर्मणा समर्पण, किसी प्रतिदान की आकांक्षा नहीं। 'प्रिय को रिझाना' ही लक्ष्य है। कबीर के अलौकिक शृङ्गार के विस्तृत चित्रण में अप्रस्तुत रूप से कथित कुछ अंशों का सकलन कर तद्विषयक आधार का विश्लेषण किया गया है। यह अध्ययन दोनों कवियों के भाव-वैषम्य का प्रतिनिधित्व करता है।

काव्य में सामाजिक अभिव्यक्ति जीवन के सत्य की अभिव्यक्ति है। तिरुवल्लुवर एवं कबीर-काव्य में अभिव्यक्त समाज के चित्र निश्चय ही अभूतपूर्व हैं। सामाजिक विभाजन, भोजन-पान, शृङ्गार के लिए आभूषण एवं शृङ्गार-प्रसाधन, मांसाहार-निषेध, मद्यपान-निषेध, वेश्यावृत्ति इत्यादि विषयो का अध्ययन दोनो कवियो की दृष्टि के साम्य को उद्घाटित करता है। हमारे देश की अखण्ड संस्कृति मे व्याप्त जीवनसूत्र की एकता इस अध्ययन से और भी स्पष्ट होती है।

तिरुवल्लुवर के ग्रन्थ मे क्रमबद्ध विवेचन की शास्त्रीय शैली अपनाई गई है। कबीर में विवेचन का बिखराव उनकी विशिष्टता है। तिरुवल्लुवर के समक्ष एक समृद्ध समाज एवं सास्कृतिक परम्परा है, कबीर तक आते आते यह परम्परा भ्रमित और किंचित् अव्यवस्थित हो गई थी।

इस प्रकार प्रस्तुत शोध प्रबन्ध मे आधुनिक भारतीय भाषाओ मे एक ओर सर्वप्राचीन, दूसरी ओर सर्वव्यापक भाषाओं—तमिल और हिन्दी—के दो मूर्धन्य कवियो, तिरुवल्लुवर और कबीर को एक दूसरे के सन्दर्भ मे सास्कृतिक एकता की अपेक्षा से देखने का प्रयत्न किया गया है। देश, काल एव व्याकरण की दूरी पर अवस्थित इन दो साहित्यो मे इन प्रतिनिधियो के द्वारा जो साम्य अभिव्यक्त होता है वह भारतीय सस्कृति का मेरुदण्ड है, और जो यत्किंचित् अन्तर दृष्टिगत होता है वह युग एव परिवेश का सकेत-मात्र करता है।

इन दोनो कवियो के तुलनात्मक अध्ययन का यह प्रथम प्रयास है, यद्यपि अपनी-अपनी भाषाओं मे इन दोनो कवियो के अलग अलग अध्ययन विद्वानो ने अनेक दृष्टियो से किए हैं। इस शोध-प्रबन्ध मे विभिन्न भाषाओ (विशेषत तमिल और अंग्रेजी) मे उपलब्ध सामग्री के आधार पर नवीन परिप्रेक्ष्य में कबीर के साथ तुलना करके उनके कृतित्व का मूल्याकन एक विनम्र मौलिक प्रयास है। इस प्रबन्ध मे तटस्थ एव वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार कर साम्य-वैषम्य-विषयक विशिष्टता को सप्रमाण यथातथ्य प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है। इस अध्ययन से हम उत्तर एव दक्षिण की विचारधारा मे विद्यमान सास्कृतिक एव दार्शनिक एकता का अनुभव कर सकते हैं। एकता की यह अनुभूति सद्भाव एव राष्ट्रीय चेतना के सरक्षण एव विकास के लिए अनिवार्य आवश्यकता है।

सहायक ग्रन्थ-सूची

हिन्दी

आलोचना की ओर	डा० ओमप्रकाश
उत्तरी भारत की सत परम्परा	आ० परशुराम चतुर्वेदी
कबीर ग्रथावली	(सं) डा० श्यामसुन्दरदास
कबीर ग्रन्थावली	(स) डा० पारसनाथ तिवारी
कबीर दर्शन	डा० रामजीलाल 'सहायक'
कबीर की विचारधारा	डा० गोविन्द त्रिगुणायत
कबीर व्यक्तित्व, कृतित्व एव सिद्धान्त	डा० सरनामसिंह शर्मा
कबीर साहित्य की परख	आ० परशुराम चतुर्वेदी
कबीर साहित्य चिन्तन	आ० परशुराम चतुर्वेदी
कबीर	(स) डा० विजयेन्द्र स्नातक
कबीर	डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
कबीर मे रहस्यवाद	डा० रामकुमार वर्मा
कबीर की टीकाओ की दार्शनिक व्याख्या	डा० गिरीशचन्द्र तिवारी
कामायनी	श्री जयशकर प्रसाद
तामिल वेद	श्री क्षेमानन्द 'राहत'
तमिल साहित्य की रूपरेखा	श्री पूर्ण सोमासुन्दरम्
तमिल साहित्य और सस्कृति	श्री अवधनन्दन
तमिल और हिन्दी काव्य-शास्त्रो का तुलनात्मक अध्ययन	डा० न० स० राजगोपालन
तिरुक्कुरल	डा० सु० शकरराजू नायुडू
दक्षिण भारत का इतिहास	डा० बलराम श्रीवास्तव
धर्मशास्त्र का इतिहास	महामहोपाध्याय डा० पाण्डुरग वामन काणे, (अनु० अर्जुन चौबे कश्यप)
पुरुषार्थ	डा० भगवानदास
प्राचीन भारतीय संस्कृति	श्री बी० एन० लूनिया
प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन	डा० लक्ष्मीदत्त ठाकुर
प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थायें	डा० परमात्मा शरण
बिहारी	(सं) डा० ओम्प्रकाश
बिहारी रत्नाकर	श्री जगन्नाथदास रत्नाकर (१९२६ ई०)

बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन — डा० भरतसिंह उपाध्याय
भारतीय वाङ्मय — (स) डा० नगेन्द्र
भारतीय साहित्य दर्शन—तमिल साहित्य — (प्र०) दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा
भारतीय सस्कृति—एक समाजशास्त्रीय समीक्षा — श्री गौरीशंकर भट्ट
भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास — श्री भीखनलाल आत्रेय
भक्ति का विकास — डा० मुशीराम शर्मा
महाभारत-कालीन समाज — श्री सुखमय भट्टाचार्य (अनु० श्रीमती पुष्पा जैन)
मध्ययुगीन कृष्ण-काव्य मे सामाजिक अभिव्यक्ति — डा० हरगुलाल
महाभारत मे धर्म — डा० शकुन्तला रानी
वैदिक सस्कृति और सभ्यता — डा० मुशीराम शर्मा
सत कबीर — डा० रामकुमार वर्मा
सतों के धार्मिक विश्वास — डा० धर्मपाल मैनी
समाज—एक परिचयात्मक विश्लेपण — अनु० जी० विश्वेश्वरय्या
हिन्दी काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय — डा० पीताम्बरदत्त बड्थ्वाल (अनु० आ० परशुराम चतुर्वेदी)
हिन्दी मे निर्गुण काव्य-धारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि — डा० गोविन्द त्रिगुणायत
हिन्दी मे नीति-काव्य का विकास — डा० रामसरूप शास्त्री
हिन्दी साहित्य का इतिहास — आ० रामचन्द्र शुक्ल
हिन्दी साहित्य की भूमिका — डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास — डा० रामकुमार वर्मा
हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग ४ — (स०) आ० परशुराम चतुर्वेदी
हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास भाग ६ — (स०) डा० नगेन्द्र

तमिल

कम्बरामायण
तमिल लैक्सिकन
तमिल-इग्लिश-डिक्शनरी
तिरुक्कुरल पोरुतपालम्, कामत्तुपालम् — श्री टी० पी० एस० सुब्रह्मण्य शास्त्री
तिरुक्कुरल इनबम् — श्री शुद्धानन्द भारती
तिरुक्कुरल चोल्लाटेवु — श्री स्वामी वेलायुतम् पिल्लै
तिरुक्कुरल — तिरुवाचकमणि के० एम० बालसुब्रह्मण्यम् (अग्रेजी अनु० सहित)
तिरुक्कुरल — एलिस (अग्रेजी टीका सहित)
तिरुक्कुरल — प्रो० ए० चक्रवर्ती (अग्रेजी अनु० सहित)
तिरुक्कुरल उरैक्कोत्तु अरत्तुपाल — श्री पत्तुसामी ओतुवर
तिरुक्कुरल पोरुल् विलक्कम् — श्री रामस्वामी पिल्लै
तिरुक्कुरल एनबवु — श्री रामलिंग मुदलियार
तिरुक्कुरल विलक्क कथैहल — श्री कामस्वामी पुलवर (इनियम)
तिरुक्कुरल कुमरेच वेण्बा अरत्तुपाल — (हस्तलिखित तंजौर० क्र० स० १८६०)

तिरुक्कुरल मूलमुम् परिमेलकरैयुम	(हस्तलिखित तंजौर० क्र० सं० २६६)
तिरुवल्लुवर-तिरुक्कुरल उरैवलम्	
(१) अरत्तुपाल	स० स० दण्डपाणि देसिकर
(२) पोरुलपाल	स० स० दण्डपाणि देसिकर
(३) कामत्तुपाल	सं० स० दण्डपाणि देसिकर
तिरुवल्लुवर-तिरुक्कुरल अरत्तुपाल	श्री टी० दण्डपाणि पिल्लै
तिरुवल्लुवर-तिरुक्कुरल कामत्तुपाल	
कलिंजर उरै	स० श्री टी० पी० पलनियप्पा पिल्लै
तिरुवल्लुवर कृत तिरुक्कुरल	प्रो० सु० शकरराजू नायुडू (हिन्दी अनु० सहित)
तिरुवल्लुवर काव्यम्	श्री कृष्णस्वामी नायडू
तिरुवल्लुवर-वाळक्कै विल्लक्कम्	श्री मु० वरदराजन
तिरुवल्लुवमालै	(हस्तलिखित, तजौर क्र० स० १३१)
तोलकाप्पियम्	
माणक्कुडवर उरैयुम	स० के० पोन्नुस्वामी नाट्टार
मणिमेखलै	
वल्लुवर वळिप्पयणम्	तिरु वी० मुनिस्वामी
वल्लुवरुम महलिरुम	प्रो० टी० पी० मीनाक्षीसुन्दरनार
वल्लुवर अरम्	श्री नटेश मुदलियार
वल्लुवर विरन्दु	जी० सुब्रह्मण्य पिल्लै
शिलप्पदिकारम्	
कलित्तोहै	
पुरनानूरु	
परिपाडल्	

संस्कृत

अथर्ववेद सहिता	सायण भाष्य
अथर्ववेद सहिता	(भाष्य०) प० जयदेव शर्म्मा
अमरुशतकम्	(स०) महामहोपाध्याय प० दुर्गाप्रसाद एव काशीनाथ पाडुरग (१९०० ई०)
अत्रि स्मृति	
आपस्तम्ब धर्मसूत्रम्	(व्या०) डा० उमेशचन्द्र पाण्डेय
आर्या सप्तशती	(स०) महा० प० दुर्गाप्रसाद काशीनाथ पाडुरग (१८९५)
ईशावास्योपनिषद्	गीता प्रेस
उत्तरराम चरितम्	
ऋग्वेद सहिता	(भाष्य०) प० जयदेव शर्म्मा
ऐतरेय उपनिषद्	गीता प्रेस
कठ उपनिषद्	गीता प्रेस

कामसूत्रम् भाग १, २.	(व्या०) श्री माधवाचार्य लक्ष्मी वेन्केटेश्वर स्टीम प्रैस (१९३४ ई०)
कामसूत्रम	(व्या०) श्री देवदत्त शास्त्री
कौटिलीय अर्थशास्त्रम्	(व्या०) वाचस्पति गैरोला
गाथा सप्तशती	(व्या०) प० दुर्गाप्रसाद (१८८९ ई०)
गौतम धर्मसूत्र	
तैत्तिरीयोपनिषद्	गीता प्रैस
दक्षस्मृति	
धर्मशास्त्र	(स०) श्री मन्मनाथदत्त (१९०८ ई०)
पाराशर स्मृति	
बोधायन स्मृति	
बीस स्मृतिया	(व्या०) श्रीराम शर्मा आचार्य
महाभारत	(स०) श्री विष्णु सुकथकर, एस० के० बेलवलकर (भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट)
भर्तृहरि वैराग्य शतक	
भर्तृहरि शृंगार शतक	
भर्तृहरि नीति शतक	
महाभारत	अनु० प० रामनारायणदत्त शास्त्री (गीता प्रैस)
माण्डूक्य उपनिषद्	गीता प्रैस
मुण्डक उपनिषद्	गीता प्रैस
याज्ञवल्क्य स्मृति	(स०) डा० उमेशचन्द्र पाण्डेय
याज्ञवल्क्य स्मृति (मिताक्षरा सहित)	(स०) वासुदेवलक्ष्मण शास्त्री पणशीकर (१९०९ ई०)
यजुर्वेद संहिता	(भाष्य०) प० जयदेव शर्मा
रघुवंश	
बृहदारण्यक उपनिषद्	गीता प्रैस
वसिष्ठ स्मृति	
वेदव्यास स्मृति	
वाल्मीकि रामायण	
विदुर नीति	गीता प्रैस
शुक्रनीति	(व्या०) प० ब्रह्मशंकर मिश्र
श्रीमद्भागवत पुराण	
श्रीमद्भगवद् गीता	(व्या०) प० श्री० दामोदर सातवलेकर
सामवेद संहिता	(भाष्य०) पं० जयदेव शर्म्मा
सर्वदर्शन संग्रह.	श्री उमाशंकर शर्मा
हारीत स्मृति	

ENGLISH

A History of Tamil Language and Literature (Beginning to 600 A D)	Vaiyapuri Pillai, S. Prof.
A History of Tamil Literature	Meenakshisundaran T. P.
A History of Tamil Language	Meenakshisundaran T. P.
A History of Tamil Literature	Jesudasan, C. & Jesudasan, Hephazibah.
A Primer of Hinduism	Farquhar, J. N. (1914 Ed.)
A Study of the Bhagvata Purana	Sinha Purnendu Narayan
Ancient India	Radha Kumud Mookerji
An Introduction to the Study of Tiruvalluvar	Duraiswamy, Pillai S. Avvai, Prof.
Ancient India and South Indian History and Culture	Krishnaswami Aiyangar, S Dr.
A History of South India	Sastri, Nilakantha K. A.
A Literary History of India	Frazer, R. W. (1898 Ed)
A Source-book in Indian Philosophy	Radhakrishnan S. Dr
A New History of Indian People (Vol VI)	Majumdar, R. C Dr & Altekar, A S. Dr.
An Outline of the Religious Literature of India	Farquhar J. N. (1920 Ed.)
Comparative Grammar of Dravidian Languages	Caldwell
Contemporary Indian Philosophy	Ed Radhakrishnan, S. & Muirhead, J. H.
Critical Studies in the Kural	Purnalingam, M S Prof.
Development of Moral Philosophy in Indian	Das Gupta Surama
Ethics	Prince Kropotkin.
Fundamentals of Hindu Faith and Culture	Aiyar C. P Ramaswami Dr.
Gleanings of Tamil Culture	Prainasivandam, A M
History of Tamil Language from the Earliest times to 600 A D	Srinivasa Ayyangar, P T.
History of and Culture of the Indian People (Vol II)	Majumdar R. C. Ed.
History and Culture of Indian People	Dalvi, D. A, Mahadevan, V etc:
Historical Tamil Reader	Subrahmanya Sastri, P. S.
History of Dharamsastra	Vaman Kane, P.
History of Tamil (2 Vols.)	Srinivasan Pillai. K. S.
Hindu Social Organisation	Prabhu, P. H.
Indian Thought Through the Ages	Gokhale, B. G.
India's Past	Macdonnell, A. A.
India-A Short Cultural History	Rawlinson, H. G.
Indian Philosophy	Radhakrishnan, S. Dr.
Indian Thought and its Development	Albert Schweitzer (1951 Ed.)
Indian Wisdom	Monier Williams (1876 Ed.)

Kabir and his Followers	Keay, F. E. Rev. (1931 Ed.)
Kamban's Treatment of Tiruvalluvar	Kamala T. S.
Kabir and the Kabir Panth	Westcott, G. H. Rev (1907 Ed)
Medieval Mysticism of India	Khshitimohan Sen
Manual of Psychology	Stout
On Virtue	Ellis F W
On Society	Harrison Fredrick
One Hundred Poems of Kabir	Tr Tagore Rabindra Nath
Prof T P Meenakshisundaran Sixty-first birthday Commemoration Volume	Annamalai University
Philosophies of India	Heinrich Zimmer
Rigveda Sanhita	Tr Wilson H H
Sangam Polity	Subrahmanian, N
Society	Maciver, R M , Charles, H
Some Contributions of South India to Indian Culture	Krishnaswamy Ayvangar, S Dr
Sources of Indian Tradition	William Theodore de Bary & others (Compiled by)
Some Milestones in the History of Tamil Literature	Sundaram Pillai, P Prof
Studies in South India Jainism	Ramaswamy Ayyangar M S (1922 Ed)
Studies in Ancient Hindu Polity (Vol I)	Narendra Nath Law (1914 Ed)
Studies in Kurral	Sethu Pillai, R
Sukraniti	Sarkar Benoy Kumar (1914 Ed)
Two Thousand Years of Tamil Literature-An Anthology	
The Religion of India	Berth, A
The Gita Idea of God	Gitanand Brahmachari
The Heart of India	Barnett, L D
The Hindu View of Life	Radhakrishanan S Dr
Tamil Literature	Purnalingam Pillai, M S
Tamilnad Through Ages	Paramasivanandam, A M
Tamil Wisdom	Robinson, E J
Tamil India	Purnalingam Pillai M S
The Cholas	Sastri Nilakantha
The Dharma Sastra Vol I, Vol II	Dutt Manmatha Nath (1909 Ed)
The Principal Upanisads	Radhakrishnan S Dr
The Mahabharata	(Ed.) Sukhankar Vishnu Belvalkar S K
The Tamil Plutarch	Simon Casie Chitty
The Pageant of India's History (Vol 1)	Gerturude Emerson Sen
The Sacred Book of Kural	Rajgopalachari, C
The Kural	Lazarus, Dr
Tirukkural of Tiruvalluvar	Ramachandra Dikshitar, V
Tiruvalluvar's Tirukkural	Rajgopal Aiyangar, M. R
Tirukkural	Tr. Pope, Drew, Lazarus, Ellis

The Complete Works of Swami Vivekananda (Vol. V)
The Pageant of Tamil Literature — **Meenakshisundaranar, T. P.**
The Mind and Thought of Tiruvalluvar — **Appadurai, K.**
The Kural or the Maxims of Tiruvalluvar — **Tr Aiyar, V. V. S.**
The Sacred Kural or the Tamil Veda of Tiruvalluvar — **Tr. Popley, H A.**
The Tamils 1800 Years Ago — **Kanakasabhai, V.**
The Sacred Books of the Hindus Vol I
(The Upanisads) — Vasu Srisa Chandra (1909 Ed)
The Message of the Gita — Sri Aurobindo, Ed. Roy Anilbaran

Annals of Oriental Research Institute
All India Oriental Conference, 1955
A Sanskrit English Dictionary — Monier Williams, Sir.
Cyclopaedia of India — Edward Balfour S. G. (Ed)
Concept and Structure of Poetry
in Tholkappiyam — Shakaranarayanan (Typed thesis, Univ of Madras)
Dravidic Studies (Article by) — Anavaratavinayakam, S
Encyclopaedia of Religion and Ethics — Ed James Hastings
Indian Antiquary Vol XXXVII — Richard Carnac Temple Bart, Sir (Ed)
Journal of Oriental Research.
Sanskrit English Dictionary — Gode P K & Karve C. G
Studies in Silappathikaran — Shanmughan Pillai, M (Typed thesis, Annamalai University)
Tamil Culture
The Madras Christian College Magazine — Old and New Series
The Tamilian Antiquary
The Journal of Royal Asiatic Society
Union for the Study of the Great
Religions (India) : — Seminar Reports (Bangalore & Madras)

●